प्रेम-योग

[मोहन-निवासकी प्रथम स्मृति]

वियोगी हरि

पता—

गीताप्रेस,

गोरखपुर

प्रथम संस्करण

५०००

मूल्य १।)

सजिल्द १॥)

प्रकाशक तथा मुद्रक

घनश्यामदास,

गीताप्रेस, गोरखपुर

विषय-सूची

पहला खण्ड

दूसरा खण्ड

श्रीहरिः

प्रकाशकका निवेदन

श्रीवियोगी हरिजीका नाम हिन्दी-संसारमें सुपरिचित है। आज आपकी एक बहुत ही सुन्दर रचना हिन्दी-संसारके सामने उपस्थित की जाती है। इससे प्रेमका ऊँचा स्वरूप लोगोंकी समझमें आ सकेगा। आजकल प्रेमके पवित्र नामपर कामकी जो कलङ्कित क्रीड़ा हो रही है, आशा है उसमें इससे कुछ बाधा पहुँचेगी। जहाँतक मेरा अनुमान है हिन्दीमें इससे पूर्व प्रेम-सम्बन्धी ऐसा कोई भी संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ है, अतएव हिन्दी समझनेवाले प्रेमीमात्र इसे अपनावेंगे, ऐसी आशा है।

पुस्तक बत्तीस पाउण्डके मोटे ऐण्टिक कागजपर चारों ओर अच्छी जगह छोड़कर छापी गयी है, जिससे मूल्य कुछ अधिक हो गया है। परन्तु ग्रन्थकी उपादेयता देखते इतना मूल्य लोगोंको खटकेगा नहीं। छपाईमें कुछ भूलें रह गयी हैं। जिनको सुधारकर पढ़ना चाहिये। आगामी संस्करणमें भूलें सुधारनेका विचार है।

विनीत,

घनश्यामदास,

प्रकाशक

श्रीहरिः

प्रेम-प्रस्तावना

मेरे प्यारे राम ! तेरी यह भी एक मरज़ी थी । तूने मुझे राज़ी करा ही लिया । जैसा जो कुछ बना, तेरी आज्ञाका पालन किया और करूँगा । यंत्रके सारे पुर्ज़े यंत्रीके हाथमें हैं ही । फिर यह कैसे हो सकता था, कि मैं तेरी रज़ामें राज़ी न होता ? पर, कृपानिधान ! अब कभी ऐसी आज्ञा न देना, अनधिकार कार्य इन हाथोंसे न कराना । भला, प्रेमका तत्त्व मैं क्या समझूँ ? तेरे इश्क़के कूचेमें जिसने कभी भूलकर भी पैर नहीं रखा, जिसके हृदयमें आजतक तेरी चुभीली लगनकी हूक नहीं उठी, उसे तू आज्ञा देता है कि, ला, प्रेमकी पीरकी एक तसवीर खींचकर दिखा ! तेरी आज्ञा, प्यारे, कैसे टालता ? लो, खींच दी है इश्क़-की कसक-कहानीकी एक टेढ़ी-मेढ़ी तसवीर ! इधर-उधरसे कच्चे-पक्के रँग जुटाकर कुछ अंटसंट लकीरें-सी खींच दी हैं । मेरे हृदयरमण राम !

तू भले ही मेरी इस भोंड़ी चित्रकारीपर रीझ जाय, पर कोई और चित्र-रसिक मुझे इसपर कभी दाद न देगा।

किसी भी बहाने सही, तेरी प्यारी याद तो आ गई। इतना समय तो सफल हो गया, क्योंकि मैं समझता हूँ, कि—

शब वही शब है, दिन वही दिन है;
जो तेरी यादमें गुज़र जाये।

मुश्किल है, प्यारे, तेरी अनोखी यादमें ज़िन्दगीका गुज़र जाना। और भी कठिन है तेरे प्रेमकी पीरमें तड़प-तड़पकर अपनेको कैदेहस्तीसे छुड़ा लेना। दुर्लभ है, प्रेम दुर्लभ है। लेन-देनके बाज़ारमें प्रेम मिलेगा कहाँ? नाथ! ये लोभी सौदागर प्रेमके नामपर न जाने आज यह क्या बेच रहे हैं! यह क्या कमीना रोज़गार फैला रखा है इन लोगोंने! यह सब अब देखा नहीं जाता। जी रह-रहकर घबरा उठता है। कहाँ जाऊँ, कहाँ रहूँ, क्या करूँ? हा!

मैं कहाँ रहूँ, मैं कहाँ बसूँ,
न यह मुझसे खुश, न वो मुझसे खुश।
मैं ज़मींकी पीठका बोझ हूँ,
मैं फ़लकके दिलका गुबार हूँ।

इसीलिए मैं आज ज़मीनकी पीठपरका भार हो रहा हूँ, कि मुझसे, मेरे प्यारे, तेरे पवित्र प्रेमकी विडम्बना अब देखी नहीं जाती। इन दूकान-

दारोंने विज्ञापन तो चिपका दिया है तेरे चोखे प्रेमका और बेच रहे हैं काम-वासनाका पालिश किया हुआ खोटा मोह ! इस मोहिनी हाटमें, नाथ, तेरे सच्चे प्रेमकी आज खिल्लियाँ उड़ाई जा रही हैं! सच कहता हूँ, तेरी आज्ञासे जो मैंने यह चित्र खींचा है इसे इस बाज़ारमें कोई पूछेगा भी नहीं। तुझसे छिपा ही क्या है, तू देख तो रहा है, तेरे इस ग़ुलाम चितेरेकी आज क्या हालत हो रही है। हाँ, सच तो है, प्यारे!

मेरा हाल क़ाबिलेदीद है,
कि न आस है न उमीद है;
मेरी घुटके हसरतें मर गईं,
मैं उन हसरतोंका मज़ार हूँ।

पर यह कुछ बुरा नहीं हुआ, अच्छा ही हुआ। क्या करता उन मनचली हसरतोंको लेकर। बला टली, जो वे घुट-घुटकर योंही ख़त्म हो गई। अब सब ठीक है। न कोई अब मेरी ओर देखता ही है और न पूछता ही है। बस, अब एक ही हसरत बाक़ी रह गई है—वह तुझे जीभर देखनेकी। तू मिल गया तो जग मिल गया।

मेरे प्यारे राम! मेरे दुलारे कृष्ण! दिखा दे न अपने प्रेमका वह अखंड नूर, जिससे हृदयकी कमल-कलियाँ खिल उठें। ये अधीर आँखें तेरे प्रेम-स्वरूपको, बस, उस प्रकाशमें एकटक देखती ही रह जायँ। रग-रगमें प्रीतिकी विद्युत्-धारा बहने लगे। काम-वासनाओंका

आत्यन्तिक ध्वंस हो जाय । और, अनन्त मधुमय आकाशमें मेरे ये प्राणपक्षी विहार करने लग जायँ । कैसा होगा तेरा वह परम प्रेम ! कैसी होगी, प्यारे, तेरी वह मधुरा रति ! यदि उस अनुपम रसास्वादन-का तू मुझे तनिक भी अनुभव करा दे, तो फिर मेरा यह 'क़ाबिलेदीद हाल' न जाने क्या हो जाय ! अरे, यह सब मैंने क्या बक डाला ! यह प्रस्तावना चित्रकी हुई या चित्रकारकी ? क्षमा करें मेरे सहृदय प्रिय पाठकगण ! उस हृदयके हठीले रामसे, उस दिलके खेलाड़ी कृष्णसे ज़रा झगड़ना था, इसीलिए कुछ बक-झक करनी पड़ी । क्या करूँ, भाई, आदतसे लाचार हूँ । मन स्थिर नहीं है । चित्त बड़ा चुलबुला है । कुछ करना चाहता हूँ, कुछ हो जाता है । इसीसे तो मैं प्रेम-जैसे विमल विषयपर कुछ कहनेका अधिकारी नहीं हूँ । यह तो एक बेगारका काम किया है । उस लाड़ले खेलाड़ीकी मरज़ी ! जो कराना चाहता है, वह ज़बरदस्ती बेगारमें करा लेता है । सनकी है न वह हठीला राम । मेरे हाथों प्रेमकी दुर्गति करा डाली । लो, इसीमें उस प्यारे खेलाड़ीको मज़ा आ गया ।

हाँ, प्रेमकी यह दुर्गति नहीं है तो क्या है ? कुछ भी हो, अनधिकार चेष्टाके महान् अपराधसे मैं अपनेको बरी समझता हूँ । मान लो, कि मैं कभी अपराधी ही ठहराया गया, तब भी मेरा कुछ बिगड़ता नहीं, क्योंकि मेरे इस अपराधका उत्तरदायी वही प्यारा न्यायाधीश है । अपने इस प्रेमयोगको वह हज़रत ज़ब्त तो करेंगे नहीं । यदि ऐसा

किया तो फिर वह खुद ही फँसे ! जो हो, मैं तो कर गुज़रा। 'प्रेमयोग' की यह एक अजीब-सी तसवीर खींचकर दुनियाके आगे आज रख दी है। अब जिस क़िस्मसे उलझना या सुलझना होगा, प्रेमीजन उलझ-सुलझ लेंगे।

मेरे प्यारे कृष्ण! मेरा नाता तो एक तुझसे है। जगत्की आलोचना-प्रत्यालोचनासे मेरा कोई प्रयोजन नहीं। मेरा तो बस एक तू है--

है ख़ौफ़ अगर जी में तो है तेरे ग़ज़बका ;
औ, दिलमें भरोसा है तो है तेरे करमका।

बस, अब और क्या कहूँ !

मोहन-निवास,
पन्ना
पौष, सं० १९८६

वियोगी हरि

ॐ
संघी मोतीलाल मारू.

त्वदीयं वस्तु गोविन्द !

तुभ्यमेव समर्पये ।

प्यारे भाइयो,

तुम्हारे हाथोंमें अपने इस प्यारे प्रेम-योगको
मैं इसीलिए सौंप रहा हूँ कि,

'प्रेम ही परमात्मा है'

इस महान् सत्यका साक्षात्कार करते समय
तुम्हें यह कुछ योग दे सके।

सप्रेम

वियोगी हरि

पहला खण्ड

श्रीहरिः

प्रेम-योग

प्रेम

जाकों लहि कछु लहनकी चाह न हियमें होय।
जयति जगत-पावन-करन 'प्रेम' बरन यह दोय॥

—हरिश्चन्द्र

जय हो इन दो दिव्य वर्णोंकी! जय हो इस अनिर्वचनीय प्रेमकी! जिसे पाकर सचमुच फिर किसी अन्य वस्तुके पानेकी लालसा इस अतृप्त हृदयमें नहीं रह जाती, जिस चाहसे इस लालची दिलकी सारी चाह सदाके लिए चली जाती है, उस जगत्पावन प्रेमकी जय हो, जय हो!

मेरी यह ढिठाई ! मेरी ये अनाड़ी उँगलियाँ आज उस अव्यक्त प्रेमकी मधुर स्मृतिका एक सर्वाङ्ग सुन्दर चित्र खींचनेको अधीर हो रही हैं ! उसकी तसवीर ये कैसे उतार सकेंगी। किस चतुर चितेरेकी कलाने उस चित्रके खींचनेमें सफलता पायी है ?

> लिखन बैठ जाकी सवी, गहि-गहि गरव गरूर।
> भये न केते जगतके, चतुर चितेरे कूर॥
>
> —विहारी

या किस कविके शब्दोंने उसपर अपनी प्रतिभाका प्रकाश विखेरकर उसे रस-विभोर किया है ? प्रेमकी रचना कौन रचेगा और उसे कौन पढ़ेगा ! यह सब जानते हुए भी जी नहीं मानता, कुछ-न-कुछ कहनेको व्याकुल हो रहा है। यह निरा पागलपन नहीं तो फिर क्या है ?

प्रेमकी परिभाषा क्या है ? परिभाषा-परिभाषाएँ एक नहीं, अनेक हैं, पर वे सब हैं अधूरी ही। पूरी परिभाषा तो अबतक कहीं मिली नहीं—

> उलटा-पलटी करहु निखिल जगकी सब भाषा।
> मिलहि न पै कहुँ एक प्रेम-पूरी-परिभाषा॥
>
> —सत्यनारायण

पूरी परिभाषा मिल ही कहाँ सकती है। वाणी या भाषाका विषय तो प्रेम है नहीं। वह तो एक अनुभवगम्य वस्तु है। सहृदय

सत्यनारायणने कहा है, कि प्रेम-स्वाद अवर्णनीय है, गूँगेका-सा गुड़ है—

जानत सब कछु प्रेम-स्वादु मुख बरनि न आवतु।
जदपि परम बाचाल मूक बनि भाव बतावतु॥
विद्या-बस लखनिके भेद-प्रभेद बताये।
गूँगेकौ गुर खाय जगत बैठ्यौ सिर नाये॥

ब्रह्म भी मन-वाणीसे परे है और प्रेम भी अनिर्वाच्य है। परमभागवत नारदने अपने 'भक्ति-सूत्र' में प्रेमकी अनिर्वचनीयताका समर्थन किया है। लिखा है—

अनिर्वचनीयम् प्रेमस्वरूपम्।

तथैव—

मूकास्वादनवत्।

तो फिर ब्रह्म और प्रेममें अन्तर ही क्या रहा ? कौन कहता है, कि इनमें अन्तर है ? अन्तरका लेश भी नहीं है, एक ही वस्तुके दो नाम हैं। रसिक-वर रसखानिका प्रमाण लीजिए—

प्रेम हरी कौ रूप है, त्यों हरि प्रेम-स्वरूप।
एक होय द्वै यों लसैं, ज्यों सूरज अरु धूप॥

इसपर सहृदय सत्यनारायणका समर्थन—

निरत विचारन-जोग रुचत उपदेस यही उर।
परमेसुरमय प्रेम, प्रेममय नित परमेसुर॥

मीरसाहब भी यही बात कह रहे हैं—

तू न होवे तो नज़्म कुल उठ जाय ।
सच्चे हैं शायरां, ख़ुदा है इश्क़ ॥

इश्क़ ही ख़ुदा है । प्रेम ही परमात्मा है । इसमें सन्देह नहीं, कि—

Love is God and God is love.

प्रेम ही ईश्वर है और ईश्वर ही प्रेम है ।

× × × ×

तदपि कहे बिन रहा न कोई ।

फिर भी प्रेमियोंने प्रेमकी परिभाषाएँ—अधूरी ही सही—किसी-न-किसी रूपमें व्यक्त की हैं । कुछ-न-कुछ तारीफ़ तो इश्क़की होनी ही चाहिए । प्रेमोन्मत्त नारदने प्रेमकी कुछ ऐसी परिभाषा, भक्ति-सूत्रमें, की है—

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्ध-
मानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ।

अर्थात्, प्रेमका रूप गुणोंसे रहित है, कामनाओंसे रहित है, प्रतिक्षण बढ़नेवाला है, एकरस है, अत्यन्त सूक्ष्म है और केवल अनुभवगम्य है ।

बिल्कुल यही बात रसिकवर रसखानिने कही है—

बिनु गुन जोबन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जानि ।
सुद्ध कामनातें रहित, प्रेम सकल-रसखानि ॥

अति सूच्छम, कोमल अतिहि, अति पतरो अति दूर ।
प्रेम कठिन सबतें सदा, नित इकरस भरपूर ॥

अकारण, एकांगी और एकरस अनुराग ही प्रामाणिक प्रेम है। ऐसा प्रेम स्वाभाविक, स्वार्थ-विरहित, निश्चल, रसपूर्ण और विशुद्ध होता है—

इक अंगी, बिनु कारनहिं, इकरस सदा समान ।
गनै प्रियहिं सर्वस्व जो सोई प्रेम प्रमान ॥
रसमय, स्वाभाविक, बिना स्वारथ, अचल, महान ।
सदा एकरस, सुद्ध सोइ, प्रेम अहै रसखान ॥

प्रेमको हम किस रसमें लें, किस भावमें गिनें? जैसे समुद्रमें लहरें उठतीं और उसीमें लय हो जाती हैं, वैसे ही प्रेममें सर्व रस तथा सर्व भाव तरंगित होते रहते हैं—

सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा एव वारिधौ ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेमसंज्ञकः ॥

कुछ समझमें नहीं आता, कि इस अव्यक्त रस-भाव-कल्लोलको क्या नाम दिया जाय। प्रेमका समुद्र कैसा अगाध, कैसा असीम और कैसा अनुपमेय है!

प्रेम अगम, अनुपम, अमित, सागर सरिस बखान ।
जो आवत यहि ढिग बहुरि जात नहीं रसखान ॥

प्रेम-पयोधिसे लौटना कैसा! यहाँके डूबे हुए यहीं उछल-

कूद करते रहेंगे—जायँगे कहाँ ? वह 'इन्द्रावती'-प्रणेता प्रेमी नूरमुहम्मद क्या अच्छा कह गया है—

प्रेम-समुद्र अथाह है, बूड़े मिलै न अन्त ।
तेहि समुद्रमें हौं परा, तीर न मिलत तुरन्त ॥

× × × ×

करुणरसाचार्य महाकवि भवभूतिने प्रेमका चित्राङ्कण इस प्रकार किया है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरया यस्मिन्नहार्यो रसः ।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं ,
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥

कवि-रत्न सत्यनारायणका भाषा पद्यानुवाद—

सुख-दुखमें नित एक, हृदय को प्रिय विराम-थल ;
सब विधिसों अनुकूल, विसद छल्छनमय अविचल ।
जासु सरसता सकै न हरि कबहूँ जरठाई ;
ज्यों-ज्यों बाढ़त सघन सघन सुन्दर सुखदाई ।।
जो अवसरपर संकोच तजि परवत-द्द, अनुराग-सत ;
जग-दुर्लभ सज्जन-प्रेम अस बड़भागी कोऊ लहत ॥

वास्तवमें, इस पराभूत, परिश्रान्त हृदयका विश्रान्ति-स्थल एक प्रेम ही है । आत्माके अनुकूल केवल एक प्रेम ही है । आत्मा स्वतः प्रेम-स्वरूप है । संसारमें अत्यन्त उज्ज्वल और अतिशय पवित्र

प्रेम ही है। और सब अनित्य है, प्रेम ही नित्य है। ध्रुवके समान अचल है। उसे हम अजर-अमर क्यों न कहें। जो रस-रूप है, आनन्दघन है, वही प्रेम परमात्मस्वरूप है। पर ऐसा विशुद्ध प्रेम यहाँ दुर्लभ है। कहाँ हैं उसके अनन्य अधिकारी यहाँ!

भवभूतिकी यह प्रेम-परिभाषा बड़ी सुन्दर है। कविने प्रेमानुभव समझानेकी अच्छी चेष्टा की है और उसे इसमें सफलता भी मिली है। ख़ासी विस्तृत परिभाषा है। पर इश्क़की दुनियामें कुछ ऐसे भी मस्त हो गये हैं, जो अपना प्रेमानुभव कहनेको जैसे-तैसे खड़े तो हुए, पर ठीक-ठीक कुछ कह न सके, यों ही कुछ कहकर रह गये। ग़ालिबको ही लीजिए। कहते हैं—

शायद इसीका नाम मुहब्बत है शेफ़ता,
एक आग-सी है दिलमें हमारे लगी हुई।

मालूम नहीं, यह क्या है। दिलमें आग-सी लगी हुई है। क्या इसी 'आग-सी लगनेका' नाम ही लगन है? मुहब्बत शायद इसीको कहते होंगे। हम यह नहीं कहते, कि दिलमें आग लगी है। आग तो नहीं है, पर कुछ आग-सी लगी है। न जाने, यह क्या बला है।

आनन्दघन भी कुछ ऐसी ही बात कह रहे हैं—

जबतें निहारे घनआनँद सुजान प्यारे,
तबतें अनोखी आगि लागि रही चाहकी।

उर्दू शायरीके उस्ताद मीर भी ग़ालिबकी ही तरह इश्क़से नावाक़िफ़ हैं। उन्होंने इश्क़की तारीफ़ यों की है—

हम तौरे इश्क़से तो वाक़िफ़ नहीं हैं, लेकिन
सीनेमें कोई जैसे दिलको मला करे है।

भोला-भाला मीर प्रेमका लक्षण भला क्या जाने। वह तो सिर्फ़ इतना ही जानता है, जैसे कोई अपने दिलको उसके सीनेमें मल रहा हो। क्या इसीको प्रेम कहते हैं?

ऐसा ही कुछ और—

इश्को मुहब्बत क्या जानूँ, लेकिन इतना मैं जानूँ हूँ,
अन्दर-ही-अन्दर सीनेमें मेरे दिलको कोई खाता है।

शायद इस मधुमयी वेदनाका ही नाम प्रेम हो। कौन जाने, क्या है। सब कुछ जान लेनेपर भी ये भोले-भाले ग़ालिब और मीर प्रेमके नामसे अपरिचित ही बने रहे। प्रेम है भी ऐसी चीज़।

× × × ×

भक्तिरसामृत-सिन्धुमें लिखा है—

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

जिससे हृदय अतिशय कोमल हो जाता है, जिससे अत्यन्त ममता उत्पन्न होती है, उसी भावको बुद्धिमान् जन परमप्रेम कहते हैं। परमानुराग ही प्रेम है।

हृदय कोमल कैसे हो जाता है? प्रेमके लिए क्या कठिन है। अरे, वह तो पत्थरको भी पिघलाकर पानी कर देता है—

इश्क़ वह शै है, कि पत्थरको दममें आब करे।

पर हो वह प्रेम चाहसे लबालब भरा हुआ । वह प्रेम निरन्तर हो, नित्य-नूतन हो—

छिनहिं चढ़ै छिन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय ।
अघट प्रेम पिंजर वसै, प्रेम कहावै सोय ॥

—कबीर

यही प्रेम पत्थरको मोम या पानी कर सकता है। इसीकी बदौलत बड़े-बड़े संगदिल मोमदिल होते देखे गये हैं। यही पहाड़ोंकी छातियोंसे झरने झरा रहा है, और यही चन्द्रकान्त-मणियोंको द्रवित कर रहा है। अखिल विश्वमें प्रेमका ही अखण्ड साम्राज्य है। प्रेम 'अस्तित्व' है और उसका अभाव 'नास्तित्व'। प्रेमका साधक उसमान, अपनी 'चित्रावली' में, लिखता है—

अस्ति प्रेम उपजेउ चित आई। नास्ति सबै अब गई हेराई॥

कहता है—विधाताने सर्वप्रथम अपनी सृष्टिमें प्रेम ही उत्पन्न किया, और फिर उस प्रेमके ही निमित्त उस कलाकारने इस समस्त संसारकी रचना की। उस सिरजनहारने जब इस प्रेममय विश्व-दर्पणमें अपने 'प्रेमरूप' को देखा, तब उसे अपने आनन्दका अन्त न मिला। प्रेम-रस-ही-प्रेम-रस वहाँ लहरा रहा था—

आदि प्रेम विधिनै उपराजा। प्रेमहि लागि जगत सब साजा॥
आपन रूप देखि सुख पावा। अपने हियें प्रेम उपजावा॥

प्रेमयोगी मलिक मुहम्मद जायसीने भी विश्वमात्रमें प्रेमकी ही सर्वव्यापकता देखी है, अथवा विश्वकी व्यापकताको प्रेमकी संज्ञा दी है। कहता है—

तीन लोक चौदह खँड, सबै परैं मोहिं सूझि।
प्रेम छाँड़ि नहिं लोन किछु, जौ देखा मन बूझि॥

× × × ×

एक और परिभाषा मिली है। सुनिए—

दर्शने स्पर्शने वापि श्रवणे भाषणेऽपि वा।
यत्र द्रवत्यंतरंगं सस्नेह इति कथ्यते॥

देखने, छूने, सुनने या बोलनेमें जहाँ अन्तःकरण द्रवीभूत हो जाय, हृदय पसीज उठे, वहाँ समझ लो, स्नेहका आविर्भाव हो गया। उस दर्शन-स्पर्शनमें, उस श्रवण-भाषणमें असीम, अनन्त अतृप्ति रहती है। या यों कहना चाहिए, कि उस अनन्त अतृप्तिमें ही एक अनन्त तृप्ति भरी रहती है। कवि-कोकिल विद्यापतिका यह पद कितना भावपूर्ण और मधुर है—

जनम अवधि हम रूप निहारलु,
नयन ना तिरपित भैल।
लाख-लाख युग हियाय राखलु,
तबू हिया जुड़न ना गैल॥
बचन-अमिय अनुखन सुनलू
श्रुति-पथ परश ना भैल।
कत मधुयामिनि रभसे गोङाइलु
ना बूझलु कै छन कैल॥

जीवन-भर उसका रूप देखा, पर नेत्र तृप्त न हुए—

हविसे दीद मिटी है न मिटेगी 'हसरत'।
देखनेके लिए चाहे उन्हें जितना देखो॥

लाखों युगोंतक उसे हृदयसे लगाये रहे, तोभी हृदय शीतल न हुआ! पल-पल पर उसका वचनामृत पीते रहे, पर ऐसा जान पड़ता है, कि इन कानोंको उस सुधाका अभी स्पर्श भी नहीं हुआ। अरे, उस प्रेम-रसमें मैंने कितनी रातें बिता दीं, पर आजतक यह पता न चला, कि कितने क्षण वह मधुमयी लीला होती रही। प्रेमकी यही तो रसमयी नित्य-नवीनता है—

सोइ पिरीति अनुराग बखानिबे,
तिल-तिल नूतन होय।
—विद्यापति

× × × ×

किसीने प्रेमको पीयूष कहा है, तो किसीने हालाहल! कैसी विरोध-भरी उपमाएँ हैं। एक कवि कहता है—

यह वह मिश्रीकी डली है, कि न इससे बात करे,
संखिया खाकर मरे, पर इश्क़ ज़बाँपर न धरे।

इस शेरमें इश्क़को संखियेसे भी ज़्यादा ज़हरीला बतलाया है। मालूम नहीं, कविका मतलब इश्क़ हक़ीक़ीसे है या इश्क़ मजाज़ीसे। प्रेम विष-तुल्य भले ही हो, पर वह मारक नहीं

है। यदि मारक है तो मृत्युका मारक है। प्रेम-हालाहल आनन्दमय और मुक्तिप्रद है। उस विषपर न जाने कितनी सुधाएँ न्योछावर होनेको छटपटा रही हैं। वह अद्भुत अमृत है, विलक्षण विष है। प्रेमास्वादन गरम-गरम गन्ना चूसनेके समान है। मुँह तो जल रहा है, पर छोड़नेको मन नहीं करता। इस गरम गन्नाके चूसनेके भावमें और, 'संखिया खाकर मरे, पर इश्क़ ज़ुबाँपर न धरे' के बीचमें कितना महान् अन्तर है इसे प्रेमी ही समझ सकेंगे। देखा, प्रेम-प्रान्तमें विषवती और सुधावतीका कैसा सुन्दर संगम हुआ है। इस स्वर्गीय संगममें किसका मन अवगाहन करनेको अधीर न होता होगा ?

नीचेकी पंक्तियोंमें इस प्रेम-हालाहलका भेद रहस्य-वा सहृदयवर जयशंकर 'प्रसाद' ने खूब खोला है—

तेरा प्रेम-हलाहल प्यारे, अब तो सुखसे पीते हैं।
विरह-सुधासे बचे हुए हैं, मरनेको हम जीते हैं॥

हाँ, सच तो है—प्रेम-हालाहल संखियेकी तरह मारक नहीं है। पर वह मरणका मारक निस्सन्देह है। सती-शिरोमणि सावित्रीके प्रेमने ही तो भगवान् यमको परास्त किया था। प्रेमका सामना मृत्यु नहीं कर सकती, कारण कि वह एक अनन्त जीवनका रूप है। जो जीवन है वही तो प्रेम है। प्रेम और जीवन वस्तुतः एक ही वस्तुके दो नाम हैं।

हाँ, 'अहन्ता' का हन्ता यह अवश्य है। उसे हम 'देहात्म-वाद' का नाशक कह सकते हैं। जागते हुए अहंकारको सुलाने-वाला और सोती हुई आत्माको जगानेवाला एक प्रेम ही है।

× × × ×

प्रेम ! केवल एक शब्दका यह कैसा बृहद् ग्रन्थ है! एक ही आँसूका कितना विशाल सागर है! ओह! एक ही दृष्टिमें सातवाँ स्वर्ग दिखायी दे रहा है! एक ही आहने कैसा बवण्डर उठा दिया है! एक ही स्पर्शमें यह विद्युत्! एक क्षणमें ये लाखों युग! इस महान् प्रेमको आशीर्वादात्मक कहें या सर्वनाशात्मक? अहा! इसीमें तो आनन्द और वेदनाका केन्द्रीकरण हुआ है। स्वयं कविके शब्दोंमें—

Love ! what a volume in a word !
An ocean in a tear !
A seventh heaven in a glance !
A whirlwind in a sigh !
The lightning in a touch-
A millennium in a moment !
What concentrated joy or woe
In blessed or blighted Love !

—Tapper.

कैसा अद्भुत रहस्यवाद है! प्रेमकी कैसी अनोखी परिभाषा है! एक-एक चित्र हृदयकी आँखोंमें खिंचता चला

आ रहा है। यह बृहद् ग्रन्थ, यह विशाल वारिधि, यह सत्य-लोक, यह बवण्डर, यह विद्युत् और यह प्रलययुग! कैसा सुन्दर सामञ्जस्य हुआ है प्रेमके क्षितिजपर! यह आनन्द और यह वेदना! बलिहारी! प्रेम कैसा महान् रहस्य है!

प्रेम-रत्नके प्रवीण पारखी कवि-वर देवनेभी प्रेमको अपनी खास कसौटीपर कसा है। नीचेके पद्यमें उनकी प्रेम-परख देखिए—

> जाके मदमात्यौ उमात्यौ न कहूँ कोई जहाँ,
> बूढ़्यौ उछर्यौ न तर्यौ सोभा-सिन्धु सामुहै;
> पीवत ही जाहि कोई मर्यौ सो अमर भयौ,
> बौरान्यौ जगत जान्यौ मान्यौ सुख-धामु है।
> चखके चखक भरि चाखत हीं जाहि फिरि
> चाख्यौ न पियूख कछु ऐसो अभिरामु है;
> दम्पति-सरूप ब्रज औतर्यौ अनूप सोई,
> 'देव' कियौ देखि प्रेम-रस प्रेम नामु है॥

आपने ब्रज-राज और ब्रज-रानीके नित्य-विहारको प्रेमका नाम दिया है। इसमें सन्देह नहीं, कि महाकवि देवकी यह प्रेम-परिभाषा अनूठी और अपूर्व है। अहा!

> जाके मदमात्यौ उमात्यौ न कहूँ कोई जहाँ,
> बूड़्यौ उछर्यौ न तर्यौ सोभा-सिन्धु सामुहै।

प्रेमके सौन्दर्य-सिन्धुमें डूबा सो डूबा; अब उछलना कैसा!

> डूबा प्रेम-सिन्धुका कोई हमने नहीं उछलते देखा।
>
> —ललितकिशोरी

× × × ×

प्रेमकी पूर्ण परिभाषा, लाख उपाय करो, कहीं ढूँढ़े मिलेगी नहीं। बात यह है न, कि प्रेमपुरीका सब कुछ अनोखा-ही-अनोखा है। वहाँ देखते बनता है, कहते नहीं बनता—

प्रेम-बात कछु कही न जाई। उलटी चाल तहाँ सब भाई॥
प्रेम-बात सुनि बौरा होई। तहाँ सयान रहै नहिं कोई॥
तन मन प्रान तिहीं छिन हारै। भली-बुरी कछुवै न विचारै॥
ऐसो प्रेम उपजिहै जबहीं। 'हित ध्रुव' बात बनैगी तबहीं॥
प्रेम कि छटा बहुत विधि आही। समुझि लई जिन जैसी चाही॥

—ध्रुवदास

असल बात यह है, प्रेमके शर्करा-गिरिसे जिस रसज्ञ चींटी-को जितने कण मिलें, उसे उतने ही बहुत हैं। प्रेमियोंको अपूर्णतामें ही पूर्णताका आनन्द आ जाता है। प्रेम अपूर्ण होते हुए भी पूर्ण ही है।

अन्तमें, प्रेमकी अपूर्ण व्याख्यापर इस प्रेम-शून्य हृदयका भी यह एक अधूरा प्रलाप है—

पियारे, धन्य तिहारो प्रेम!

साँचेहुँ विना प्रेम वसुधा पै झूठे नीरस नेम॥
भर्यौ अगम सागर कहूँ, तहँ खेलति उमँगि हिलोर।
ता सँग झूलति झूलना कोइ नैन-रँगीली-कोर॥
मानस मधि झरना झरत इक रस-रस रसिक रसाल।
मधु-समीर-आँगुरिन पै कोइ बिहरत मत्त मराल॥

बिरह-कमल फूल्यौ कहूँ, यहुँ छायौ परस-पराग ।
बँध्यौ बावरो अलि अधर तहँ लहत सनेह-सुहाग ॥

धरी कहूँ इक आरसी अति अदभुत अलख अनूप ।
उझकि-उझकि झाँकत कोई तहँ धूपछाहँ कौ रूप ॥

अरी प्रेमकी पीर ! तूं मचलति सहज सुभाय ।
करि चख-पूतरि तोय को तब स्वाद जनावतु आय ॥

उठी उमँगि घन-घटा कहुं, पै रही हियें घुमराय ।
परति फुही अँखियानमें यह कैसी प्रेम-चलाय ॥

कहा करौं या नगरकी कछु रीति कही नहिं जाय ।
हेरत हिय-हीरा गयौ यह हेरनि हाय हिराय ॥

इक मरजीवा मरमी बिना 'हरि' मरमु न समुझै कोय ।
हिलग-तीरकी पीर बिनु कोइ कैसे मरमी होय ॥

मोह और प्रेम

प्रेम कैसा कलङ्कित हो गया है आज। ग़रीब इश्क़पर कितनी बदनामी लाद दी गयी है। एक महाशय कहते हैं—

Love is a blind guide, and those that follow him, too often lose their way.

अर्थात्, प्रेम एक अन्धा पथ-प्रदर्शक है। जो उसके पीछे-पीछे चलते हैं, वे प्रायः अपना निर्दिष्ट मार्ग भूल जाते हैं। आपने बेचारे प्रेमको गुमराह कर देनेवाला बताया है। एक साहब फ़रमाते हैं—

बुरी है, ऐ दाग़, राहे उलफ़त, ख़ुदा न ले जाये ऐसे रस्ते।

ख़ुदा बचाये इस बरबादीके रास्तेसे। प्रेमका मार्ग बड़ा बुरा है। देखो न, मीरसाहब प्रेमकी आगमें जल-जलकर अन्तमें ख़ाक ही तो हो गये हैं। कहते हैं —

आग थे इब्तिदाए इश्क़में हम,
अब जो हैं ख़ाक इन्तिहा है यह।

प्रेमके आरम्भमें हम आगकी भांति जलते थे, पर अब क्या हैं, ख़ाक! आज वह जोश नहीं है। प्रेममें शिथिलता आ गयी है। जान पड़ता है, यह प्रेमका अन्त है। जो बात तब थी, वह अब नहीं है।

क्या सचमुच ही प्रेम ऐसा है? यदि हाँ, तो फिर कौन समझ-दार प्रेमी बनकर पथभ्रष्ट होना चाहेगा, आशिक होकर जलते-जलते खाक बनना चाहेगा? नहीं, प्रेम ऐसा नहीं है। प्रेम तो वह 'गाइड' है, जिसे लेकर भूले-भटके यात्री भी अपने इष्ट-स्थान-पर पहुँच जाते हैं। इश्क वह चीज़ है, जो निकम्मे-से-निकम्मेको भी संसारके कामका बना देता है। प्रेमी ही सच्चा कर्मयोगी होता है। प्रेमकी आग आदिमें और अन्तमें एक-सी ही रहती है। न तो वह लगानेसे लगती है और न बुझानेसे बुझाते बनती है। सदा सुलगती ही रहती है। उस आगमें खाक होना कैसा? प्रेम नहीं है, साहब, वह मोह है। वह सर्वनाशका स्वप्न देखनेवाला कामान्ध मोही है, प्रेमी नहीं। कहा है—

Go, go, you nothing love----a lover! No,
The semblence you, and shadow of a lover.

अर्थात्, जाओ, जाओ, तुम प्रेम करना क्या जानो! प्रेमी बनने चले हो! तुम प्रेमी नहीं हो सकते। प्रेमीकी सिर्फ एक नकल हो, एक छायामात्र हो!

× × × ×

मोह और प्रेमके लक्ष्यमें सामान्य और विशेषका अन्तर माना गया है। किसीके सुन्दर रूपपर चटसे मोहित होकर उसकी ओर व्याकुल हो दौड़ पड़ना मोह या लोभ है। किसी विशेष व्यक्ति या वस्तुको—दूसरोंकी दृष्टिमें चाहे वह बुरी ही हो—देखकर उसमें अनन्य भावसे आसक्त हो जाना या रम

जाना प्रेम है। मोहमें बुद्धि व्यभिचारिणी रहती है और प्रेममें अव्यभिचारिणी। अतएव मोह दुःखरूप है और प्रेम आनन्दरूप। मोह अनित्य है और प्रेम नित्य।

प्रेम-मूर्त्ति अश्विनीकुमार दत्तने प्रेम और मोहके अन्तरपर नीचे कैसे विशद विचार व्यक्त किये हैं—

"जो प्रेम शरीरके साथ क्रीड़ा करता है वह प्रेम नहीं, मोह है। अस्थि, चर्म, मांस, रुधिर लेकर जहाँ कार-बार है वहाँ प्रेम कहाँ? × × × × × × सोच देखो, तुम अपने प्रेमास्पदके विषयमें विचारनेपर उसकी नाक, मुख, आँख आदिकी चिन्ता करते हो, या उसके आध्यात्मिक सौन्दर्य और नैतिक शक्ति एवं सामर्थ्यके विषयमें चिन्ता करते हो? तुम देखो, कि आज यदि वह प्यारा जगत्के मंगलके अर्थ, चिरदिनोंके लिए, तुमसे बिछुड़ जाय वह तुम्हें अच्छा मालूम होगा, या जगत्के मंगलकी ओरसे मन हटाकर तुम्हारे वक्षःस्थलपर सिर रखकर सर्वदा तुम्हारे साथ प्रेम-कथा कहता रहे, यह अच्छा लगेगा? यदि उसके शरीरको वक्षःस्थलपर रखनेकी ओर ही झुकाव अधिक है, तो समझो, 'प्रेम' नाम देकर तुमने मोहका आवाहन किया है, सुधा समझकर विष-पान किया है*।"

मौलाना रूमने भी किसीकी सूरत और रंगपर मरनेको प्रेमका नाम नहीं दिया है। बकौले मौलाना, शकल-सूरतके

---

* 'प्रेम'

बदलते ही कुछ ही दिनोंमें वह प्रेम नंगा साबित हो जायगा। जो कभी आग था वह ख़ाक हो जायगा।

कृष्ण-वियोगिनी राधा कहती हैं—

प्यारे आवें, मृदु वयन कहें, प्यारसे अंक लेवें;
ठंडे होवें नयन, दुख हो दूर, मैं मोद पाऊँ।
ये भी हैं भाव हियतलके, और ये भाव भी हैं—
प्यारे जीवें, जगत-हित करें, गेह चाहे न आवें।

—हरिऔध

पहले भावोंमें मोहका एक हलका-सा उन्माद है, पर दूसरे भावोंमें तो परमप्रेमका उज्ज्वलतम आदर्श आलोकित हो रहा है। कहीं भी रहें, प्यारे कृष्ण चिरंजीवी रहें। घर चाहे न आयें, जगत्‌का उपकार करते रहें। प्रेमकी कैसी पवित्र भावना है!

प्यारे जीवें, जगत-हित करें, गेह चाहे न आवें।

सच्चा प्रेमी तो अपने प्रेम-पात्रके पत्रमें यह लिखेगा, कि—

तुम यहाँ सुध लो कि न लो कभी,
उचित उत्तर दो कि न दो कभी।
पर यही कहते हम हैं अहो!
तुम सदैव सहर्ष सुखी रहो।

—मैथिलीशरण गुप्त

हमारा प्रेम-पात्र भी हमपर प्रेम करे, हमें छोड़ वह और किसीपर प्रेम न करे आदि क्षुद्र भावनाएँ कल्याणकारी प्रेमकी नहीं, नाशकारी मोहकी हैं। भला यह भी कोई प्रेम है!

उन्हें भी जोशे उल्फ़त हो तो लुत्फ़ उट्ठे मुहब्बतका,
हमीं दिन-रात अगर तड़पे तो फिर इसमें मज़ा क्या है?

उसके प्रेम न करनेपर यदि हमारे प्रेममें कुछ कमी आ जाती है, यदि हम व्याकुल हो जाते हैं तो न हम प्रेमी हैं और न हमारा वह प्रेम, प्रेम है। यदि हमारा यह भाव है, कि—

ग़ैर लें महफ़िलमें बोसे जामके,
हम रहें यूं तिश्ना लब पैग़ामके।

यानी, तुम्हारी महफ़िलमें दूसरे लोग तो मज़ेसे शराबके प्याले ढालें और हम बात करनेके लिए भी प्यासे ही बने रहें, तो हमें समझ लेना चाहिए, कि हम प्रेमसे अभी कोसों दूर हैं, प्रेम-पयोधिके हम मीन नहीं—मोह-कूपके मूढ़ मण्डूक हैं। यदि हम भी ग़ालिबके साथ अपने प्रेमास्पदसे यह कहा करते हैं, कि—

क़हर हो या बला हो, या जो कुछ हो—
काश कि तुम मेरे लिए होते।

तो हम प्रेमी होनेका दावा शायद मरतेदम भी न कर सकेंगे। 'मगर तुम होते सिर्फ मेरे लिए ही, दूसरोंके न होते, मेरे ही सब कुछ होते'—इस लोभ-लालसाके और 'प्यारे जीवें, जगत-हित करें, गेह चाहे न आवें'—इस स्वर्गीय भावनाके बीचमें कितना बड़ा अन्तर है! फिर भी हम मोहको प्रेमके स्थानपर बिठाना चाहते हैं! किमाश्चर्यमतः परम्!

भला, देखो तो भाई, प्रेमी कभी ऐसी शिकायत करेगा—

हमको उनसे वफ़ाकी है उम्मेद ,
जो नहीं जानते वफ़ा क्या है !

अरे, क्यों प्रेम-मणिके मोलपर मोहके काँचको बेच रहे हो ? प्रेमियोंके हृदयमें यह क्षुद्र भावना नहीं हुआ करती, कि हम उनसे प्रेम चाहते हैं, जो नहीं जानते, कि प्रेम क्या है ?

अथवा, सच्चे प्रेमीकी यह शिकायत नहीं हुआ करती, कि—

गिला मैं जिससे करूँ तेरी बेवफ़ाईका ,
जहाँमें नाम न ले फिर वह आशनाईका ।

—मीर

प्रेमीकी भव्य भावना तो, भाई, यह है—

मेरी प्रीति होय नन्द-नन्दन सों आठों याम ,
मोसों जनि प्रीति होय नन्दके किसोरकी ।

कहाँ तो यह और कहाँ वह कि—'जो नहीं जानते वफ़ा क्या है !' कौड़ी-मोहरका फ़र्क है या नहीं ? फिर क्यों न अपने प्रेम-पात्रसे वफ़ाकी उम्मेद रखनेवाले नक़ली प्रेमी बरबादीकी आगमें जलकर ख़ाक हो जायँ ।

× × × ×

मीरसाहबने एक शेरमें वहाँकी कुछ बातें बयान की हैं, जहाँ वे स्वरचित प्रेम-संसारका मधुर स्वप्न देख रहे हैं। कहते हैं—

एक सिसकता है, एक मरता है ;
हर तरफ़ ज़ुल्म हो रहा है यहाँ ।

इसी तरह आपको अपने शहरेइश्क़के भी आस-पास क़ब्रें-ही-क़ब्रें देख पड़ी हैं—

सुना जाता है शहरेइश्क़के गिर्द,
मज़ारें-ही-मज़ारें हो गयी हैं।

जहाँ 'अब जो हैं ख़ाक इन्तिहा है यह' की बात है, वहाँ और क्या देखेंगे, मज़ारें ही देख पड़ेंगी। जनाब मीरसाहब, ख़ता माफ़ हो, जिसे आप इश्क़की दुनिया कहते हैं, और जहाँ सिसकना, मरना या हर तरफ़से ज़ुल्मका होना बयान कर रहे हैं, वहाँ प्रेम-संसार नहीं है, मोह-संसार है। प्रेमके नगरमें क़ब्रें कहाँ देखनेको मिलेंगी। जिसका हृदय प्रेममें विभोर हो गया, वह कभी मरनेवाला नहीं—

जाना जेहिक प्रेममहँ हीया। मरै न कबहूँ सो मरजीया॥

प्रेममें मरण कैसा। प्रेम तो अनन्त जीवनका नाम है—

Love and life are words with a similar meaning.

अर्थात्, प्रेम और जीवन एक ही अर्थके द्योतक शब्द हैं। प्रेम-नगरका क्या पूछते हो! धन्य वह देश!

हम वासी वा देसके, जहँ बारह मास बिलास।
प्रेम झिरै, बिगसै कमल तेज-पुञ्ज परकास॥

परम प्रकाशरूप है वह देश। वहाँ जीवन-ही-जीवन है—

प्रेमकी झिलमिल है नगरी!
अखिल खण्ड ब्रह्माण्ड परे, सब लोकनतें अगरी॥

अतिसै चित्र-विचित्र अलौकिक, सोभा बहु नगरी ।
नहिं तहँ चन्द न सूरज, तौहूँ जागति जगमगरी ॥
रसकी भूमि, नीरहू रसकौ, रसमय है सिगरी ।
भरयौ रहतु रस सदा एकरस, पिय-रसकी गगरी ॥

कौन अक़्लका दुश्मन उसे मुर्दोंका शहर कहेगा ?

× × × ×

प्रेम-सरोवरमें विहार क्यों नहीं करते, प्यारे पथिको ! क्यों व्यर्थ मोहके कीचड़में लथपथ हो रहे हो ? क्यों एक भिक्षुककी भाँति अपने प्रेमास्पदसे निरन्तर कुछ-न-कुछ माँगते रहते हो ? प्रेमियो ! तुम राजाधिराजकी भाँति रहो, भिखारीकी तरह नहीं । तुम तो देनेमें ही मस्त रहो, लेनेके पीछे मत पड़ो । अपने प्रियके हृदय-पात्रमें अपनी आत्मीयताका दान करते जाओ । तुम्हारे उदात्त आत्म-दानसे उसके सौन्दर्य-में वृद्धि होगी, उसकी अनुरक्तिपर प्रकाश पड़ेगा और उसके प्रेम-पूर्ण मानसमें आनन्द-लहरी लहराने लगेगी । पर मित्रो, तुम तो वासनाको ही उपासना समझ बैठे हो ! याद रखो, यह नाशकारी मोह है, कल्याणकारी प्रेम नहीं । महामना हेनरी वान डाइकने क्या अच्छा लिखा है—

Love is not getting, but giving; not a wild dream of pleasure and a madness of desire-oh, no, love is not that. It is goodness and peace and pure living; yes, love is that; and it is the best thing in the world and the thing that lives longest.

अर्थात्, प्रेम आदान नहीं, किन्तु प्रदान है। वह न तो भोग-विलासका सम्मोहक स्वप्न है, और न वासनाओंका उन्माद। यह सब प्रेम नहीं हो सकता। भलाई, शान्ति और सदाचारिताको प्रेम कहते हैं। इन सद्गुणोंमें प्रेम ही निवास करता है। संसारमें इस प्रकारका प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ और चिरस्थायी वस्तु है।

सारांश, मोह वासना-प्रधान होता है, और प्रेम त्याग-प्रधान। मोह क्षणिक होता है और प्रेम चिरस्थायी। मोह पुराना पड़ जाता है, पर प्रेम नित्य-नवीन ही बना रहता है। जिस प्रेमसे हम ऊँचे नहीं उठ सकते वह प्रेम, प्रेम नहीं, उन्माद-कारी मोह है।

× × × ×

अपने प्रेम-पात्रको केवल अपने ही सुख और हितका साधन बना बैठोगे, तो प्रेमका आनन्द तुम कदापि न पा सकोगे। अपने प्रेम-पात्रके द्वारा लोक-हित होने दो। उसे अपनी आँखों-की ओट करते हुए तुम्हें कष्ट अवश्य होगा, तुम यह कभी न चाहोगे, कि तुम्हारा वह अभिन्नहृदय प्रिय मित्र क्षणमात्रको भी तुमसे अलग हो जाय, पर तुम्हें पवित्र प्रेमकी साधना करते हुए मोहका कठिन पाश काटना ही होगा। नीचेके प्रसंग मोह और प्रेमको अधिक स्पष्ट कर देंगे। रणाङ्गणको जाते हुए चित्तौर वीर कुमार बादलकी माता उससे कहती है—

जबही आइ चढ़े दल ठटा। दीखत जैसि गगन घन-घटा॥
चमकहिं खडग जो बीजु समाना। घुमरहिं गल गाजहिं नीसाना॥
बरसहिं सेल बान घनघोरा। धीरज धीर न बाँधिहि तोरा॥
जहाँ दल-पती दलि मरहिं, तहाँ तोर का काज?
आजु गवन तोर आवै, बैठि मानु सुख राज॥
—जायसी

माताके वात्सल्य-भाव-प्लुत हृदयको देखते हुए यद्यपि ऊपरकी पंक्तियाँ एक प्रकारसे मोहके अन्तर्गत आती नहीं हैं, तथापि मोहकी एक अस्पष्ट छाया उनपर पड़ती अवश्य है। उस मोह-ममताका कारण ही रणोद्यत बादलको माताकी आज्ञा प्राप्त नहीं करा सकता।

ऐसा ही अवसर एकदिन राम-चरणानुगामी लक्ष्मणके सामने आया था। पर उनकी माता साध्वी सुमित्राने जिन प्रेम-पूर्ण शब्दोंसे अपने हृदयाधार वत्सको वन जानेकी आज्ञा दे दी, वे आज भी भावुकोंके हृदयपर ज्योंके त्यों अंकित बने हुए हैं। अपने प्राणप्रिय लालसे आप कहती हैं—

अवध तहाँ जहँ राम-निवासू। तहँइ दिवसु जहँ भानु-प्रकासू॥
जो पै सीय-राम वन जाहीं। अवध तुम्हार काज कछु नाहीं॥
तुम्ह कहँ वन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु राम-सिय जासू॥
—तुलसी

क्या बादलकी माताकी अपेक्षा लक्ष्मणकी माता कुछ कम स्नेहमयी थीं? वात्सल्य-रस-धाराका वेग सुमित्राके हृदयमें क्या

अपेक्षाकृत कुछ मन्द था ? नहीं, कदापि नहीं। ऐसी कौन पाषाण-हृदया माता होगी, जो अपने लालको अपनी आँखोंकी ओट करना चाहेगी ? बात यह है, कि सुमित्रा अपने मोहमूलक ममत्वको कर्तव्य-पूर्ण प्रेमकी बलि-वेदीपर चढ़ा चुकी थीं। इसीसे वह अपने स्नेह-भाजनसे, 'बैठि मातु सुख राज' न कहकर यह कहती हैं, कि—

तुमकहँ बन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु राम-सिय जासू॥

एक अभी कलकी बात है। उस दिनका वह स्वर्गीय दृश्य था। जेलमें बन्दी पुत्रसे माताकी अन्तिम भेंट थी। उसे देखकर जेलके कर्मचारी भी दंग रह गये थे। पुत्र माँके पैरोंपर सिर रखकर रो रहा था। पर जननीने अपने हृदयको पत्थरसे दबा-कर जो उत्तर दिया वह भुलाया नहीं जा सकता। बोली—"मैं तो समझती थी, तुमने अपनेपर विजय पायी है, किन्तु यहाँ तो तुम्हारी कुछ और ही दशा है। जीवन-पर्यन्त देशके लिए आँसू बहाकर अब अन्तिम समय तुम मेरे लिए रोने बैठो हो! इस कायरतासे अब क्या होगा? तुम्हें वीरकी भाँति हँसते हुए प्राण देते देखकर मैं अपने आपको धन्य समझूँगी। मुझे गर्व है, कि इस गये-बीते ज़मानेमें मेरा पुत्र देशकी वेदीपर प्राण दे रहा है। मेरा काम तो तुम्हें पालकर केवल बड़ा करना था, इसके बाद तुम देशकी चीज़ थे और उसीके काम आ गये। मुझे इसमें तनिक भी दुःख नहीं है।"

'आशु गवन तोर आवै, वैठि मानु सुख राज' और इन धीरोद्गारों-में कितना भारी अन्तर है! बात यह है, कि वह मोह है और यह प्रेम है।

मोह और प्रेमका एक दृश्य और देख लीजिए। कुमार सिद्धार्थ वासनात्मक मोहको लात मारकर प्रेम-साम्राज्यमें पदार्पण करते हुए अपनी प्राण-प्रिया यशोधरासे कहते हैं—

अंक बीच बसि कबहुँ-कबहुँ, हे प्रिये! तिहारे,
अस्त होत रवि ओर रहौं निरखत मन मारे।
अरुण प्रतीची ओर जान हित छटपटात मन,
सोचौं कैसे अस्ताचलके बसनहार जन।
ह्वैहैं जगमें परे न जाने केते प्रानी,
हमैं चाहिए प्रेम करन तिनसों हित ठानी।
परति व्यथा मोहि जानि आज ऐसी कछु भारी,
सकत न तव मृदु अधर जाहि चुम्बनसों टारी।

—रामचन्द्र शुक्ल

प्रिये! अब मुझे तुम्हारे प्रणय-चुम्बन और प्रगाढ़ालिङ्गन-का क्षुद्र मोह त्यागना ही होगा, कारण कि मेरे हृदयमें अज्ञात प्राणिमात्रसे प्रेम करनेकी जो प्रचण्ड अग्नि जल रही है उसे यह चुम्बन और आलिङ्गन किसी प्रकार शान्त न कर सकेगा। प्रिये, आज मैं अपने अन्तस्तलमें कुछ ऐसा सुन रहा हूँ—

भरमत हैं भव-चक्र बीच जड़ अन्ध जीव ये सारे,
उठौ उठौ, माया-सुत! बनिहै नाहिं बिना उद्धारे।
छाँड़ौ प्रेम-जाल प्रेमिन-हित, दुख मनमें अब लाओ,
वैभव तजौ, विषाद विलोकौ, औ निस्तार बताओ॥

—रामचन्द्र शुक्ल

एकाङ्गी प्रेम

सरी ओरसे भले ही प्रेमका लेश भी न हो, पर इस ओरसे सच्चे प्रेमीके प्रेममें कभी कमी आनेकी नहीं। उसे इसकी ख़बर भी नहीं, कि उसका प्रेम-पात्र प्रेम करना जानता है या नहीं। उसे तो अपने ही प्रेमसे फ़ुर्सत नहीं। वह तो बस एक प्रेम करना ही जानता है। वह प्रेमका प्रेमी है, प्रेमका व्यापारी नहीं। लाभ-हानि सोचे बिना ही वह अपने प्रेमपात्रको हृदयका अतुलित धन दे रहा है। प्रेम करना उसने अपना स्वभाव बना लिया है। इसकी उसे ज़रा भी परवा नहीं, कि उसके प्रेमका कोई आदर करता है या निरादर। उसे अपने प्यारेकी ही याद रहती है, उसकी निठुरताकी नहीं। वह उसे देना-ही-देना जानता है, लेना नहीं। उसपर कितना ही ज़ोर-ज़ुल्म किया जाय, उसका प्रेम-धन कितना ही ठुकराया जाय, पर वह अपने भावमें कमी न आने देगा। उसका प्रेम-भाव तो दिनपर-दिन बढ़ेगा। जितना ही वह सताया जायगा, उतना ही उसका प्रेम बढ़ेगा—

जलद जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जल, पवि पाहन डारउ ॥
चातक-रटनि घटे घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई ॥
कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम-पद-नेम निबाहे ॥

—तुलसी

भले ही निठुर मेघ जीवनभर पपीहेकी याद भुलाये रहे और जल माँगनेपर उस बेचारेपर वज्र और पत्थरोंकी वर्षा किया करे, प्यारे जलदका नाम रटते-रटते उस चातककी चाहभरी रटना भी चाहे घट जाय, पर उसका प्रेम इन सब बातोंसे घटनेवाला नहीं; वह तो बढ़ेगा और इसीमें उसकी सराहना भी है। जैसे आगमें तपानेसे सोनेकी चमक और भी अधिक बढ़ जाती है, वैसे ही अनादर और अत्याचारोंके होते हुए भी प्रियतमके चरणोंमें अपना भाव निवाहते जानेसे प्रेम और भी पुष्ट और पवित्र हो जाता है।

पपीहेका एकाङ्गी प्रेम देखो, कितना ऊँचा है! अहा!

लागे सर सरवर परयौ, करयौ चोंच घन ओर।
धनि-धनि चातक, प्रेम तव, पन पाल्यौ बरजोर॥
पन पाल्यौ बरजोर, प्रान-परजंत निबाह्यौ।
कूप नदी नद ताल सिन्धु जल एक न चाह्यौ॥
बरनै 'दीनदयाल' स्वाति बिन सब ही त्यागे।
रही जन्म भरि बूँद-आस, अजहूँ सर लागे॥

प्यारे पयोदके दोषपर उसका ध्यान ही नहीं जाता—

चढ़त न चातक-चित कबहुँ प्रिय पयोदके दोख।
'तुलसी' प्रेम-पयोधिकी तातें नाप न जोख॥

और, यही हाल उस पतंगेका भी है। एक ओर दियेकी यह लापरवाही और संगदिली, और दूसरी ओर पतंगेकी वह लगन

और जाँनिसारी देखते ही बनती है। पतंगेके तिरस्कृत प्रेमपर एक सज्जन उससे कहते हैं, कि अरे पगले, इस बेदरदी लौसे लिपटकर क्यों यों ही जान दे रहा है ? तुझे यह क्या पागलपन सूझा है, रे ?

वे तो मानत तोहि नहिं, तैं कत भरयौ उमंग ।
नहि दीपक कछु दरद, क्यों जरि-जरि मरै पतंग ॥
जरि-जरि मरै पतंग, तासु ढिग कदर न तेरी ।
तू अपनो हित जानि भाँवरें भरत घनेरी ॥
बरनै 'दीनदयाल' प्रान-प्रिय मान्यौ तैं तो ।
मुख मलीन करि रहैं, चहैं नहिं तोकों वे तो ॥

अस्तु, कुछ सहृदय सज्जनोंने दयार्द्र होकर जब उस निर्दय दीपकको इस महान् अपराधपर एक फ़ानूसके अन्दर बन्द कर दिया, तब एहसानमन्द होना तो दूर रहा, वे कमबख़्त पतंगे बहुत झुँझलाये और उस रहमदिल फ़ानूससे रुखाईके साथ बोले, कि भाई, हमें प्यारी लौसे लिपटकर जलने क्यों नहीं देते ? क्यों हमारे बीचमें आकर हमें जला रहे हो ?

फ़ानूसको परवानोंने देखा तो ये बोले,
क्यों हमको जलाते हो, कि जलने नहीं देते !

—अकबर

यह है आदर्श प्रेमीका प्रेम ! इस प्रकारके एकाङ्गी प्रेमको ही ऊँचे प्रेमियोंने प्रेमका अद्वितीय आदर्श माना है। रसिक रसखानिने अपनी 'प्रेम-वाटिकामें' लिखा है—

इकअंगी बिनु कारनहिं, इकरस सदा समान ।
गनै प्रियहि सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रमान ॥

× × × ×

मैं तो सिर्फ़ इतना ही जानता हूँ प्यारे, कि मैं तेरा बन्दा हूँ। इसका मुझे पता नहीं, कि तेरी नज़रमें मैं क्या हूँ । तू जाने या न जाने, मुझे इसकी कोई शिकायत भी नहीं—

तेरे बन्दे हम हैं ख़ुदा जानता है ,
ख़ुदा जाने तू हमको क्या जानता है ।

—मीर

यह मैं मानता हूँ, कि तेरा दिल मुझसे मिलता नहीं है, फिर भी मैं तुझे प्यार करता हूँ । क्या करूँ, बिना प्रेम किये जी मानता ही नहीं। प्रेम करना मेरा स्वभाव बन गया है। मुझपर यह अपराध आरोपित किया जा रहा है, कि तुम क्यों प्रेम करते हो। इसपर मैं क्या सफ़ाई दूँ—

ठहरे हैं हम तो मुजरिम टुक प्यार करके तुमको ,
तुमसे भी कोई पूछे, तुम क्यों हुए पियारे !

—मीर

कैसे बरी होऊँ इस इल्ज़ामसे ! क्या करूँ, क्या न करूँ । प्रेम करना मैं कैसे छोड़ दूँ, भाई !

कौन विधि कीजै, कैसे जीजै, सो बताइ दीजै ,
हा हा, हो बिसासी, दूरि भाजत, तऊ भजौं ।

—आनंदघन

तू मुझसे हमेशा दूर भागता रहे और मैं तुझे चाहता रहूँ—बस, यही मैं तुझसे माँगता हूँ। मैं तुझसे तेरे प्रेमको नहीं माँगता, मैं तो तुझसे तुझीको माँगता हूँ—

हर सुबह उठके तुझसे माँगूँ हूँ मैं तुझीको,
तेरे सिवाय मेरा कुछ मुद्दआ नहीं है।

—मीर

इस भावमें ही मेरे जीवनका अर्थ छिपा है। तू ही बता, मैं अपने जीवनको निरर्थक कैसे कर दूँ। प्रेम करनेकी आदत कैसे छोड़ दूँ। यह तो मेरा सहज स्वभाव है। जो बन गया सो बन गया। तू चाहे जो समझे, मैं तो यह समझ बैठा हूँ, कि—

तेरे सिवाय मेरा कुछ मुद्दआ नहीं है।

सो, प्यारे! यह ज़िन्दगी जिस ढर्रेपर चल रही है, उसी-पर चलने दे। तू क्यों मेरी फ़िक्र करता है?

प्रेमी

प्रेमीके जीवनका अथ और इति आत्म-बलिदानमें है। प्राणोंका सभीको मोह होता है, पर प्रेमी इस व्यापक नियमके अपवादमें आगया है। आशिक़ और उसकी जानमें सदासे नाइत्तिफ़ाक़ी चली आयी है। जाँनिसारी ही प्रेमीकी जान है। जिसे अपने प्राणोंका मोह है, वह प्रेमीका पद पानेके योग्य नहीं। पहुँचे हुए प्रेमी सद्गुरु कबीर कहते हैं—

यह तो घर है प्रेमका, खालाका घर नाहिं।
सीस उतारे भुँइ धरै, तब पैठै घरमाहिं॥

नागरीदासजीका भी ठीक इसी भावका एक दोहा है—

सीस काटिकैं भू धरै, ऊपर रक्खै पाव।
इश्क़-चमनके बीचमें, ऐसा हो तो आव॥

सन्तवर पलटूदासके इस कथनमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं—

साहिबका घर दूर, सहज ना जानिए।
गिरै तो चकनाचूर, बचनको मानिए॥

ओह! कितना दूर है उस मालिकका मकान! सँभल-सँभलकर उस प्यारेके ज़ीनेपर चढ़ना होगा। ज़रा ही चूके, कि नीचे आये, ऐसे गिरे कि हड्डी-पसलीका भी पता न चलेगा। हाँ,

धड़परसे अपना सर अपने ही हाथसे उतारकर पहले नीचे रख दो, फिर तुम ख़ुशीसे उस घरके भीतर पैठ जाओ। यही एक सुगम उपाय है—

प्रेम न वाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट विकाय।
राजा पिरजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय॥

—कबीर

जबतक इस धड़पर सर है, जबतक इस दिलके अन्दर ख़ुदी है, तबतक उस मालिकसे भेंट होनेकी नहीं। ख़ुदी और ख़ुदा एक साथ नहीं रह सकते। इससे, चढ़ा दो, प्यारे दोस्तो! अपनी ख़ुदीको प्रेमकी प्यारी सूलीपर। ज़रा मंसूरकी तरफ़ देखो। उस पगलेने अपना सर सूलीकी भेंट करके ही प्यारेकी सूरत देखी थी। जिसके सरने सूलीकी सूरत नहीं देखी, वह प्यारेकी सूरत कैसे देख सकता है? इन्शाने क्या अच्छा कहा है—

सतर मंसूरके लोहूसे हुई यह तहरीर,
यानी, सरदार नहीं वह जो सरेदार नहीं।

जिसका सर दार (सूली) का प्यारा नहीं, वह प्रेमका सरदार नहीं कहा जा सकता। प्रेमी रसखानिने अपने प्रेम-पात्रसे कहा है—

सिर काटौ, छेदौ हिओ, टूक-टूक करि देहु।
पै याके बदले बिहँसि वाह-वाह ही लेहु॥

क्या अच्छा बदला चुकाया जा रहा है! क़लमको देखो।

हमेशा उँगलियोंसे लिपटी रहती है। यह सुहाग उसे मिला कैसे? क्या करोगे सुनकर, बड़ी ऊँची है उसकी साधना, उसकी प्रेम-साधना—

तो हम चो क़लम सर न निही दरतहे फार्द ,
हरगिज़ बसर अंगुश्ते निगारे न रसी ।

जबतक क़लमकी तरह अपना सर छुरीके नीचे क़लम नहीं करवा लिया, हरगिज़ सरे अंगुश्त यार तक नहीं पहुँच सकोगे। सर लिये हुए उस प्यारेके दरपर तुम पैर भी नहीं रख सकते। असग़र साहब कहते हैं--

'असग़र' हरीम इश्क़में हस्ती ही जुर्म है ,
रखना कभी न पाँव यहाँ सर लिये हुए ।

सच है, भाई!

जबलगि मरनेसे डरै, तबलगि जीवन नाहिं ।
बड़ी दूर है प्रेम-घर, समझ लेहु मनमाहिं ॥

—कबीर

असलमें देखा जाय, तो प्रेममें मरनेका ही नाम जिन्दगी है। इश्र साहबने कितना अच्छा कहा है—

जबसे सुना है मरनेका नाम ज़िंदगी है ,
सरसे कफ़न लपेटे क़ातिलको ढूँढ़ते हैं ।

अब तो शायद कुछ-कुछ समझमें आ गया होगा, कि प्रेम-का घर कहाँ और कितना दूर है। प्रेम-घरमें पैठनेवालेका चित्र

महाकवि देव नीचेके पद्यमें किस कुशलतासे अंकित कर रहे हैं ! लिखते हैं—

एकै अभिलाख, लाख लाख भाँति लेखियतु ,
देखियतु दूसरो न 'देव' चराचरमें ।
जासों मनु राचै, तासों तन मन राचै रुचि ,
भरिकैं उघरि जाँचे साँचे करि करमें ।
पाँचनके आगे आँच लागेतें न लौटि जाय ,
साँच देइ प्यारेकी सती-लौं बैठै सरमें ,
प्रेमसों कहत कोई ठाकुर न ऐंठौ सुनि ,
बैठौ गड़ि गहिरे, तौ पैठौ प्रेम-घरमें ॥

× × × ×

प्रेमी ही सच्चा शूरवीर है। जिसे अपने प्राणोंका भी मोह नहीं, वह कितना ऊँचा, कितना सच्चा और कितना पराक्रमी न होता होगा। आत्मबलिदानका महान् रहस्य एक प्रेमी ही समझता है। अपने ही हाथसे अपना सर उतारकर रख देना, अपने अहंकारको प्रेमकी आगमें जला देना, हर किसीका काम नहीं। आशिक़ होना हर बाज़ारू आदमीके हिस्सेमें नहीं आया है। विषयी और प्रेमीमें कौड़ी-मोहरका अन्तर है। सन्त पलटूदासजीने कितना अच्छा कहा है—

झूठ आसिकी करहिं मुलकमें जूती खाहीं ।
सहज आसिकी नाहिं, खाँड़ खानेको नाहीं ॥

जीते-जी मर जाय, करै ना तनकी आसा।
आसिकका दिन-रात रहै सूलीपर वासा॥
मान-बड़ाई खोय नींद भरि नाहीं सोना।
तिल भरि रक्त न मांस, नहीं आसिकको रोना॥
बेवकूफ़ 'पलटू' वहै, आसिक होने जाहिं।
सीस उतारै हाथसे, सहज आसिकी नाहिं॥

पागल पलटूने आशिकीको, देखा, आसमानपर चढ़ा रखा है! क्या सचमुच ही प्रेमकी साधना इतनी कठिन है? हम दुनियादारोंकी रायमें तो सबसे सुगम संसारमें यदि कोई कार्य है, तो एक प्रेम ही है। प्रेमीका सर्टिफिकेट प्राप्त करनेमें हमारा एक पैसा भी तो खर्च नहीं होता। हम सभी अपनेको प्रेमी कहते हैं, आशिक़ मानते हैं। हम-जैसे पशु-नरोंकी दृष्टिमें प्रशान्त प्रेम-पयोधि एक गड्हा-मात्र है—

गिरितें ऊँचे रसिक मन, बूड़े जहाँ हजार।
वहै सदा पसु-नरनकों प्रेम-पयोधि पगार॥

—बिहारी

तब हमें सच्चे प्रेमीका दर्शन कैसे मिल सकता है? असल आशिक़से कैसे हमारी भेंट हो सकती है? कहाँ मिलेगा वैसा प्रेमी, अपने साईंको अपना सीस सौंपनेहारा! प्रेम-प्याला वही पी सकता है, जो अपने सरको किसी निठुर साक़ीके पैरोंपर चढ़ा देता है। महात्मा दादूदयालकी साखी है—

जबलगि सीस न सौंपिए, तबलगि इश्क़ न होय ।
आसिक मरने ना डरै, पियै पियाला सोय ॥

दादूदयालजीने आशिक और माशूकमें कोई भेद नहीं माना। आशिक जब अपने प्रेमकी मस्तीसे छककर .खुद अपना ही माशूक बन जाता है, तभी वह सच्चे प्रेमकी झलक पाता है। अरे, ऐसे मस्त माशूकका तो .खुद सिरजनहार साईं भी आशिक बननेको पागल रहता है दादूदयालने क्या झूठ कहा है?

आसिक मासुक ह्वै गया, इश्क़ कहावै सोय ।
'दादू' उस मासूकका अलहि आसिक होय ॥

ऐसे प्रेमीका प्रेम-पात्र उससे दूर थोड़े ही रहता है। वह तो उसके पास ही रहा करता है, या उसमें ही समाया रहता है। प्रेमीके रोम-रोममें उस राम-रहीमका घर बना रहता है। वह अलमस्त प्रेमी कहीं बीन, बाँसुरी या पखावज सुनने नहीं जाता। सारे मोहन बाजे उसके भीतर ही बजा करते हैं। और, बजानेवाला भी उसे अपने दिलके मन्दिरमें बैठा मिल जाता है। बलिहारी ऐसे अलबेले प्रेमीपर!

सब बाजे हिरदै बजैं, प्रेम पखावज तार ।
मन्दिर ढूँढ़त को फिरै, वहीं बजावनहार ॥

—दादूदयाल

× × × ×

अपने प्रेमास्पदके पैरोंपर सर्वस्व न्योछावर कर देनेवाला ही प्रेमी कहानेके योग्य है। सच बात तो यह है, कि सर्वस्व-त्यागी ही परमप्रेमी है। उसका प्रेम प्रेमके ही निमित्त होता है। वह इतना ही कह सकता है, कि 'मैं प्रेम करता हूँ।' किस लिए? क्योंकि प्रेम करना उसका स्वभाव है। इसके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं जानता।

पर ऐसी दिव्य भावना उसीके हृदयमें उदय होगी, जिसने अपना सर्वस्व अपने प्रेमास्पदके चरणोंपर चढ़ा दिया है, जिसकी हस्ती अपने प्यारेकी मरज़ीमें समा गयी है। वह सिर्फ़ इतना ही कहना जानता है, कि—

जीता रखे तू हमको या धड़से सर उतारे,
अब तो फ़क़ीर आशिक़ कहता है यूँ पुकारे।
राज़ी हैं हम उसीमें, जिसमें तेरी रज़ा हो,
याँ यूँ भी वाह वा है और वूँ भी वाह वा है॥

इस तरहकी 'वाह वा' का आनन्द त्यागी ही ले सकता है। निस्सन्देह जो त्यागी नहीं, वह प्रेमी हो ही नहीं सकता। विश्वास न हो, तो इन प्रेमियोंको त्यागकी कसौटीपर कस क्यों नहीं लेते?

दखौ करनी कमलकी, कीनों जलसों हेत।
प्रान तज्यौ, प्रेम न तज्यौ, सूख्यौ सरहि समेत॥
मीन वियोग न सहि सकै, नीर न पूँछै बात।
देखि जु तू ताकी गतिहि, रति न घटै तन जात॥

प्रीति परेवाकी गनौ, चाह चढ़त आकास।
तहँ चढ़ि तीय जु देखतहिं परत छाँड़ि उर स्वास॥
सुमरि सनेह कुरंगकौ स्रवननि राच्यौ राग।
धरि न सकत पग पछमनो, सर सनमुख उर लाग॥
—सूर

ये सब-के-सब त्यागकी कठिन कसौटीपर खरे उतरनेवाले प्रेमी हैं। जिसे कुछ सीखना हो, इन उस्तादोंसे सीख ले, इन गुरुदेवोंसे मन्त्र-दीक्षा ग्रहण कर ले। इन्होंने भी जो कुछ सीखा है, वह किसी-के होकर ही सीखा है। लगन तो बस इनकी है। इन्होंने अपनेको प्रेमदेवके श्रीचरणोंपर उत्सर्ग करके ही प्रेमीका दुर्लभ पद पाया है। कौन बतला सकता है, कि कमलका सरोवरके साथ क्या सम्बन्ध है? मीनके प्रेमको नीरसे कौन पृथक् कर सकता है? कपोत-व्रतकी तुलना किससे करोगे? प्रेम-शूर कुरंगके आत्मार्पणका पता किस समझदारको है? ये सभी किसी-न-किसीके हो चुके हैं। इसीसे इनकी पवित्र स्मृतिको सहृदयजन सदासे अपने मनोमन्दिरमें पूजते चले आते हैं। ये बड़े ऊँचे दरजेके त्यागी हैं। अपना सर्वस्व तृणवत् त्याग चुके हैं। इनका इनके पास अब है ही क्या? अपनी हस्तीको इन्होंने ख़ाकमें मिला दिया है। त्यागमयी दीनताके अवलम्बसे ही हम अपने लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं। सुकवि मीर कहते हैं—

हम इज्ज़से पहुँचे हैं मक़सदकी मंज़िलको,
वह ख़ाकमें मिल जावे जो उससे मिला चाहे।

× × × ×

जो उत्सर्ग करना नहीं जानता, उसे प्रेम करनेका कोई अधिकार नहीं। कहा भी है—

Whosoever is not ready to suffer all and to stand resigned to the will of his beloved is not worthy to be called a lover.

अर्थात्, जो अपने प्रेम-पात्रके अर्थ सब कुछ सहनेके लिए तैयार नहीं रहता, और उसकी मर्ज़ीपर अपनेको नहीं छोड़ देता, वह प्रेमी कहे जानेके योग्य नहीं। उसे फिर 'अपनापन' दिखानेका हक़ ही क्या ? उसमें अपना कुछ भी नहीं रह जाता। जो कुछ भी उसमें है, वह सब उसके प्रेम-पात्रका ही है—

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर॥

—कबीर

प्रेम और अपना मान, ये दो चीज़ें एक साथ कैसे रह सकती हैं—

पीया चाहै प्रेम-रस, राखा चाहै मान।
एक म्यानमें दो खड़ग, देखा-सुना न कान॥

—कबीर

किसी कविने कितना अच्छा कहा है—

प्रीति सु ऐसी आन, काँटेकी-सी तोल है।
तिल भरि चढ़ै गुमान, तौ मन सूई डगमगै॥

अतएव प्रेमीको तो मान-सम्मानकी आशा छोड़ ही देनी चाहिए। अपने मानको, अपने सुखको और अपने आपको जिसने प्यारेकी यादमें डुबो नहीं दिया, मिटा नहीं दिया, उसके हृदयमें वह राम कैसे रमेगा? इसलिए, भैया, तू तो—

तू को ; इतना मिटा, कि तू न रहे ,
और तुझमें दुईकी बू न रहे ।

पहले अपनेको खो दे, तब उसे खोजने चल—

पहले आपु जो खोवै, करै तुम्हार सो खोज ।

—जायसी

अपनी खुदीको मिटाते ही तू बरबस यह कह उठेगा, कि—

दिया हमने जो अपनी खुदीको मिटा ,
वह जो परदा था बीचमें, अब न रहा ।
रहा परदेमें अब न वह परदेनशीं ,
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा !

जब तू दुईको दूर करके अपने दिलको साफ़ कर लेगा, तभी तुझे उस दीवाने दिलवरकी झलक झाँकनेको मिलेगी। ओ मेरे भोले भाई, उस बेनिशाँको तो तू बेनिशाँ होकर ही पा सकेगा—

न पा सकते जिसे पाबंद रहकर क़ैदे हस्तीमें ,
सो हमने बेनिशाँ होकर तुझे, ओ बेनिशाँ, पाया !

—हसरत मोहानी

उसे पा लेनेपर फिर ऐसा कौन-सा बन्धन है, जो तुझे जकड़ सकेगा? न कोई नियम रहेगा, न नियन्त्रण। न क़ायदा रहेगा,

न कानून। प्रेमी किस कानूनकी गिरफ्तमें आ सकता है ? प्रेम ही तेरा बन्धन होगा, प्रेम ही तेरा नियम होगा और प्रेम ही तेरा कानून होगा—

Who can give a law to lovers,
A greater law is love unto itself.

प्रेमी ! उस दिन तुझे वह चीज़ मिल जायगी, जिसके लिए तू जन्म-जन्मसे लालायित रहा आया है। उस दिनका प्रिय-मिलन तेरे अन्दरकी उलझी हुई गाँठको खोल देगा, तेरी सारी शंकाओंको छिन्न-भिन्न कर देगा और तेरे अनेक जन्मोंका लेखा-जोखा बेबाक कर देगा—

भिद्यते हृदय-ग्रन्थिः, छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

इस अवस्था तक पहुँच जानेका राज-मार्ग त्यागपूर्ण प्रेम ही निःसन्देह है। उत्सर्ग या आत्म-बलिदानसे ही इष्टस्थान प्राप्त हो सकता है। प्रेमीको यह आवश्यक है, कि जो कुछ उसके पास है, वह सारा-का-सारा प्रेमदेवकी भेंट कर दे। फ़िदा कर देनेका ही नाम मुहब्बत है—

मुहब्बतमें ये लाज़िम है, कि जो कुछ हो फ़िदा कर दे।

—जिगर

× × × ×

प्रेमी न तो इस लोककी ही पर्वा करता है और न उस लोककी ही। कितना ही उसका अपमान हो, कितने ही उसपर

कलंक लगाये जायँ, पर वह अपनी ही धुनमें मस्त रहेगा। तन चला जाय, मन चला जाय और प्राण भी चले जायँ, पर वह प्रेमोन्मत्त पथिक अपने प्यारे पथसे हटनेका नहीं। वह तो, बस, प्रेमपर कुछ-न-कुछ चढ़ाता ही जायगा। किसी दिन अपने आपको भी उस प्यारी वेदीपर बलि कर देगा। रोको, कितना रोकते हो। बाँधो, कितना बाँधते हो। वह किसी भी तरह माननेका नहीं, रुकनेका नहीं। एक कृष्णानुरागिनी गोपिका कहती है—

कोऊ कहौ कुलटा, कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि कलंकिनि कुनारी हौं;
कैसो परलोक, नरलोक वर लोकनमें,
लीनी मैं अलीक, लोक-लीकनतें न्यारी हौं।
तन जाव, मन जाव, 'देव' गुरुजन जाव,
जीव क्यों न जाव, टेक टरति न टारी हौं;
वृन्दावनवारी बनवारीके मुकुटपर-
पीतपटवारी वहि मूरतिपै वारी हौं॥

इस विकल व्रजाङ्गनाकी प्रीति-सरिताको कौन बाँधकर रोक सकता है? लोक-परलोकके बड़े-बड़े पर्वतोंको तोड़ती-फोड़ती हुई वह तो कृष्ण-महोदधिसे मिलकर ही दम लेगी। कितना ऊँचा आत्मोत्सर्ग है! धन्य!

तन जाव, मन जाव, 'देव' गुरुजन जाव,
जीव क्यों न जाव, टेक टरति न टारी हौं।

जब उसने ऐसी कठिन टेक पकड़ ली है, तब वह पीतपट-वाला साँवला उस हठीली ग्वालिनीको क्यों न निहाल करेगा? गोसाईं तुलसीदासजीकी यह धारणा है—

जाकर जापर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु सन्देहू॥

पर कठिनता तो यह है, कि सत्य स्नेह हमारे इन नीरस हृदयोंमें कैसे अंकुरित होगा? प्रेम-रसका खेल तो वही खेल सकेगा, जो अपने सरके साथ खेलना जानता होगा। जिसे प्रेम-का थपेड़ा लग चुका है, वही प्यारेके पैरों तक पहुँच सकेगा—

परै प्रेमके झेल पिउ सहुँ धनि मुख सो करै।
जो सिरसेंती खेल, 'मुहमद' खेल सो प्रेम-रस॥

—जायसी.

बात वही है। सरफ़रोशीके निशानेपर ही सब तीरंदाज़ों-की नज़र अटकी हुई है। एक ही सवालपर सबने ज़ोर दिया है। यदि प्रेमी होना चाहते हो, यदि अमर जीवन चाहते हो, तो अपने प्रेमास्पदके चरणोंपर अपने प्राणोंकी तुच्छ पुष्पाञ्जलि चढ़ा दो। खुशी-खुशी अब भी कह दो—

दिखलाके सरफ़रोशी तोड़ेंगे हुक्म सारी।
मर-मरके ज़िन्दा होंगे, यह ज़िन्दगी हमारी॥

अगर आशिक़ होनेका शौक़ रखते हो, तो प्रेमके मैदान पर अपने सरके गेंदको उछाला करो। आदिसे अन्ततक प्रेमीके जीवनमें आत्म-बलिदान ही व्यापकरूपसे मिलेगा। इब्तिदा

भी जाँनिसारी और इन्तिहा भी जाँनिसारी! प्रीति कितनी महँगी चीज़ है। कौन ख़रीदार है इसका—सरके मोल बिकती है, साहब, सरके। है कोई खरा गाहक?

कहा कोउ प्रेम बिसाहन जाय?
महँग बड़ा, गथ काम न आवै, सिरके मोल बिकाय॥
तन मन धन पहिले अरपन करि, जगको सुख न सुहाय।
तजि आपा आपुहि ह्वै जीवै, निज अनन्य सुखदाय॥

—भीखा

लाखों-करोड़ों साधकोंमें ऐसे ऊँचे प्रेमी कहीं एक-दो मिलेंगे। ऐसे ही प्रेमानुरागियोंपर भगवान्का सहज स्नेह है। उन अनन्य भक्तोंके योग-क्षेमका भगवान्को सदा ध्यान रहता है। यह कहते-कहते आप अघाते भी नहीं—

हम भक्तनके, भक्त हमारे।
सुन अर्जुन, परतिग्या मेरी यह व्रत टरत न टारे॥

पर किन भक्तोंके आप अनुगामी हैं? उन्हींके, जिनपर उस मस्त कविने यह कहा है, कि—

जा सिरसेंती खेल, 'मुहमद' खेल सो प्रेम-रस।
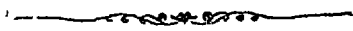
प्रेमका अधिकारी

मका असली अधिकारी करोड़ोंमें कहीं एक मिलता है। दर्दका मर्म किसी कसकीले दिलवालेके ही आगे खोला जाता है। जो स्वयं ही प्रेमी नहीं, वह प्रेमका भेद कैसे समझ सकेगा? कबीर साहब इस बेदर्दी दुनियाके रंग-ढंगसे ऊबकर अपने मनसे कहते हैं, कि अपनी राम-कहानी किसे जाकर सुनायँ, अपना रोना किसके आगे रोया जाय। दर्द तो कोई जानेगा नहीं, उलटे सब हँसेंगे—

> कह कबीर, दुख कासों कहिए, कोई दरद न जानै।

इससे अपनी मीठी मनोव्यथा मनमें ही छिपा रखनी चाहिए। अनधिकारियोंके आगे अपना दुःख रोनेसे लाभ ही क्या? व्यथाको बाँट लेनेवाला तो कोई है नहीं, सुनकर लोग उलटे अठलायँगे। रहीमका यह सरस सोरठा किस सहृदयकी आँखोंसे दो बूँद आँसू न गिरा देगा—

> मन ही रहिए गोय, 'रहिमन' या मनकी व्यथा।
> बाँटि न लैहै कोय, सुनि अठिलैहैं लोग सब॥

कहो, किसे प्रेमका अधिकारी समझें! किसे अपनी प्रेम-गाथा सुनायँ। क्या कहा, कि किसी पण्डित या ज्ञानीको अपनी व्यथा-कथा क्यों नहीं सुना देते, क्या ज्ञानी भी तुम्हारी

प्रेम-वेदना सुननेका अधिकारी नहीं है ? नहीं, वह प्रेम-प्रीतिका अधिकारी नहीं है। वह विद्याभिमानी ज्ञानी प्रेम-कथाको क्या समझेगा—

अन्धे आगे नाचते, कला अकारथ जाय।

शास्त्रोंके मनोमुग्धकारी मार्गमें वह नेत्रवान् हुआ करे, पर प्रेम-पन्थमें तो वह नेत्र-विहीन ही है। अन्धेके आगे नाचनेसे कोई लाभ ? तो फिर किसी नियम-निरत योगीको ढूँढ़ लाओ। तुम्हें तो किसी श्रोतासे ही प्रयोजन है न ? वह ज़रूर तुम्हारे दिलकी बात समझ लेगा, और तुम्हारी अन्तर्व्यथापर सहानुभूति भी प्रकट कर देगा। प्रेमका तो उसे अवश्य अधिकारी होना चाहिए। नहीं, भाई ! नेमी और प्रेमीमें पृथिवी-आकाशका अन्तर है। वह प्रेमका अधिकारी कदापि नहीं हो सकता। इससे—

कोऊ कहूँ भूलि जिन कहियो नेमीसों यह बानी
कैसे भिदै तासु उर-अन्तर, ज्यों पाथरमें पानी॥

—बख्शी हंसराज

नियमी बेचारा तो यम-नियमकी ही बातें सुनना चाहेगा। प्रेम-व्यथाकी यह अकथनीय कथा तो आदिसे अन्ततक नियम-नियंत्रण-से परे है। बेचारा सुनते-सुनते थक जायगा। उसका मन ही न लगेगा। बड़ी लम्बी-चौड़ी कहानी है। दूसरे, इसका कहना भी महान् कठिन है। यह तो अन्तस्तलकी कथा है, जिगरकी कहानी है। जिसे पढ़ना हो, कलेजा चीरकर पढ़ ले। पर ऐसा

प्रेमाधिकारी तो उस प्रेम-प्यारेको छोड़ दूसरा कोई नज़र आता नहीं—

> मेरी ये प्रेम-व्यथा लिखिवेकों गनेस मिलैं तौ उन्हींतें लिखावौं।
> व्यासके शिष्य कहाँ मिलैं मोहिं, जिन्हैं अपनो विरतान्त सुनावौं॥
> राम मिलैं तौ प्रनाम करौं, कवि 'तोप' बियोग-कथा सरसावौं।
> पै इक साँवरे मीत विना यह काहि करेजो निकारि दिखावौं॥

× × × ×

यों तो इस जगत्‌में 'प्रेमी' उपाधि-धारी सैकड़ों-सहस्रों महापुरुष मिलेंगे, पर उनमें भुक्त-भोगी प्रेमाधिकारी तो कदाचित् ही कहीं कोई एकाध देख पड़े। तालाबमें मछली भी रहती है और मेढ़क भी रहता है। दोनों ही जलचर हैं, जलके जीव हैं। पर नीरके प्रेमकी अधिकारिणी एक मछली ही है। अब कहो, जल-वियोगकी व्यथा सुनने या समझनेका सच्चा अधिकार मेढ़कको है या मीनको ?

> जिन नहिं समुझ्यौ प्रेम यह, तिनसों कौन अलाप ?
> दादुर हू जलमें रहै, जानै मीन मिलाप॥
>
> —ध्रुवदास

इस मतलबी दुनियामें मेढ़क-जैसे नामधारी प्रेमी तो पग-पगपर मिल जायँगे, पर मीनकी जातिका प्रेमाधिकारी शायद ही कहीं कोई मिले। बख्शी हंसराजने, 'सनेह-सागर'में क्या अच्छा कहा है—

चाहनहारे सुख-संपतिके जगमें मिलत घनेरे ।
कोऊ एक मिलत कहुँ प्रेमी, नगर-बगर सब हेरे ॥

परम प्रेमी आनन्दघनने अपनी करुण-कलापिनी कविता-के अधिकारीकी जो व्याख्या की है, प्रायः वही प्रेमाधिकारी-की भी परिभाषा है। जिसके हृदय और नेत्रोंमें एक प्रेमकी पीर, लगनकी एक मीठी-सी कसक या हूक उठा करती है, वही अनुरागी आनन्दघनकी कविता या किसी प्रेमीकी प्रेम-कहानी सुनने और समझनेका सच्चा अधिकारी है—

प्रेम सदा अति ऊँचो लहै, सु कहै इहि भांतिकी बात छकी।
सुनिकैं सबके मन लालच दौरै, पै बौरै लखैं सब बुद्धि चकी ॥
जगकी कविताईके धोखें रहैं, ह्यां प्रवीननिकी मति जाति जकी।
समुझै कविता 'घनआनंदकी' हिय आँखिन नेहकी पीर तकी ॥

इस अधिकारका पाना कितना कठिन है, कैसा दुर्लभ है, इसे कौन कह सकता है। प्रेमी होना चाहे कुछ आसान भी हो, पर प्रेमका अधिकारी होना तो एकदम मुश्किल है। बड़ी टेढ़ी खीर है। सिंहिनीका दूध दुह लेना चाहे कुछ सुगम भी हो, पर प्रेमका अधिकार प्राप्त कर लेना तो महान् कठिन है।

हमारी मनोव्यथा सुनने-समझनेका अधिकारी तो वही हो सकता है, जिसे अपना शरीर दे दिया है, मन सौंप दिया है, और जिसके हृदयको अपना निवास-स्थान बना लिया है अथवा जिसे अपने दिलमें बसा लिया है। उससे अपना क्या भेद छिपा

रह सकता है। ऐसे प्रेमीको अपनी रामकहानी सुनाते सचमुच बड़ा आनन्द आता है, क्योंकि वही उसके सुनने-समझनेका सच्चा अधिकारी है। रहीमने कहा है—

> जेहि 'रहीम' तन मन दियौ, कियौ,हिये विच भौन।
> तासों सुख दुख 'कहनकी' रही बात अब कौन ?

ज्ञानी अथवा सिद्ध प्रेमाधिकारी नहीं हो सकता, किन्तु प्रेमाधिकारी निस्सन्देह ज्ञानी और सिद्धकी अवस्थाको अनायास पहुँच जाता है। जो प्रेमकी कहानी सुन और समझ सकता है, वही तो ज्ञानी और सिद्ध है—

> कहै प्रेम कै बरनि कहानी। जो बूझै सो सिद्ध गियानी॥
>
> —जायसी

लौकिकसे पारलौकिक प्रेम

कहीं भी हो, कोई भी हो, कुछ भी हो, तुम्हारे जीवनमें प्रेमका एक निश्चित लक्ष्य तो, भाई, होना ही चाहिए। बिना किसी प्रेम-लक्ष्यके यह जीवन, जीवन नहीं। प्रेमकी ऊँची अवस्थातक नहीं पहुंच सके, न सही, कोई चिन्ता नहीं। इतना क्या कम है, कि तुम प्रेम करना तो जानते हो, तुम्हारा कोई प्रेम-पात्र तो संसारमें है। किसी दिन प्रेमकी साधना साधते-साधते उस ऊँची अवस्थाको भी तुम प्राप्त कर लोगे। तुम्हारा यह लौकिक प्रेम, यह इश्क़ मजाज़ी ज़रूर किसी दिन तुम्हें इश्क़ हक़ीक़ी तक पहुंचा देगा। पर इतना याद रहे, कि तुम्हारा लौकिक प्रेम भी सच्ची लगनमें रँगा हुआ हो, दिली दर्दसे भरा हो, चोटीले हृदयकी एक कसक हो। इस प्रकारका ही लौकिक प्रेम पारलौकिक प्रेममें परिणत हो सकेगा, अन्यथा वह मोहरूप होकर तुम्हारे पतनका कारण हो जायगा। पारलौकिक प्रेम प्राप्त नहीं हुआ—इस निराशासे लौकिक प्रेमसे भी विमुख हो जाना महा मूर्खता है। बिल्कुल ही प्रेम न करनेसे मोहवश होकर ही किसीसे प्रेम करना फिर भी कहीं अच्छा है। एक विद्वान्‌का कथन है—

It is best to love wisely, no doubt but to love foolishly is better than not to be able to love at all.

अर्थात्, इसमें सन्देह नहीं, कि बुद्धिमानीके साथ प्रेम करना सर्वोत्कृष्ट है, पर बिल्कुल ही प्रेम न करनेकी अपेक्षा मूर्खतासे ही प्रेम करना तो भी कहीं अच्छा है। सारांश यह कि, मानव-जीवनमें प्रेमका होना अत्यन्त आवश्यक है, या यों कहिए, कि प्रेमका ही नाम जीवन है।

सौ बातकी बात तो यह है, कि यदि तुम अपने जीवनको सफल बनाना चाहते हो तो किसीके हो जाओ, किसीको अपना बना लो। यहाँ आकर कुछ सीखना है, तो किसीके होकर ही तुम सीख सकोगे। ज़फ़रने क्या अच्छा कहा है—

न कुछ हम हँसके सीखे हैं, न कुछ हम रोके सीखे हैं।
जो कुछ थोड़ा-सा सीखे हैं किसीके होके सीखे हैं॥

कैसी दिल्लगी है—प्रेमका 'श्रीगणेश' तक तो किया नहीं, इश्क़का 'अलिफ़ बे' भी तो पढ़ा नहीं, और खोजने चले हो उस ला-मकाँ प्यारेका मकान! उस राम या रहीमका घर ही बनाना है, उसका मन्दिर या मसजिद ही तुम्हें खड़ी करनी है, तो पहले किसीके दिलका नक़शा लो, और फिर उसी नक़शेको सामने रखकर उस प्यारे सिरजनहारके मकानको बना डालो। मतलब यह, कि इश्क़ मजाज़ीसे इश्क़ हक़ीक़ीकी तरफ़ क़दम बढ़ाते जाओ। यह सुनहला भाव महाकवि अकबरकी लेखनीसे निकला है। सो, अब उन्हींके मधुर शब्दोंमें सुनिए—

ख़ुदाका घर बनाना है, तो नक्शा ले किसी दिलका,
य दीवारोंकी क्या तजवीज़ है, ज़ाहिद य छत कैसी ?

अगर किसीके दिलका नक्शा लेकर तुमसे उस प्यारेका मकान-मन्दिर बनाते न बना, तो फिर न तो तुम्हें उसका दर्शन काशीमें ही मिलेगा और न काबेमें ही। अन्तमें, तुम्हें भी सुकवि 'दर्द' के साथ, पछताकर यही कहना पड़ेगा कि--

बुतख़ाना बरहमनका मुक़र्रर देखा,
काबाको भी शेखके मैं अकसर देखा।
दिल लगनेकी सूरत न कहीं देखी हाय !
जो कुछ देखा सो ख़ाक पत्थर देखा।

हाँ, सिवा ख़ाक पत्थरके देखनेको और मिलेगा ही क्या ! दिल लगनेकी सूरत तभी न देखोगे, जब कहीं दिल लगाया होगा। प्रेम-साधना तो कभी कहीं की नहीं, आज कहते हो, कि—

दिल लगनेकी सूरत न कहीं देखी हाय !

वाह, साहब, वाह ! बुतख़ाने या काबेमें बिना प्रेमके वह प्यारा मिलनेका नहीं। पहले, भाई, कहीं प्रेम करना सीखो, पीछे मन्दिर और मसजिदमें उसे खोजने जाओ। काबे जानेकी तुम्हें ज़रूरत ही न पड़ेगी। प्रेम-मन्दिरमें ही तुम्हें काबा नज़र आ जायगा, प्रेम-पात्रमें परमात्माका पवित्र दर्शन हो जायगा। कवि कहता है—

बुतमें भी तेरा या रब ! जल्वा नज़र आता है ।
बुतख़ानेके परदेमें काबा नज़र आता है ॥

महात्मा नागरीदासजीने, अपने इश्कचमनमें, लिखा है—

कहूँ किया नहिं इश्कका इस्तैमाल सँवार ।
सो साहिब सों इश्क़ थए कर क्या सकै गँवार ॥

× × × × ×

लौकिक पक्षसे अलौकिक पक्षकी ओर जाता हुआ प्रेमी कहता है—

हौं रे पथिक ! पखेरू जेहि वन मोर नियाहु ।
खेलि चला तेहि बन कहँ, तुम अपने घर जाहु ॥

—जायसी

जिससे यहाँ प्रेमका खेल खेलते नहीं बना, वह गँवार उस प्यारे खेलनहारके साथ वहाँ भी कोई खेल न खेल सकेगा। सच मानो, भाई !

सो साहिब सों इश्क़ वह कर क्या सकै गँवार ।

वह लौकिक प्रेममें मतवाला भी कितना बड़भागी है, कैसा पहुँचा हुआ है, जो अपने प्रेम-पात्रसे यह कहता हुआ अमर-धामको जा रहा है !

परस्तिशकी याँ तक कि, ऐ बुत ! तुझे,
नज़रमें सबोंकी ख़ुदा कर चले ।

—मीर

प्यारे, ईश्वरका आराधन करना भला मैं क्या जानूँ। मैंने तो एक तेरी ही उपासना की है, तुझे ही ईश्वर माना है। सो, आज मैं तुझे केवल अपनी ही दृष्टिमें नहीं, बल्कि सारे जहानकी नजरमें .खुदा बनाकर जा रहा हूँ। इन हजरतने, देखा, किस मज़ेके साथ दुनियाबी प्रेमसे .खुदाई प्रेमकी तरफ़ अपने जीवनकी आख़िरी मंज़िल तय की है! खूब किया, यार, जो—

नज़रमें सबोंकी ख़ुदा कर चले!

प्रम तो प्रेम ही रहेगा, चाहे वह किसी व्यक्तिविशेषके प्रति हो, चाहे ईश्वरके प्रति। पर जो प्रेम ही नहीं है, वह ईश्वर परमेश्वरके प्रति होनेपर भी प्रेम नहीं है। लौकिक हो वा अलौकिक, मजाज़ी हो या हक़ीक़ी, किसी भी दरजेका हो, पर होना चाहिए वह प्रेम सच्चा। विश्व-विख्यात प्रेमी मजनूँका प्रेम कितना ऊँचा, कितना सच्चा और कितना पवित्र था! क्या ही अद्वितीय अनन्यता थी मजनूँके प्रेममें! एक दिन परमात्माने प्रकट होकर उस पगलेसे कहा—'अरे मूर्ख! तू मेरी उपासना क्यों नहीं करता? क्यों एक मामूली लड़कीके प्रेममें अपनेको तबाह कर रहा है?' इसपर अल्लाहको हज़रत क्या जवाब देते हैं—'मुझे क्या पड़ी है, जो तुझे पूजता फिरूँ! मैं अपनी लैलाके सिवा और किसीको नहीं पहचानता। क्या हुआ जो तू .खुदा है। मैं तेरी तरफ़ देखूँगा भी नहीं। तू मेरी प्यारी लैला तो है नहीं। हाँ, लैलाकी प्यारी सूरतमें जो तूने अपना दीदार दिया होता तो ज़रूर यह ख़ाकसार तेरे क़दमोंपर अपना सर रख

देता, तुझे अपनी आँखोंपर बिठा लेता, अपने दिलके अन्दर छुपा लेता। पर मुश्किल तो यह है, कि तू लैला नहीं है, एक मामूली ख़ुदा है।' वाह! अल्लाह भी मजनूँको लैला ही नज़र आता है।

अकथ कहानी प्रेमकी जानत मजनूँ ख़ूब।
दो तनहूँ जहँ एक भे मन मिलाय महबूब॥
—रसखानि

क्या सुना नहीं, कि—

ख़ूँ रगे मजनूँके निकला फस्द जो लैलीकी ली!

मजनूँके इस प्रेमको प्राकृत कहोगे अथवा अप्राकृत? लौकिक कहोगे या पारलौकिक? हम तो इस प्रेमको प्रेम ही कहेंगे; कौन प्राकृत-अप्राकृतके झगड़ेमें पड़े। हमारी समझसे तो यही इश्क़, इश्क़ है। इश्क़की सच्ची सूरतमें क्या तो मजाज़ी और क्या हक़ीक़ी। प्रेमका वास्तविक रूप यही है, और प्रेमका आलौकिक आदर्श भी यही है।

× × × ×

क्या करोगे इस खाली दिलका, इस रीते हृदय-घटका। नाहक़ लिये-लिये फिरते हो अपने इस प्रेमसे खाली दिलको। कहीं इसे दे क्यों नहीं देते? इसपर किसीकी तसवीर क्यों नहीं खिंचा लेते? इस खाली घरको आबाद क्यों नहीं कर लेते, भाई! जबतक अपने हृदय-मन्दिरमें तुमने परम प्रेमकी ज्योति नहीं जला ली तबतक वहां घट-घट-विहारी राम भी रमनेका नहीं। यह

जानते हो न, कि सूने अँधेरे घरमें भूत-प्रेत अपना अड्डा जमा बैठते हैं, शैतान वहाँ आकर बसने लगता है ? तब क्यों व्यर्थ अपने सरस हृदयको प्रेम-शून्य बनाकर अमूल्य जीवन नष्ट कर रहे हो ? अपना यह खाली दिल प्रेमी दिलदारको क्यों नहीं सौंप देते ? जबतक तुम्हारा दिल प्रेमसे खाली है, तभीतक वह खुदीका घर है, और यह तो तुम जानते ही हो कि खुदी और खुदा—अहंकार और ईश्वर—एक साथ नहीं रह सकते। यों कबतक बेहोश पड़े रहोगे ! खुदीको वहांसे निकालकर बेखुदीका आनन्द क्यों नहीं लूटते ? पर जबतक तुम किसीके हो नहीं गये, तबतक बेखुदीका मीठा-मीठा मज़ा मिलनेका नहीं। अब भी किसी द्वारपर अड़के बैठ क्यों नहीं जाते ? बस, कह दो—

हज़रते 'दाग़' जहाँ बैठ गये, बैठ गये,
और होंगे तेरी महफ़िलसे उभरनेवाले।

कोई पूछे, कि इसी एक द्वारपर क्यों अड़के बैठ गये, अपने हृदय-घटसे सारा प्रेम-रस इसी एक जगहपर क्यों उँड़ेल दिया, तो, बोलो, क्या जवाब दोगे ? सोचने-विचारनेकी बात ही क्या है, चटसे कह देना—

यकजा अटकके रहता है दिल हमारा, वर्ना,
सबमें वही हक़ीक़त दिखलाई दे रही है।

—मीर

कह देना—

जहँ देखौं तहँ एक ही साहिबका दीदार।

—कबीर

क्या करें, हमारा यह दिल एक ही जगहपर अटक-कर रह जाता है, एकहीका होकर रहता है, वर्ना हमें संसारकी सब वस्तुओंमें उसी सर्वव्यापी प्रभुकी अनन्त विभूति दिखायी दे रही है। मीर साहबकी यह धारणा लौकिक पक्षसे अलौकिक पक्षकी ओर ले जानेकी क्या ही अच्छी कुञ्जी है। सांसारिक प्रेम, निस्सन्देह, दिव्य स्वर्गीय प्रेममें परिणत किया जा सकता है। पर यह स्मरण रहे, कि शुद्ध निष्काम प्रेम ही ईश्वरीय प्रेममें परिणत हो सकेगा।
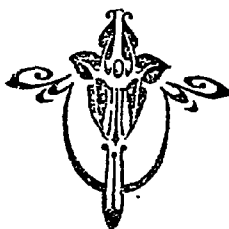
प्रेममें तन्मयता

ज्ञानाभिमानी महापुरुष अद्वैतवादमें ही तन्मयताको स्थान देते हैं। कहते हैं, ब्रह्मात्मैक्यमें ही तन्मयताकी परिपूर्ण अनुभूति होती है। सत्य है, इसे कौन अस्वीकार करेगा, किन्तु हमारा यह निवेदन है कि तन्मयताका अनुभव अन्यत्र भी हो सकता है और होता है। प्रेम-संसारमें भी हम उसे देखते हैं। प्रीति-वाटिकामें भी तल्लीनता-लताको हम लहलही पाते हैं। अत्युक्ति ही सही, मुबारक हो हमें यह मुबालगा, हम तो तन्मयताकी दशाको जिस स्पष्टरूपमें प्रेमियोंके दिलोंमें देखते हैं, उस रूपमें ब्रह्मात्मैक्य-वादियोंको शायद ही कभी वह अनुभवमें आती हो। वे कहते हैं, 'सोऽहमस्मि'—वह मैं हूं—अथवा 'तत्वमसि' वह तू है। यहाँ 'सः' और 'अहम्' अथवा 'तत्' और 'त्वम्' इन दो-दो शब्दोंका फिर भी कुछ-न-कुछ स्मरण तो रहता ही है, परन्तु प्रेमीकी तो प्रेम-तन्मयतामें, भाई, कुछ विलक्षण ही दशा हो जाती है। उसे इतना भी तो ख़याल नहीं रहता कि 'वह' मुझमें है, या 'मैं' उसमें हूं, वह 'मैं' है या मैं 'वह' हूं! तनिक देखो तो इस तदाकारताको—

कान्ह भये प्रानमय, प्रान भये कान्हमय,
हियमें न जानि परै कान्ह है कि प्रान है!

सबसे पहले तो उस मोहनके गुणोंमें मेरे ये श्रवण जाकर लीन हो गये, फिर उसके रूप-सुधा-रसमें मेरी आँखें डूबकर लापता हो गईं। जैसे दूधमें पानी मिलकर एकरूप हो जाता है, उसी भाँति मेरी मति भी रसिकवर ब्रजचन्द्रकी मन्द मुसकान, चुभीली चितवन आदि और प्रेमकी चतुरता और रसिकतामें घुलकर एकरस हो गई, मेरी मति भी मेरी न रही। अरी, मेरा यह मन भी उस मोहनके माधुर्यपर मुग्ध हो-होकर मोहनमय ही हो गया। फिर क्या हुआ, कुछ समझमें नहीं आता। सुध भी नहीं है। कृष्ण प्राणमय हो गये या प्राण कृष्णमय हो गये! कोई बता सकता है मेरे हृदयमें कृष्ण हैं या प्राण? इस दिव्य भावको अब भावुक कविकी ही पीयूष-वर्षिणी वाणीमें सुनिए—

पहिले ही जाय मिले गुनमें स्रवन, फेरि—
रूप-सुधा-मधि कीनों नैनहूँ पयान है,
हँसनि, नटनि, चितवनि, मुसुकानि,
सुघराई, रसिकाई मिली मति पय-पान है।
मोहि-मोहि मोहनमयी री मन मेरो भयो,
'हरीचन्द' भेद न परत कछु जान है,
कान्ह भये प्रानमय, प्रान भये कान्हमय,
हियमें न जानि परै कान्ह है कि प्रान है॥

प्राण क्यों इतने प्यारे हैं? इसलिए कि वे प्रियतममय हैं, और प्रियतम क्यों इतना प्यारा है? क्योंकि वह प्राणमय है।

कैसा ऊँचा तादात्म्य है। क्षमा करें अद्वैत-वेदान्तवादी, उनके 'सोऽहम्' आदि महावाक्योंसे हमें तो हरिश्चन्द्रकी यह सूक्ति ही ऊँची जँची है। उर्दूके सुप्रसिद्ध कवि जिगर भी एक शेरमें तन्मयताकी कुछ ऐसी ही तसवीर खींच रहे हैं। उन्हें भी अपनी बेहोशीमें कुछ ऐसी ही सूझी है। वह भी प्यारेकी याद और अपने दिलकी पहचानमें आज असमर्थ हैं। कहते हैं—

कुछ खटकता तो है पहलूमें मेरे रह-रहकर,
अब ख़ुदा जाने, तेरी याद है या दिल मेरा।

रह-रहकर किसी चीज़के खटकने भरका ख़याल है, यह नहीं बताया जा सकता कि वह क्या खटक रहा है—प्रियतमकी याद है या प्रेमीका दिल है? तन्मयताकी बेहोशी जो है। ग़ालिबने भी क्या अच्छा कहा है—

हम वहां हैं, जहांसे हमको भी
कुछ हमारी ख़बर नहीं आती।

सबने सब कुछ कहा है, पर—

कान्ह भये प्रानमय, प्रान भये कान्हमय,
हियमें न जानि परै कान्ह है कि प्रान है।

हरिश्चन्द्रके इन सुनहले शब्दोंमें प्रेम-तन्मयताकी कुछ विलक्षण ही प्रभा दिखाई देती है। यह बातही कुछ और है।

× × × ×

महाकवि देवने मोहनके मुग्ध मनको राधामय और राधाके प्रेमोन्मत्त मनको मोहनमय अंकित किया है। कविने

दोनोंका पारस्परिक प्रेम पराकाष्ठाको पहुँचाकर तन्मयतामें लीन कर दिया है। दोनों एक दूसरेपर रीझते हैं, पुलकित होते हैं और हँसते हैं। दोनों आहें भरते हैं, आँखें डबडबाते हैं, और विरहमें 'हा दई, हा दई!' पुकारा करते हैं। कभी चौंक पड़ते हैं, कभी चकित हो जाते हैं, कभी उचक पड़ते हैं, कभी जके-से रह जाते हैं और कभी जो मनमें आया वही बकने लगते हैं। दोनों ही एक दूसरेके रूप और गुणोंका बखान करते फिरते हैं। वे दोनों घरमें तो एक क्षण भी नहीं ठहरते। दोनों प्रेमी प्रेमकी कैसी नयी-नयी रीति निकालते रहते हैं! प्रेममें दोनों ही तन्मय हो रहे हैं। मोहनका मन राधामय और राधाका मन मोहनमय हो गया है। क्या ही ऊँची तल्लीनता है—

> रीझि-रीझि, रहसि-रहसि, हँसि-हँसि उठैं,
> सासैं भरि, आँसू भरि, कहत दई दई।
> चौंकि-चौंकि, चकि-चकि, उचकि-उचकि 'देव'
> जकि-जकि, बकि-बकि, परत बई बई।
> दुहुँन कौ रूप-गुन दोऊ बरनत फिरैं,
> घर न थिरात, रीति नेह की नई नई;
> मोहि-मोहि मोहन कौ मन भयौ राधिकामै,
> राधा-मन मोहि-मोहि मोहनमई-मई॥

प्रेम-तन्मयताका एक प्रसंग याद आ गया है। वेदान्त-पारंगत उद्धव प्रेम-रँगीली गोपिकाओंको योग-शिक्षा देने आये हैं। पर वे गँवार गोपियाँ गुरु महाराजसे दीक्षा नहीं ले रही हैं।

कहती हैं, न तो हमें यम-नियम आदि साधनेकी ही आवश्यकता है, और न प्राणायाम, ध्यान-धारणा वा समाधिकी ही। वियोगिनी होती हुई भी आज हम वियोगिनी नहीं हैं। वियोग हो, तभी न योग साधकर प्रियतमसे मिलनेका प्रयत्न करें! पर जब हमें उस मोहनका वियोग ही नहीं है, सदा प्यारेके संयोग-सुख-सरोवरमें ही जब हम डूबी रहती हैं, तब तुम्हारा यह तुच्छ योग हमारे किस कामका? हमारा प्यारा जो यहाँ मौजूद न हो, तो उसे ध्यानमें देखनेका अभ्यास किया करें। हम सब तो अब नखसे शिखा तक श्याममयी हो रही हैं। व्यर्थ ही तुम योगका पोथा हमारे आगे खोल रहे हो। उद्धव महाराज! व्रत और नियमादिका साधन तभी किया जाता है न, जब हृदय प्रेम-शून्य हो? श्यामसुन्दरका मुख-मुकुल हमारी आँखोंमें प्रफुल्लित न हुआ होता तो तुम्हारे बताए योगाभ्यास-की साधना हम अवश्य करतीं। प्रियतमके मिलनकी आशा न होती, तो हम हठयोग-आसन भी लगाती रहतीं। इसी तरह प्राणायामकी भी क्या ज़रूरत आ पड़ी है? तल्लीन होनेके लिए ही योगाभ्यास किया जाता है; सो वह योगि-दुर्लभ तन्मयता तो हमें प्रेमके ही द्वारा प्राप्त हो चुकी है। इस भव्य भावको अब कविकी ही वाणीमें सुनिए—

जौ न जीमें प्रेम, तब कीजै व्रत-नेम,[1] जब
कंज-मुख भूलै तब संजम विसेखिए;

आस नहीं पीकी, तब आसन ही बाँधियतु,
सासन के साँसन कों मूँदि पति पेखिए।
नखतें सिखालों सब श्याममयी बाम भई
बाहर हूँ भीतर न दूजो 'देव' लेखिए :
जोग करि मिलैं जौ बियोग होय बालम, जौ
ह्याँ न हरि होय, तब ध्यान धरि देखिए ॥

सच कहिएगा, उद्धवजी महाराज! क्या अब भी व्रजकी गँवार गोपियोंको योग-दीक्षा देकर चेलियाँ बनानेका इरादा है? यदि नहीं तो अब आप खुद ही उनसे प्रेम-दीक्षा लेकर उनके शिष्य क्यों न हो जायँ? आप भी उन प्रेम-मतवालियोंके साथ झूमते हुए अलाप उठें—

कान्ह भये प्रानमय, प्रान भये कान्हमय,
हियमें न जानि परै, कान्ह हैं कि प्रान हैं।

× × × ×

कैसी होती होगी प्रेमी साधककी वह अलौकिक अवस्था, जिसमें उसके मुखसे प्रेम-तन्मयताके ये दिव्य उद्गार निकलते होंगे! अहा!

तूँ तूँ करता तूँ भया, तुझमें रहा समाय,
तुझमें तन-मन मिल रहा, अब कहुँ अनत न जाय॥
तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी तेरे प्रेमपर, जित देखूँ तित तूँ॥
—कबीर

'मैं' में ख़ुदी है, और 'तू' में बेख़ुदी। जिसने अपने 'मैं' को प्यारे 'तू' में मिला दिया, ख़ुदीको बेख़ुदीमें लय कर दिया, वही प्यारी तल्लीनताका सुधा-रस पियेगा, प्रेम-तन्मयताका आनन्द लूटेगा। जबतक उसकी सुधमें तुमने अपनी सुध नहीं भुला दी, तबतक उस प्रीतमकी नज़रमें तुम भी भूले ही रहोगे। पर अपनी सुध तो उस प्यारेकी कृपासे ही भुलाई जा सकती है। बेख़ुदीकी दौलत उस दयालुकी दयासे ही हासिल हो सकती है—

जातें सुधि भूलै सो कृपातें पाइयतु प्यारे!
फूलि-फूलि भूलौं या भरोसे सुधि हौनकों।

—आनन्दघन

कैसी ऊँची है यह 'याद' और कैसी गहरी है यह 'भूल'! हृदयेश्वर! और नहीं तो हमारी यह एक अभिलाषा तो पूरी कर ही दो—

मुझमें समा जा इस तरह तन-प्राणका जो तौर है।
जिसमें न फिर कोई कहे, 'मैं' और हूँ, तू और है॥

—सनेही

देखें, इस जन्ममें कभी यह सुख प्राप्त होता है।

प्रेममें अधीरता

मीको धैर्य कहाँ ? अरे भाई, उसकी अधीरता ही उसकी धीरता है। आत्यन्तिक विरहासक्तिमें, मिलनकी परमोत्कण्ठामें, प्रेमकी जो गहरी अधीरता होती है, उसका आनन्द विरले ही भाग्यवान् जानते हैं। उस अकथनीय अवस्थामें एक क्षण एक कल्पके समान बीतता है। दिलमें एक अजीब छटपटाहट पैदा हो जाती है, आँखें एक दर्द-भरे मीठेसे नशेमें मस्त हो झूमने लगती हैं, मनपर अपना काबू नहीं रहता, ऐसा लगता है, मानों कहीं उड़ा-सा जा रहा है। कब आयगी वह घड़ी, कब मिलेगा वह प्रियतम, कब बुझेगी इन आँखोंकी तड़प-भरी प्यास, कब मौजकी लहर लहरायगी दिलके दरियामें—आदि भावनाओंमें जिस किसीका मन आतुर और अधीर हो गया, उसकी प्रेम-साधना सफल है, उसका जीवन धन्य है। प्रेमाधीरतामें, बस, कब-ही-कब दिखाई देता है, यहाँ तक कि 'अब' भी उस 'कब' के गहरे रंगमें रँग जाता है। ऊँचे प्रेमी कबीरने प्रियतमकी दर्शनोत्कण्ठामें प्रेमाधीरताका कैसा सजीव चित्र खींचकर रख दिया है। कहते हैं—

यहि तनका दिवला करौं, बाती मेलौं जीव।
लोहू सींचौं तेल ज्यों, कब मुख देखौं पीव॥

वह मिले तो, मैं यह भी सब करनेको तैयार हूँ। इस देहका दीपक बनाकर उसमें जीवकी बत्ती रखूँगी, और अपने हृदय-रक्तसे उस प्रेम-ज्योतिको सदा सींचती रहूँगी। देखूँ, इस दियेके उँजेलेमें अपने प्रेमास्पदका मुख कब देखनेको मिलता है। हा! कब तक उसकी प्रतीक्षा करूँ!

देखत-देखत दिन गया, निसि भी देखत जाय।
बिरहिन पिय पावै नहीं, केवल जिय घबराय॥

—कबीर

क्या करूँ, क्या न करूँ! कैसे पाऊँ अपने उस प्यारेको—

जो घन-आनँद ऐसी रुची तौ कहा बस है, अहा प्राननि पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि, हाय! तुम्हें, धरनीमें धँसौं कै अकासहिं चीरौं॥

—आनन्दघन

× × × ×

एक व्रजाङ्गनाकी प्रेमाधीरता देखते ही बनती है। एक दिन, वनमें बलराम और कृष्णको गायें चराते-चराते भूख लग आई। उस दिन मैया यशोदाने समयपर छाक तक न भेजी। थोड़ी दूरपर कुछ ब्राह्मण यज्ञानुष्ठान कर रहे थे। सो ग्वाल-बालोंने, श्रीकृष्णके कहनेपर, उन याजकोंसे कुछ भोजन माँगा। पर वे कोरे कर्मठ ब्राह्मण ग्वालोंके लड़कोंको यज्ञकी रसोई भला देने चले! क्रोधित हो बोले—हट जाओ सामनेसे। क्यों अपवित्र दृष्टि डालते हो? यह रसोई हमने तुम ग्वालोंके छोकरोंके ही लिए तो राँधी है!

यज्ञ हेतु हम करी रसोई । ग्वालन पहले देहिं न सोई ॥

बेचारे बालक निराश होकर लौट आये । श्रीकृष्णने कहा, भैया, तुम तो उनकी स्त्रियोंसे जाकर माँगो । वे अवश्य देंगी, क्योंकि—

उनके मन दृढ़भक्ति हमारी । मानि लैंहिं वै बात तुम्हारी ॥

हुआ भी वही । बड़े ही प्रेमसे अनेक प्रकारके पकवान ले-लेकर द्विज-पत्नियाँ स्वयं ही राम-कृष्णको अपने हाथसे भोजन कराने चलीं । कठोर कर्मठोंने बहुत रोका, पर उन प्रेम-मूर्ति व्रजाङ्गनाओंने उनकी एक न सुनी । और तो सब सविनय अवज्ञा करके चली गईं, केवल एक ब्राह्मणी अपने पति-देवके धर्म-पाशमें फँस गई । बेचारी पतिके पैरोंपर नाक रगड़-रगड़कर कहने लगी—

देखन दै वृन्दावन-चन्द ।
हा हा कंत, मानि विनती यह, कुल-अभिमान छाँड़ि मतिमन्द ॥
कहि, क्यों भूलि धरत जिय औरै, जानत नहिं पावन नँदनंद !
दरसन पाय आयहौं अबहीं, हरन सकल तेरे दुख-द्वन्द ॥

—सूर

वृन्दावन-चन्द्र श्यामसुन्दरकी झलक नेक देख आने दो । उस प्यारे गोपाललालको यह कटोरा भर केसरिया दूध पिला आने दो । सभी सहेलियाँ तो गई हैं । इस मिथ्या कुलाभिमानमें क्या रखा है । छोड़ क्यों नहीं देते यह दंभाचार ? अरे, तुम इतने बड़े विद्वान् होकर भी एक मूर्खकी भाँति बात कर रहे हो ! मनमें पाप विचारते हो ! बालकृष्णमें मेरी पवित्र प्रीतिको तुम

शायद किसी और दृष्टिसे देखते हो। क्या कहूँ तुम्हारी बुद्धिको! छोड़ो, जाने दो मुझे, आर्यपुत्र! उस प्राण-प्यारे गोपालका मुख-चन्द्र मुझे देख आने दो। हा! मैं कैसे जाऊँ। नन्द-नन्दनको कैसे देख आऊँ!

रति बाढ़ी गोपाल सों।
हा हा! हरि लों जान देहु प्रभु, पद परसति हौं भाल सों॥
सँगकी सखी स्याम सनमुख भईं, मैं हिं परी पसु-पाल सों।
परबस देह, नेह अन्तर्गत, क्यों मिलौं नयन-बिसाल सों॥
—सूर

वहाँ संगकी सब सखियाँ अपने-अपने हाथसे प्यारे कृष्ण और बलरामको प्रेमसे भोजन करा रही होंगी, हाय! मैं ही अकेली यहाँ इस पशु-पालके पाले पड़ी छटपटा रही हूँ। भले ही यहाँ यह पराधीन देह तड़पा करे, हृदयके भीतर तो कृष्ण-प्रेमकी आग जलती ही रहेगी। उस आगको कौन बुझा सकता है!

पिय, जनि रोकहि अब जान दै।
हौं, हरि-बिरह-जरी जाचति हौं, इतनी बात मोहि दान दै॥
बेनु सुनौं, बिहरत बन देखौं, यह सुख हृदय सिरान दै।
पुनि जो रुचै सोइ तू कीजै, साँच कहति हौं आन दै॥
जो कछु कपट किये जाचति हौं सुनहि कथा हित कान दै।
मन क्रम बचन 'सूर' अपनो प्रन राखौंगी तन मन प्रान दै॥

नाथ, अब मत रोको। अब तो मुझे तुम जाने ही दो। मैं कृष्णके विरहमें, हाय! कबसे जल रही हूँ। तुमसे, बस, एक ही

दान माँगती हूँ। न दोगे क्या ? वनमें उस वृन्दावन-विहारी गोपालको देख और उसकी बाँसुरी सुनकर मुझे अपना हृदय ठंडा कर लेने दो। इतना ही तुमसे चाहती हूँ। फिर जो तुम्हारे मनमें आवे सो करना। यह मैं निष्कपट भावसे सौगंद खाकर कहती हूँ। न जाने दोगे, तो भी अपना प्रण तो पूरा करूँगी ही। तन, मन और प्राण भी देकर मैं प्यारे मदन-मोहनसे तो मिलूँगी ही। हा! कबतक तुम्हें समझाऊँ। मिलनकी अवधि ही टली जाती है। लो, यह देह ले लो। तुम्हारा दावा सिर्फ इसी पर है न ? सो, इस चामकी देहको सँभालकर रख लो। प्राण तो मेरे उस प्राण-प्रिय व्रजचन्द्रके ही चरणोंमें जाकर बसेंगे—

> कहँ लगि समुझाऊँ 'सूरज' सुनि, जाति मिलनकी औधि टरी।
> लेहु सँभारि देह, पिय, अपनी, बिन मानिनि सब सौज धरी॥

प्रेमाधीरता रही भी यही करके—

> चितवत हुती झरोखे ठाढ़ी, किये मिलन को साजु।
> 'सूरदास तनु त्यागि छिनकमें तज्यौ कंत को राजु॥

धन्य प्रेम-मूर्ति व्रजाङ्गने !

× × × ×

आत्यन्तिक विरहासक्तिमें धैर्यका भी धैर्य छूट जाता है। यह अवस्था ही कुछ ऐसी होती है। उस शरत्पूर्णिमाको, जब कालिन्दी कूलपर श्रीकृष्णने बाँसुरी बजाई थी, ऐसी कौन व्रज-वनिता थी जो स्वजन-परिजनोंके लाख रोकनेपर भी वहाँ जानेसे रुकी हो ? अहो ! वह प्रेमाधीरता !

श्रीव्रज-रत्न प्राणधन हरिको, चल सखि! चल, देखें सत्वर ,
हैं कदम्बके तले नाचते, वेणु बजाते राधावर।
घनश्यामकी ध्वनि सुन क्योंकर मैं चातकी धैर्य धारूँ ?
क्यों न प्राण-प्यारेके ऊपर अपना तन, मन, धन वारूँ ?

—मधुप

कैसी खिंची जा रही हैं ब्रज-बालाएं उस ओर!

सुनत चलीं ब्रज-बधू गीत-धुनि को मारग गहि।
भवन-भीत, द्रुम-कुंज-पुंज कितहूँ अटकीं नहि॥
ते पुनि तेहि मग चलीं रँगीली तजि गृह-संगम।
जनु पिंजरन तें उड़े, छुड़े नव-प्रेम-विहंगम॥
सावन-सरित न रुकै करौ जो जतन कोउ अति।
कृष्ण हरे जिनके मन, ते क्यों रुकैं अगम गति ?

—नन्ददास

और, निर्दय निठुर स्वजन-सम्बन्धियोंने जिन ब्रज-बालाओं-को किसी तरह काल-कोठरियोंमें बन्दकर रोक रखा था, उनकी दशा यह हुई—

जे रुकि गईं घर अति अधीर गुनमय सरीर-बस।
पुन्य-पाप-प्रारब्ध-रच्यौ तन नाहिं पच्यौ रस॥
परम दुसह श्रीकृष्ण विरह-दुख व्याप्यौ जिनमें।
कोटि बरस लगि नरक भोगि अघ भुगते छिनमें॥
पुनि रंचक धरि ध्यान पीय परिरंभन दिय जब।
कोटि स्वर्ग-सुख भोगि छिनहिं मंगल कीनों सब॥

—नन्ददास

उस एक क्षणकी विरह-व्याकुलताका तनिक ध्यान तो करो। करोड़ों वर्षोंके दुःखोंका लय हो जाता है उस मिलन-उत्कण्ठामें, उस अतुलनीय प्रेमाधीरतामें। आह! कैसी होती होगी वह आतुरता! कितने प्रेमियोंके प्राण-पक्षी न उड़ा दिये होंगे उस दयाहीना अधीरताने। पर प्रेमी तो बलि होनेके अर्थ ही जीवन धारण करते हैं। ऐसे अधीर प्रेमातुर प्राणी कबतक जीवित रह सकते हैं? व्यर्थ ही प्रेमातुरोंको दोष देते हो। कहाँ तक बेचारे धैर्य धारण किये रहें। धैर्यकी भी तो कोई हद होती है। बेचारे विरही अपने प्राण-विहंगमोंको कबतक बाँधकर रखे रहें। क्यों न उनके हाथोंसे छूटकर उड़ जायँ उनके छटपटाते हुए प्राण-पक्षी—

बहुत दिनानकी अवधि आस-पास परे
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान कों;
कहि-कहि आवन छबीले मन-भावन कौ,
गहि-गहि राखति ही दै-दै सनमान कों।
झूठी बतियानकी पत्यानी तें उदास ह्वै कैं,
अब ना घिरत 'घनआनँद' निदान कों;
अधर लगे हैं आनि करिकैं पयान प्रान,
चाहत चलन ए सँदेसो लै सुजानकों॥

इतना धीरज क्या कुछ कम है, जो इस बेचारी कृष्णानुरागिनी गोपिकाने वहाँ तक सँदेसा ले जानेके लिए अपने

आतुर प्राणोंको ओठोंपर कुछ देर तो ठहरा लिया ? अरे भाई, प्रेमातुरोंको इतना ही बहुत है। अब भी प्रियतम चाहें तो उस अभागिनीके प्राणोंको अधरोंसे लौटाकर उसके हृदयमें पुनः बसा सकते हैं। प्यारे कृष्ण ! तनिक सुनो तो, वह क्या कह रही है। हाय री, प्रीति !

> एक बिसासकी टेक गहैं लगि आस रहे बसि प्रान-बटोही।
> हौ 'घनआनँद' जीवन-मूरि, दई कित प्यासन मारत मोही ॥

बस, अब और क्या कहूँ !

> 'हरीचन्द' एक व्रत नेम प्रेम ही को लीनों ,
> रूपकी तिहारे, ब्रज-भूप ! हौं उपासी हौं।
> ज्याय लै रे, प्राननि बचाय लै लगाय अङ्क ,
> एरे नन्दलाल ! तेरी मोल लई दासी हौं ॥

प्रेममें अनन्यता
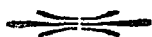
भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

> अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
> तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

अनन्यभावसे जो मेरा निरन्तर चिन्तन करते हैं, मेरी एकान्त उपासना करते हैं, उन नित्ययोग-युक्त पुरुषोंके योग और क्षेमको मैं स्वयं ही धारण करता हूँ। उनके साधन और साध्य दोनोंकी ही मैं रक्षा करता हूँ, उनका सारा उत्तरदायित्व मैं अपने ऊपर ले लेता हूँ; पर होनी चाहिए वह उपासना अनन्यभावेन।

यह अनन्यभाव है क्या वस्तु? अनन्यता ऐसी कौन-सी महासाधना है, जिसपर स्वयं भगवान्का भी इतना अधिक विश्वास है? जिस भावनाके द्वारा चराचर जगत्में एक ही प्रियतम दिखाई दे, उस एकको छोड़ दूसरेकी कल्पना भी न मनमें उठे, वही अनन्यता है। सुकवि ठाकुरने नीचेके पद्यमें अनन्यताकी कैसी विशद व्याख्या की है—

> कानन दूसरो नाम सुनैं नहिं, एकही रंग रँग्यौ यह डोरो ।
> धोखेहुँ दूसरो नाम कढ़ै, रसना मुख बाँधि हलाहल बोरो ॥

'ठाकुर' चित्तकी वृत्ति यही, हम कैसेहुँ टेक तजैं नहिं भोरो ।
बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जे साँवरो छाँड़ि निहारतीं गोरो ॥

जिनमें उस प्यारे साँवलेके लिये ठौर नहीं, जिन्होंने उसके श्यामरूपको अपना काजल नहीं बना लिया, जो उस काले रंगमें तल्लीन न होकर गोराईपर मर रही हैं, वे आँखें भी, भला, कोई आँखें हैं ! उनका तो फूट जाना ही अच्छा है । उन अभागिनी आँखोंको ज़रूर मोहकी आगमें जल जाना चाहिए ।

बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जे साँवरो छाँड़ि निहारतीं गोरो ।

और, जिन आँखोंसे उस प्यारेको देख लिया, उनसे अब उसे छोड़ और किसे देखें—

तुझे देखें तो फिर औरोंको किन आँखोंसे हम देखें ?
ये आँखें फूट जायें गर्चे इन आँखोंसे हम देखें ।

श्रीरामचन्द्रजीके अनन्य भक्त गोसाईं तुलसीदासने भी, विनयपत्रिकाके एक पदमें, अपनी चंचल इन्द्रियोंको इसी भाँति अनन्यताकी दृढ़ डोरीसे कसकर बाँधा है। कहते हैं, मैं तो श्रीजानकी-जीवन रघुनाथजीपर बलि जाऊँगा। उनपर अपनेको न्योछावर कर दूँगा । सीतारामजीके चरणारविन्दोंको छोड़ अब मैं इधर-उधर भटकता न फिरूँगा, वहीं निश्चल हो जाऊँगा। हृदयमें कुछ ऐसी धारणा बँध गई है, कि श्रीरामके चरणोंसे विमुख होकर मैं स्वप्नमें भी अन्यत्र सुख न पा सकूँगा । कानोंसे किसी औरकी चर्चा न सुनूँगा, और

रसनासे किसी अन्यका गुण-गान न करूँगा। दूसरेकी ओर देखते हुए इन नेत्रोंको उधरसे मोड़ लूँगा, केवल रामचन्द्रकी ही ओर चकोरकी नाईं टक लगाकर देखा करूँगा। मस्तक भी केवल जानकी-रमणको ही झुकाऊँगा। प्रभुके साथ नाता जोड़कर और सबोंसे नाता तोड़ दूँगा। इस सबका भारी भार उसीपर है, जिस स्वामीका मैं अनन्य सेवक हो रहा हूँ। क्या वह दयालु प्रभु मेरा सारा योग-क्षेम धारण न कर लेगा? अब गोसाईंजीकी ही सुधा-मयी वाणीमें इस अनन्यभावनाका आनन्द-रस लीजिए—

जानकी-जीवनकी बलि जैहौं।

चित कहै, राम-सीय-पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं॥
उपजी उर प्रतीति सुपनेहुँ सुख प्रभु-पद-विमुख न पैहौं।
मन-समेत या तनके बासिन्ह इहै सिखावन दैहौं॥
स्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नैन बिलोकत औरहिं, सीस ईसही नैहौं॥
नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं।
यह छर-भार ताहि 'तुलसी' जग जाकौ दास कहैहौं॥

जिस प्रभुका अपनेको दास मान लिया, जिसके हम सब तरहसे गुलाम हो चुके, उसी एकको अब जानते और उसी एकको मानते हैं। वह चाहे जैसा हो, प्रेमीके लिए तो परमेश्वर ही है। उसके अवगुण भी गुण ही प्रतीत होते हैं।

विष्णु भगवान् सद्गुणोंके कैसे निधान हैं, कैसे त्रिलोकैक सुन्दर हैं और कैसे अनुपम अद्वितीय हैं, पर अनन्योपासिका पार्वतीके हृदय-पटलपर तो स्मशान-वासी दिगम्बर शिवका ही चित्र खचित है। तपस्याकी मूर्ति भगवती शैलजाकी यह दृढ़ प्रतिज्ञा है, कि—

जनम कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु नतु रहउँ कुँआरी॥

—तुलसी

माना कि शंकर अवगुणोंके आगार हैं और विष्णु सर्व सद्गुणोंके सागर हैं, पर जिसमें जिसका मन अनन्यभावसे रम जाता है, उसका उसीसे काम है—

महादेव अवगुन-भवन, विष्णु सकलगुन-धाम।
जेहिकर मन रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

—तुलसी

कृष्ण-रूप-रसकी मधुकरी गोपियोंने भी तो पण्डित-प्रवर उद्धवसे कुछ ऐसी ही बात प्रेम-विह्वल होकर कही थी—

ऊधो, मन मानेकी बात।
दाख छुहारा छाँड़ि अमृतफल विष-कीरा विष खात॥
जो चकोरकों दै कपूर कोउ, तजि कि अँगार अघात?
मधुप करत घर कोरि काठमें बँधत कमलके पात॥
ज्यों पतंग हित जानि आपनो दीपकसों लपटात।
'सूरदास' जाकौ मन जासों, सोई ताहि सुहात॥

विषके कीड़ेको विष ही रुचिकर प्रतीत होता है। वह मूर्ख अमृत-जैसे मीठे फलोंको छोड़कर विष खाता है! चकोरको कितना ही कपूर चुगनेको दो, पर क्या वह अंगारोंको छोड़कर तुम्हारे कपूरसे कभी तृप्त होगा? अब पद्म-प्रेमी भ्रमरको लो। जो कठोर काठको भी कुरेद-कुरेदकर उसमें घर बना लेता है, वही कमलके कोमल कोशके भीतर सहज ही बँध जाता है। और, पतंगेके समान अन्धा और कौन होगा। वह मूढ़ सर्वस्व नष्ट कर देनेवाले दीपकको प्रेमालिङ्गन देनेके अर्थ अधीर हो दौड़ता है। इन वज्र-मूर्ख प्रेमियोंको क्या कहीं और सुयोग्य प्रेम-पात्र नहीं मिलते? मिला करें, पर उन्हें उनसे क्या प्रयोजन है। उनकी लगन तो उन्हींसे लग रही है। जिसका मन जिसमें लग जाता है, उसे वही सुहाता है। कविवर विहारीने क्या अच्छा कहा है—

> अति अगाध, अति औथरो नदी कूप सर बाइ।
> सो ताकौ सागर जहाँ जाकी प्यास बुझाइ॥

नदी, कुवाँ, तालाब, बावली आदि कुछ भी हो, और वह भी चाहे अत्यन्त गहरा हो अथवा बिल्कुल ही छिछला; जिसकी प्यास जिस जलाशयसे बुझ जाय, वही उसके लिए समुद्र है।

आज़ादने भी ख़ूब कहा है—

> हुआ लैला प मजनूं, कोहकन शीरीं प सौदाई।
> मुहब्बत दिलका इक सौदा है, जिसकी जिससे बन आई॥

जब वहाँ दूसरेके लिए ठौर ही नहीं रहा, तब, बताओ, कोई और उस भरे-पूरे मानसमें कैसे रमे। एक कृष्णानुरागिनी गोपिका उद्धवसे कहती है—

नाहिंन रह्यो मनमें ठौर।
नन्द-नन्दन अछत कैसे आनिये उर और॥
चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत राति।
हृदयतें वह स्याम-मूरति छिन न इत-उत जाति॥

—सूर

× × × ×

अब अनन्यताके इन दो दरजोंपर ग़ौर कीजिए। पहला तो वह है, कि 'कानन दूसरो नाम सुनैं नहिं' या 'रोकिहौं नैन बिलोकत औरहिं' अथवा 'गरैगी जीह जो कहौं और की हौं' और दूसरा यह है, कि 'हृदयतें वह स्याम-मूरति छिन न इत-उत जाति।' उस मोहनकी विश्व-विमोहिनी मूर्त्तिको छोड़ कोई दूसरा ध्यानमें ही नहीं आता। एक-ही-एक है, दूसरा कोई है ही नहीं। यहाँ 'स्रवननि और कथा नहिँ सुनिहौं, रसना और न गैहौं' का सवाल ही नहीं उठता। अब तो यही अनुभवमें आता है, कि—

सियाराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

—तुलसी

मीर दर्दने भी यही बात कही है—

जगमें आकर इधर-उधर देखा,
तू ही आया नज़र जिधर देखा।

चराचर जगत्‌में जो कुछ भी नज़र आ रहा है, वह सब अपने प्यारेका ही तो रूप है। उसे छोड़ दूसरी तो कोई चीज़ ही नहीं। परा अनन्यता यही है। परम अनन्यको सारी सृष्टि ही प्रियतम-मयी देख पड़ती है। महाकवि देवकी श्याममयी सृष्टिपर यह कैसी सुन्दर सूक्ति है—

औचक अगाध सिन्धु स्याही कौ उमड़ि आयो,
तामें तीनौं लोक बूड़ि गये एक संगमें;
कारे-कारे आखर लिखे जु कारे कागद
सु न्यारे करि बाँचै, कौन जाँचै चित भंगमें।
आँखिनमें तिमिर अमावसकी रैनि जिमि,
जम्बूनद बुन्द जमुना-जल-तरंगमें;
यौंही मन मेरो मेरे काम कौ न रह्यौ माई,
स्याम रंग ह्वै करि समान्यौ स्याम रंगमें॥

सर्वत्र श्यामकी ही श्यामता समा गई है। स्रष्टा श्याम है और सृष्टि भी श्याम है। कृष्णमें जगत् है और जगत्‌में कृष्ण है। प्रेममय पुरुष और प्रेममयी प्रकृतिको कौन भिन्न कर सकता है। जहाँ देखते हैं तहाँ श्यामकी ही श्यामता देखते हैं, लालकी ही लाली नज़र आती है। उस लालकी लालीको देखनेवाला भी लाल हो जाता है—

लाली मेरे लालकी जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं चली, मैं भी हो गइ लाल॥

—कबीर

जिन नयनोंकी पुतलियोंमें अपने प्यारेकी छवि खिंच गई, उनमें पर-छवि कैसे अङ्कित हो सकती है ? निजत्वमें परत्वकी कल्पना कैसे की जा सकती है ? सरायको भरी हुई देखकर जैसे पथिक आप ही वहाँसे लौट जाता है, वैसे ही उस निजत्वमें परत्वकी रसाई नहीं हो सकती। रहीम कहते हैं—

प्रीतम-छवि नैननि बसी, पर-छवि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि पथिक आपु फिरि जाय॥

तथैव—

जिन आँखनमें तुव रूप बस्यौ उन आँखनिसों अब देखिए का ?
—हरिश्चन्द्र

जिन आँखोंमें प्रियतम रम रहा है, उनमें काजलकी रेख भी नहीं लगाई जा सकती। क्योंकि वहाँ प्यारा-ही-प्यारा समा रहा है, किसी और वस्तुके लिए ठौर ही नहीं। कबीर कहते हैं—

'कबिरा' काजर-रेखहू अब तौ दई न जाय।
नैननि प्रीतम रमि रहा दूजा कहाँ समाय॥

रहीमने भी इस साखीके स्वरमें अपना स्वर मिलाया है—

अंजन दियो तौ किरकिरी, सुरमा दियो न जाय।
जिन आँखिन सों हरि लख्यो 'रहिमन' बलि-बलि जाय॥

काजल या सुरमा तो साकार वस्तु है, उन अनुरागिनी आँखोंमें तो निराकार नींद भी नहीं ठहरने पाती—

आठ पहर चौंसठ घरी, मेरे और न कोय।
नैना माहीं तू बसै नींदहि ठौर न होय॥

—कबीर

काजल देने या नींदके ठहरानेकी वहाँ ऐसी कोई जरूरत भी तो नहीं है। उन सबका अभाव तो प्रियतमके निवाससे ही पूरा हो जाता है। प्रियतम ही कलित कज्जल है और प्रियतम ही मीठी नींद है। कैसा ऊँचा तादात्म्य है इस प्रेमानन्यतामें!

× × × ×

अनन्य-व्रत असि-धारा-व्रतसे भी कठिन है। इस व्रतका व्रती एक पपीहा है। प्रेमी चातकका स्थान वस्तुतः प्रेम-जगत्में बहुत ऊँचा है। उसका प्रेम-पात्र उसपर क्रोधसे गरजता है, तरजता है, पत्थर बरसाता है और कभी-कभी तो वेचारेपर वज्र भी गिराता है, पर उस पक्षीकी अनन्यता देखो, अपने प्यारे मेघको छोड़ क्या उसने कभी किसी औरसे प्रेमकी भीख माँगी है!

उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥

—तुलसी

धन्य, चातक, धन्य!

बियत न नाई नारि, चातक घन तजि दूसरहि।
सुर-सरिहूको बारि, मरत न माँगेउ अरध-जल॥

—तुलसी

प्रेमास्पद अपने प्रेमीको कितना ही तिरस्कृत करे, उसके प्रति कितना ही उदासीन रहे, पर वह तो अनन्यभावसे अन्ततक यही कहता जायगा, कि 'मैं तो उसी प्रियतमका हूँ, उसी एक प्राणाधारका कोई हूँ।' बेचारा वह मर्माहत प्रेमी तो यही कहेगा—

तुमही गत हौ, तुमही मत हौ, तुमही पत हौ अति दीननकी।
नित प्रीति करौ गुन-हीननि सों, यह रीति सुजान प्रवीननकी॥
बरसौ 'घन आनँद' जीवनकों, सरसौ सुधि चातक छीननकी।
मृदु हौ चितके पन पै इकके, निधि हौ हितके, रुचि मीननकी॥

—आनन्दघन

वह सरल-हृदय प्रेमी कुलिश-कठोर प्रेमास्पदके हृदयको भी 'मृदुल' और 'प्रेम-निधि' ही कहता जायगा; क्योंकि उसकी गति, उसकी मति और उसकी पत वही एक है। उसके लिए जगत्में वही तो एक ठौर है। वह कहता है—

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज कौ पंछी पुनि जहाज पै आवै॥

—सूर

यह है सच्ची प्रेमानन्यता।

प्रेमियोंका मत-मज़हब
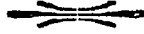
भला, प्रेमीका भी कोई मत-मज़हब हुआ करता है! वह तो लामज़हब या धर्मसे परे ही सुना गया है। यह बात तो नहीं है। उसका भी एक धर्म होता है, उसका भी एक पंथ माना जाता है। पर वह धर्म, वह मज़हब एकदम निराला, बिलकुल विलक्षण होता है। उस पगलेके ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड तुम्हारे शास्त्रोंसे, तुम्हारे कुरानसे या तुम्हारी बाइबिलसे मेल खाते भी हैं और नहीं भी खाते। उसका नाम सब मज़हबोंमें लिखा है, और किसीमें भी नहीं। एक साथ ही वह घोर नास्तिक और परम आस्तिक है। दीनदार भी है और बेदीन भी। उसकी शाही नज़रमें, अकबरदिलमें क्या मन्दिर, क्या मसजिद और क्या गिरजा सभी बराबर हैं। वह पण्डितोंका भी पण्डित है, मुल्लाओंका भी मुल्ला है, पादरियोंका भी पादरी है। कभी अपनी मस्तीमें वह यह गाने लगता है, कि—

> मक्का, मदिना, द्वारका, बद्री औ केदार।
> बिना प्रेम सब झूठ है, कहै 'मलूक' बिचार॥

तो कभी उसी शानमें यह अलाप उठता है, कि—

मन मथुरा, दिल द्वारका, काया काशी जान।
दस द्वारेका देहरा, तामें पीव पिछान॥

उस मस्तरामकी रँगीली नज़रमें तुम्हारे तीर्थोंकी, लो, यह हक़ीक़त है। ठीक ही तो है, भाई!

जब इश्क़के दरियावमें होता नहीं ग़रक़ाब तू,
गंगा बनारस द्वारका पनघट फिरा तो क्या हुआ?

प्रेम-रसमें तो डूबता नहीं, गंगा-यमुनामें नहाता फिरता है! मूर्ख कहींका! और, यही हाल पुरान-कुरानका भी है। दादूदयालकी साखी है—

'दादू' पाती पीवकी, बिरला बाँचै कोइ।
वेद कुरान पुस्तक पढ़ै, प्रेम बिना क्या होइ॥

लो, सुना—उस प्रियतमकी पत्रिका, वेद-शास्त्रोंमें पारंगत पण्डित भी नहीं पढ़ सकते। उस प्यारेका ख़त पढ़ लेना हर किसीका काम नहीं। क्या हुआ, जो तुम आज एक महामहोपाध्याय और शम्सुलउल्मा हो। उस पातीको तो, प्यारे मित्र, एक प्रेमी ही बाँच सकता है, उस लिफाफेके अन्दरका मर्म-भरा मज़मून तो एक आशिक ही भाप सकता है। प्रेम-विश्व-विद्यालयकी परीक्षामें उत्तीर्ण पण्डित तुम्हारे इन पण्डितों और मौलवियोंसे एकदम निराला होता है। रसखानिने कहा है—

शास्त्रन पढ़ि पण्डित भये, कै मौलवी कुरान।
जुपै प्रेम जान्यौ नहीं, कहा कियौ रसखान॥

कबीरकी भी एक साखी है—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पण्डित हुआ न कोइ।
ढाई अच्छर प्रेमका पढ़े सो पण्डित होइ॥

इस 'ढाई अक्षरी' परीक्षाका पास कर लेना कितनी टेढ़ी खीर है, इसे एक 'मरजीवा' प्रेमी ही जानता है। ये पण्डित, ये मुल्ले या ये पादरी उस प्रेम-पण्डितकी योग्यताको क्या जानें। ये लोग तो मत-मज़हबका रौला मचानेवाले हैं। बुल्लेशाहने क्या ख़ूब कहा है—

कुज रौला पाया आलमा, कुज कागजाँ पाया काह।

कुछ तो इन पण्डितोंने अपने वितण्डावादमें और कुछ किताबोंके झगड़ेमें वह प्यारा कोहनूर, वह हरि-हीरा खो गया है। अरे, हाँ!

मेरा हीरा हिरायगा कचरेमें।
कोइ पूरब कोइ पच्छिम ढूँढ़ै, कोइ पानी कोइ पथरेमें॥

कहाँ खोजते फिरते हो उसे, उस लापतेको! न वह काशीमें मिलेगा, न काबेमें। इन दोनों मकानोंमें तो एक झमेला ही नज़र आता है। अपने दिलसे किसी बेदिलने कहा है—

दिल, और कहीं ले चल, ये दैरो हरम छूटें,
इन दोनों मकानोंमें झगड़ा नज़र आता है।

मन्दिरमें भी झगड़ा और मसजिदमें भी झगड़ा! अब प्रमी बेचारा कहाँ जाय, कहाँ रहे! उसे कहीं भी तो ठौर-ठिकाना नहीं। सन्तवर बुल्लेशाहने कहा है—

धर्मसाला विच धाढ़वी रहंदे, ठाकुर-द्वारे ठग।
मसीतां विच कोत्ती रहंदे, आसिक-रहन अलग॥

धर्मशालामें डाकुओंने अड्डा जमा रखा है, बने हुए धर्म-धुरन्धरोंने आसन जमा लिया है, ठाकुर-द्वारोंपर ठगोंने अपना अधिकार कर रखा है और मसजिदोंमें बदमाशोंकी तूती बोल रही है। इसीसे उस साईंका आशिक अब इन सबसे अलग रहता है। उसे अपने प्यारे कृष्णका दर्शन किसी और ही ठाकुर-द्वारेमें मिल रहा है। किसी और ही मसजिदमें वह नमाज़ पढ़ लिया करता है। वह एक साथ ही बुतपरस्त और ख़ुदापरस्त है। हिन्दू भी है और मुसल्मान भी है और इससे भी आगे कुछ और है। मतलब यह, कि असलमें वह आशनापरस्त है, प्रेम-भगवान्‌का पुजारी है। 'सौदा'ने कहा है—

हिन्दू हैं बुतपरस्त, मुसल्मां ख़ुदापरस्त,
पूजूँ मैं उस किसीको जो हो आशनापरस्त।

ज़फ़रने उसके धर्मको और भी साफ़ तौरसे खोल दिया है—

मेरी मिल्लत है मुहब्बत, मेरा मज़हब इश्क़ है,
ख़्वाह हूँ मैं क़ाफ़िरोंमें, ख़्वाह दींदारोंमें हूँ।

भाई, चाहे मुझे नास्तिकोंमें गिना लो, चाहे आस्तिकोंमें, मेरा मज़हब तो बस इश्क़ है, मेरा धर्म तो, बस प्रेम है। क़ाफ़िर कहो या दींदार, मुझे कोई गिला नहीं—

याँ यूँ भी वाहवा है, और यूँ भी वाहवा है।

× × × ×

क्या मुसलमान-महिला ताजको हिन्दुओंके वेद-शास्त्रोंने अपनी ओर खींचकर उससे यह कहलाया था, कि मैं हूँ तो मुग़लानी पर अब हिन्दुवानी होकर रहूँगी ? क्या उसका किसीने शुद्धि-संस्कार किया था ? नहीं, कदापि नहीं, उसे तो प्रेमने ही इसलामके कूचेसे मोड़कर कृष्ण-पंथकी फकीरनी बना दिया था। किसी धर्मने नहीं, बल्कि पवित्र प्रेमने उसे हिन्दुवानी हो जाने-को मजबूर किया था। कितनी गहरी लगन थी नंद-नंदनके साथ उस पगली ताजकी ! बलिहारी !

सुनो दिलजानी, मेरे दिलकी कहानी,
तुम हुस्न ही बिकानी, बदनामी भी सहूँगी मैं।
देव-पूजा ठानी औ नमाज भी भुलानी,
तजे कलमा-कुरान, सारे गुननि गहूँगी मैं।
साँवला सलोना सिरताज सिर कुल्लेदार,
तेरे नेह-दावमें निदाघ ज्यों दहूँगी मैं ;
नंदके कुमार, कुरबान तेरी सूरत पै,
हौं तो मुग़लानी, हिन्दुवानी है रहूँगी मैं॥

कुरबान हूँ तेरी साँवली सूरतपर, मेरे दिलजानी ! आज मैं तेरे प्यारे नामपर बिक गई हूँ। अब बदनामी हो तो होने दो। यहाँ बदनामीकी ऐसी कुछ परवा नहीं है। अब मैं तेरी ही हूँ। तेरे ही प्रेमकी आगमें अब जलूँगी। मेरे प्राणोंसे भी प्यारे

नन्दकुमार! तेरी ख़ातिर यह मुग़लानी अब हिन्दुवानी होकर रहेगी। वह मतवाली मुग़लानी मूर्ति-पूजा भी करेगी, जो कि इसलाममें सरासर कुफ़्र है—

बुतपरस्तीको तो इसलाम नहीं कहते हैं।

न कहें—

मातक़िद कौन है 'मीर' ऐसी मुसल्मानीका?

बदनामी कैसी होगी। उसकी कोई चिन्ता नहीं। मस्त सरमद कह गया है—

सरमद कि वक़ूए–इश्क़ बदनाम शुदी,
अज़दीने यहूद सूए-इसलाम शुदी,
मालूम न शुद कि अज़ ख़ुदा वो अहमद,
बरगश्ता, बसूए लछमनो राम शुदी।

अर्थात्, सरमद इश्क़के कूचेमें—प्रेम-पन्थमें—पड़कर बदनाम हो गया, यहूदी दीन (पन्थ) छोड़कर इसलामकी ओर आया और फिर इसलामके ख़ुदा और रसूलसे मुँह मोड़कर राम और लक्ष्मणके भक्तोंमें जा मिला।*

धर्म-सामञ्जस्यका साक्षात्कार प्रेमी सरमदको यहीं हुआ। इसी गलीमें उस मस्त फकीरको,

तरीक़ मसजिदो बुतख़ाना एक-सा सूझा।

प्रेमीके हृदयके भीतर ही मंदिर और मसजिदके नक़्शे खिंचे रहते हैं। सारी ख़ुदाई उसके सीनेके अंदर ही भरी रहती है—

* पण्डित पद्मसिंह शर्मा

शेखो बरहमन दैरो हरममें
ढूँढते हो क्या हासिल?
मूँदके आँखें देखो तो है
सारी खुदाई सीनेमें।
—इन्शा

हाँ, तो प्रेमीकी नज़रमें उसकी बदनामी भी नेकनामी ही है। मुबारक हो ऐसी बदनामी। किसी भूले-भटकेको प्रेमका पंथ तो दिखा देती है। बदनामीके उस कूचेमें क्या तो मुग़लानी और क्या हिन्दुवानी!

× × ×

परमहंस मौलाना रूमने दिल खोलकर कहा है, कि मेरे नज़दीक प्रेमीका दरजा बहुत ऊँचा है। प्रेमीको न तो मक्के-मदीने जानेकी ही ज़रूरत है और न हज्ज करनेकी ही आवश्यकता है। नमाज़ पढ़ना भी उसे ऐसा लाज़िमी नहीं है। जो उस प्रियतमकी प्यारी सूरतपर क़ुरबान हो चुका है, जिसकी सुंदरतापर सारी दुनिया पतंगेकी तरह जान दे रही है, वह तुम्हारे मक्के और नमाज़से बहुत आगे निकल गया है। प्रेमकी मस्तीमें झुकना ही उसकी नमाज़ है। उसका प्रेम-धर्म सब धर्मोंसे परे है।

अवधूत मौलाना रूम निस्सन्देह एक ऊँचे प्रेमी थे। कहते हैं, कि उनकी अर्थीके साथ मुसल्मान, यहूदी और ईसाई सभी गये थे। यहूदी अपने धर्म-ग्रन्थ 'तौरेत' का पवित्र पाठ करते

जाते थे और ईसाई पीछे-पीछे 'इंजील' सुनाते जाते थे। यहूदियोंसे पूछा गया, कि मौलाना रूमसे तुम्हारा क्या सम्बन्ध था, तो उन्होंने मुसल्मानोंसे कहा, कि तुम्हारा वह मुहम्मद था तो हमारा मूसा था। और, ईसाइयोंने यह जवाब दिया कि यदि वह तुम्हारा मुहम्मद और इनका मूसा था, तो हमारा वह ईसा था।* उस खुद्‌मस्त मौलानाको हम प्रेमका आबेहयात क्यों न कहें, जो उन भाँति-भाँतिके नये पुराने मज़हबी प्यालोंमें भरा हुआ था।

मत-मज़हब हो तो, भाई, इन प्रेम-मतवालोंके जैसा हो, नहीं तो इस दुनियामें लामज़हब, बिना धर्मके, रहना ही अच्छा है। और सच पूछो तो हम सब हैं भी तबतक धर्मविहीन, जब-तक समस्त धर्मोंमें व्याप्त प्रेम-रहस्यका हमें साक्षात्कार नहीं हो गया। प्रेमका भेद हम समझ जायँ, तो फिर संसारभरके धर्मोंमें जाननेको रह ही क्या जाय? निस्सन्देह 'अस्ति' और 'नास्ति' में प्रेमका भेद छिपा हुआ है, हर चीज़में इश्क़का ही मर्म समाया हुआ है—

कुफ़र रीत क्या और इसलाम रीत,
हर एक रीतमें इश्क़का राज़ है।

इन सभी प्यालियोंमें प्रेमकी ही मदिरा लबालब भरी हुई है,सब सेजोंपर एक ही स्वामी सोया हुआ है—

सब घट मेरा साइयाँ, सूनी सेज न कोय।
—कबीर

---

* मौलाना रूम और उनका काव्य।

पर जब बाहरी बनावसे, ऊपरी शृंगारसे फुर्सत मिले, तब कहीं प्रेमका भेद खुले, घट-घटमें रमे हुए रामका दर्शन मिले। फँसे तो पड़े हो पाखंड-पूर्ण मत-मज़हबोंके अहंकार-पंक-में और मिलना चाहते हो उस रामसे, जो केवल प्रेमका प्यासा और भावका भूखा है! यह खूब रही! अरे, पहले उस प्रेम-प्यारेके दीदारके लिए तड़पना सीख लो, तब धर्म या मज़हबकी बात करना। मछलीकी ऐसी प्रेम-भरी तड़प ही उस प्यारेसे मिला सकेगी, मुक्तिका द्वार खोल सकेगी। बिना उसकी प्यारी झलक पाये मुक्ति कहाँ?

दिलदार सों आँखों न भेंट भई, तबलों तरिबो का कहावतु है?

जिसके हृदयमें यह धारणा दृढ़ हो चुकी है, कि—

नहिं हिन्दू, नहिं तुरक हम, नहिं जैनी, अँगरेज।
सुमन सँवारत रहत नित कुञ्ज-बिहारी सेज॥

—भगवतरसिक

वही अनन्य प्रेमी,

सब घट मेरा साइयाँ सूनी सेज न कोय।

इस 'साखी' का ठीक-ठीक अर्थ लगा सकेगा।

प्रिय-दर्शनके प्यासे कबीरने क्या अच्छा कहा है—

सबही तरुतर जायके सब फल लीनें चीख।
फिर-फिर माँगत 'कबिर' है दर्सन ही की भीख॥

× × × ×

इस नीरस हृदयपर तो प्रेमियोंके मत-मज़हबकी अनोखी तसवीर कुछ ऐसी खिंची हुई है—

हाँ, हम सब पंथन तें न्यारे।
जानों गहि अब प्रेम-पंथ हम, और पंथ तजि, प्यारे!
नाय्ँ कराय सकैं षट दरसन, दरसन, मोहन, तेरो।
दिन दूनो नित कौन बढ़ावै या हिय माँझ अँधेरो॥

जाने दो, दर्शन-शास्त्रोंके झमेलेमें न पड़ो। तुम तो वैदिक ज्ञान प्राप्त करके आत्म-साक्षात्कार कर लो। उस 'अभेद' का भेद तुम्हें वेद ही बता सकेंगे। यह ख़ूब कहा, भाई!

तो अभेद कौ भेद कहा ये वेद बापुरे जानैं।
वा झिलमिली झलक झाँकी कौ रहस कहा पहिचानैं॥

तो सूत्र-ग्रन्थोंकी शरण लो। कोई लाभ?

सूत्र-ग्रन्थ जे नहिं निरवारत बिरह-ग्रन्थि, पिय, तेरी।
पचि तिनमें सुरझन सपनेहुँ नहिं, उरझन बढ़ति घनेरी॥

यही दशा स्मृतियोंकी भी है—

सब धर्मन तें परे धर्म जो प्रीतम-प्रेम-सगाई।
ताकी धर्म-अधर्म-व्यवस्था कौन सुस्मृति करि पाई?

और, वर्णाश्रम-धर्मपर इस धर्म-विहीनके ये विचार हैं—

जो तुव ललित रूप कौ, लालन! बरन-भेद नहिं पावै।
ऐसे नीरस बरन-धर्मकों पालि कौन पछितावै?
जोपै रस-आश्रम नहिं सेयो अति भीनो रँग-भीनों।
नाहक आश्रम-धर्म साधिकैं कौन धर्म हम कीनों॥

सारांश यह, कि—

याही तें सब वेद-विहित अरु लोक-धर्महुँ त्यागे।
तुव रस-छाक-छके 'हरि' अब तो प्रेम-सुधा-रस-पागे॥

प्रेमियोंकी अभिलाषाएँ

प्रेमी भी कैसे पागल होते हैं! पहले तो वे कोई इच्छा करते ही नहीं, यदि कभी कोई कामना की भी तो वह एक अजीब पागलपनसे भरी होती है। कोई प्रेमी अपने प्यारेके बागमें फूल-पत्ती बनना चाहेगा, तो कोई उसकी गलीकी धूल बन जानेमें ही अपनेको महान् भाग्यवान् समझेगा। किसीके हृदयमें अपने निठुर प्रियतमको देखते-देखते ही प्राण-त्याग कर देनेकी आग जल रही होगी, तो किसीके मनमें यह अभिलाषा रहती होगी, कि प्रेम-पात्रका पत्र, मरते समय, उसके मुहँमें तुलसी-दलकी जगहपर रख दिया जाय! कैसी अद्भुत और अनुपम अभिलाषाएँ हैं! एक प्रमीकी अभिलाषा देखिए। कहता है, यदि मरते समय मेरा प्यारा मित्र अपने हाथसे मेरे मुहँमें कुछ पानी चुआ दे, तो मौतकी कड़वाहटसे बढ़कर, मेरी समझमें, दुनियामें सचमुच कोई मीठा शर्बत नहीं है—

मुहँमें गर पानी चुआवे यार अपने हाथसे,
मर्गकी तल्ख़ीसे शीरींतर कोई शर्बत नहीं।

—ज़ौक़

एक और हसरत बाक़ी है। वह यह, कि—

आँखें मेरी तलुओंसे वह मल जाये तो अच्छा,
यह हसरते पा बोस निकल जाये तो अच्छा।

—ज़ौक़

मरते दम भी अगर वह प्यारा आकर अपने तलुओंसे मेरी ये अभागिनी आँखें मल जाय तो अच्छा हो। किसी तरह उसके पैर चूमनेकी हसरत तो दिलसे निकल जाय। लाख करो, भाई, ये सब तड़प-भरी हसरतें निकलनेकी नहीं। अपना ऐसा भाग्य कहाँ, जो उसे देखते-देखते मौतको छातीसे लगायँ। यहाँ यह सुख क़हाँ, कि

प्रीतम देखत जो मरि जाउँ तौ, मैं बलिजाउँ, महादुख छूटै।

—प्रेमसखी

इससे, अब यह एक ही अभिलाषा है—

यह तन जारौं छारकै, कहौं कि 'पवन उड़ाव।'
मकु तेहि मारग उड़ि परै कंत धरै जहँ पाव॥

—जायसी

क्यों न इस देहको जलाकर भस्म कर दूँ और हवासे कह दूँ, कि इस राखको तू उड़ा ले जा। शायद उड़ती-उड़ती कभी यह राख उस मार्गपर पड़ जाय, जहाँ वह प्रियतम अपने पैर रखता हो। उस साईंके पैर चूम लेनेकी अपनी हसरत इसी तरह निकल सकती है। इतना भी जो न हो सका, तो, भाई, मुझे क़ूचए-यारमें, प्यारेकी गलीमें, कृपाकर दफ़्न कर देना। बुलबुलकी क़ब्र उसकी प्यारी फुलवाड़ीमें ही बननी चाहिए। खूब!

दफ़्न करना मुझको कूचए यारमें,
क़ब्र बुलबुलकी बने गुलज़ारमें।

टुक, चकोरकी अभिलाषा तो देखिए। उसके आग चुगनेका रहस्य आज किस ख़ूबीके साथ खुल रहा है—

चिनगी चुगत चकोर यों, भसम होय यह अंग।
लावैं सिव निज भाल पै, मिलै पीव ससि संग॥
पिय सों मिलौं भभूत बनि, ससि-सेखरके गात।
यहै विचारि अंगारकों चाहि चकोर चबात॥

धन्य है चाही चकोरकी चाहको !

× × × × ×

अब कुछ कृष्ण-प्रेमोन्मत्तोंकी अलौकिक अभिलाषाएँ देखिए। बादशाह-वंशकी ठसक छोड़ देनेवाले रसिक रसखानि, सुनिए, क्या कहते हैं

मानुष हौं तौ वही 'रसखानि' बसौं ब्रज-गोकुल-गाँवके ग्वारन।
जो पशु हौं तौ, कहा बसु मेरो, चरौं नित नन्दकी धेनु मभारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरि कौ, जो धरयौ कर छत्र पुरन्दर-धारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदंबकी डारन॥

और तो और, आप पाषाण तक होना चाहते हैं ! प्यारे कृष्णके कर-कमलका मृदु स्पर्श मिलना चाहिए, फिर वह चाहे किसी तरह मिले। गोवर्द्धनगिरिकी शिलाओंका अहोभाग्य ! क्यों न रसखानिके सरस हृदयमें यह मधुमयी अभिलाषा अंकुरित हो—

पाहन हौं तौ वही गिरि कौ, जो धरयौ कर छत्र पुरन्दर-धारन।

कृष्णगढ़ाधीश भक्तवर नागरीदासजीकी भी कतिपय अनोखी अभिलाषाएँ हैं। देखिए, उनमें कितनी उत्कट उत्कण्ठा है—

कब वृन्दावन-धरनिमें चरन परेंगे जाय ।
लौटि धूरि धरि सीस पै कछु मुखहूमें पाय ॥
पिक, केकी, कोकिल कुहुक, बन्दर-वृन्द अपार ।
ऐसे तरु लखि निकट कब मिलिहौं बाँह पसार ॥
कबै झुकत, मो ओर कों ऐहैं मदगज-चाल ।
गर-बाहीं दीनें दोऊ प्रिया नवल नँदलाल ॥
कब दुखदायी होयगो मोकों विरह अपार ।
रोय-रोय उठि दौरिहौं कहि-कहि नन्द-कुमार ॥
नैन स्रवैं, जल धार वह, छिन-छिन लेत उसाँस ।
रैनि अँधेरी डोलिहौं गावत जुगल उपास ॥
चरन छिदत कांटेन तें, स्रवत रुधिर, सुध नाहिं ।
पूँछत हौं फिरि हौं तहाँ, खग मृग तरु बन माहिं ॥
हेरत टेरत डोलिहौं कहि-कहि स्याम सुजान ।
फिरत-गिरत बन सघनमें योंहीं छुटिहैं प्रान ॥

आत्यन्तिक विरहकी कैसी विशद वर्णना है! प्रेमके कैसे भव्य भाव हैं! कैसी अनूठी अभिलाषाएँ हैं! इसे कहते हैं विरह-वेदनाकी पुनीत धारा। त्रिताप-सन्तप्त प्राणियो! पखार लो इस धवल धारामें अपने-अपने अंग। ऐसी अप्राकृत धाराको बहानेवाले विरही नागरीदासको धन्य है! ऐसी ही अमन्द अभिलाषाएँ रसिकवर ललितकिशोरीजीको भी हैं। वह भी मस्त होकर, नागरीदासके सरस स्वरमें, अपना स्वर मिला रहे हैं; सुनिए—

कदंब-कुंज ह्वैहौं कबै श्रीवृन्दावन माहिँ।
'ललितकिसोरी' लाडिले विहरैंगे तेहि छाहिँ॥
सुमन-वाटिका विपिनमें, ह्वैहौं कब मैं फूल।
कोमल कर दोउ भावते, धरिहैं बीनि दुकूल॥
मिलि हैं कब अँग छार ह्वै, श्रीवन-वीथिन-धूरि।
परिहैं पद-पंकज विमल मेरे जीवन-मूरि॥
कब कालिन्दी-कूलकी ह्वैहौं तरुवर-डार।
'ललितकिसोरी' लाडले झुलिहैं झूला डार॥

अहा! ऊपरकी इन परम पावन पंक्तियोंमें प्रेमोन्मत्त भक्त प्रकृतिके अणु-परमाणुके साथ तन्मय होकर अपने प्रियतमकी कैसी उत्कण्ठित उपासना कर रहा है! भावुकजन प्रकृतिको अपने उपास्यके रूपमें देखते हैं। उनका प्रेमादर्श प्रकृतिमें ओतप्रोत रहता है। प्रेमी धूल, पवन, वृक्ष-लता, फूल-फल, चकोर, मोर आदि सब कुछ बननेको तैयार है, पर शर्त यह है, कि वे सब उसे उसके प्रियतमके मिलनमें सहायक और साधक हों। अस्तु, ललितकिशोरीजीकी यह भी क्या अच्छी अभिलाषा है। आप कहते हैं—

जमुना-पुलिन-कुंज गहवर की
कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पद-पंकज-प्रिय लाल मधुप ह्वै
मधुरे-मधुरे गुंज सुनाऊँ॥

कूकर है बन-वीथिन डोलौं,
वचे सीथ संतनके पाऊँ।
'ललितकिसोरी' आस यही मम
ब्रज-रज तजि छिन अनत न जाऊँ॥

'जो खग हौं तौ बसेरो करौं मिलि कालिन्दी-कूल-कदम्बकी डारन'—कामनासे 'जमुना-पुलिन-कुंज-गह्वरकी कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ' इस अभिलाषाका कैसा सुन्दर मिलन हुआ है। धन्य है ब्रज-रजको! कौन अभागा उस पतित-पावन रजको छोड़कर अब अन्यत्र भटकने जायगा? हठीले हठीने भी उस प्यारे कुँवर कान्हसे ब्रजका चिरन्तन सम्बन्ध माँगा है। कहते हैं—

तृन कीजै रावरेई गोकुल नगर कौ

अहा! कैसी अतुलनीय अभिलाषा है—

गिरि कीजै गोधन, मयूर नव-कुंजन कौ,
पसु कीजै महाराज, नंदके बगर कौ;
नर कीजै तौन जौन 'राधे राधे' नाम रटै,
तरु कीजै वर कूल कालिन्दी-कगर कौ।
इतने पै जोई कछु कीजिए कुँवर कान्ह!
राखिए न आन फेरि 'हठी' के झगर कौ;
गोपी-पद-पंकज-पराग कीजै, महाराज!
तृन कीजै। रावरेई गोकुल-नगर कौ॥

ओड़छेके व्यास बाबा भी कुछ ऐसा ही अभिलाष-राग अलाप रहे हैं। उनके इस संगीतमें उत्कण्ठा और उन्मत्तताका कैसा मधुर मिलन हुआ है—

ऐसो कब करिहौ मन मेरो।
कर करवा हरवा गुंजन को कुंजन माहिं बसेरो॥
भूख लगै तब माँगि खाउँगो, गिनौं न साँझ सवेरो।
ब्रज-बासिनके टूक जूँठ अरु घर-घर छाछ-महेरो॥

हे नाथ! मेरा मन ऐसा कब कर दोगे, जब हाथमें तो होगा माटीका करवा और गलेमें पड़ी होगी गुंजाओंकी माला। कब कुंजोंमें बसेरा लेता और ब्रज-बासियोंके जूठे टुकड़े खाता फिरूँगा! जब भूख लगेगी, तब घर-घरसे 'छाछ-महेरी माँग लिया करूँगा। फिर क्या साँझ और क्या सवेरा। सिर्फ़ एक माटीका करवा ही अब आपकी सारी सम्पत्ति होगा। इस फ़क़ीरी-में भी ग़ज़बकी शाहंशाही है। व्यासजीके भाग्यको धन्य है!

तीन गाँठ कौपीनमें, बिन भाजी बिन नौन।
'तुलसी' मन संतोष जो, इन्द्र बापुरो कौन॥

रसिक-वर सहचरिशरणकी भी एक उत्कण्ठा-पूर्ण लालसा देखते चलिए। इन शब्दोंमें कितनी व्याकुलता और अधीरता है—

छिति-पति लेत मोल पसु-पच्छिन, इहि बिधि कबै लहौगे?
रवि-दुहिता सुर-सरित भूमि जिमि रस उर कबै बहौगे?
पकरत भृंग कीटकों जैसे, तैसे कबै गहौगे?
'सहचरि-सरन' मराल मान-सर मन इमि कबै रहौगे?

प्यारे, लो, आज बता तो दो, मुझे उस तरह कभी ख़रीदोगे—मुफ़्त ही सही—जिस तरह राजा पशु-पक्षियोंको

मोल लिया करता है ? जैसे यमुना और गंगा निरन्तर भूमि-पर बहती रहती हैं, वैसे ही क्या कभी तुम अपना प्रेम-रस मेरे पाषाणवत् हृदयपर बहाओगे ? अच्छा, यह सब रहने दो, मुझे तुम वैसे कब पकड़ लोगे, जैसे किसी कीटको एक भृंग पकड़ लेता है ? प्यारे, मान-सरोवरमें जैसे हंस क्रीड़ा करता है, वैसे तुम मेरे इस मानसमें कभी विहार करोगे ?

देखें, इस जन्ममें कभी वह वृन्दावनविहारी हमारे मानस-में विहार करता है या नहीं। मन तो यह कहता है, पर करें क्या ?

ह्वै बनमाल हियें लगिये, अरु ह्वै मुरली अधरा-रसु लीजै !

—मतिराम

पर बनमाल और मुरली हम हों कैसे ! वंशीका तप तो और भी महाकठिन है। उसका त्याग जगत्-प्रसिद्ध है। तनिक देखिए तो उस बाँसकी पोरके तपका प्रखर प्रताप—

मुरली गति विपरीति कराई।
तिहूँ भुवन भरि नाद समान्यौ राधा-रमन बजाई ॥
बछरा थन नाहीं मुख परसत, चरन नहीं तृन धेनु।
जमुना उलटी धार चली बहि, पवन थकित सुनि बेनु ॥
विह्वल भये नाहिं सुधि काहू, सुर-गंधर्व नर-नारि।
'सूरदास' सब चकित जहाँ-तहँ ब्रज-जुवतिन-सुखकारि ॥

सो, 'ह्वै मुरली अधरा-रसु लीजै' या 'ह्वै बनमाल हिये लगिये' बड़ी ही कठिन साधनाकी अभिलाषा है। प्रेमकी सदा धधकती हुई आगने ही बाँसुरीको इस दरजेपर पहुँचाया है।

क्यों न उसके राग प्रियतमकी प्रेम-सुधाका पान किया करें ?

अब तो, भाई, हमारा हठी मन प्रेमी हरिश्चन्द्रके साथ यह अभिलाषा करनेको अधीर हो रहा है, कि—

बोल्यो करै नूपुर स्रौननके निकट सदा,
पदतल माहिं मन मेरो बिहर्‌यो करै;
बाज्यो करै बंसी-धुनि पूरि रोम-रोम
मुख मन मुसुकानि मंद मनहिं हर्‌यो करै।
'हरीचंद' चलनि मुरनि बतरानि चित
छाई रहै छवि जुग दृगनि भर्‌यो करै;
प्रानहूँतें प्यारो रहै प्यारो तू सदाई प्यारे!
पीतपट सदा हीय बीच फहर्‌यो करै॥

इसी एक भव्य भावनामें मस्त होकर अब जीवनके शेष दिन व्यतीत करेंगे, और किसी दिन यह अभिलाष-गीत गाते-गाते ही इस दुनियासे कूच कर जायँगे—

कदँबकी छाहँ हो, जमुनाका तट हो।
अधर मुरली हो, माथेपर मुकट हो॥
खड़े हों आप इक बाँकी अदासे।
मुकट झोंकेमें हो मौजे हवासे॥
गिरै गरदन ढुलककर पीत-पट पर।
खुली रह जायँ ये आँखें मुकट पर॥
दुशालेकी एवज हो ब्रजकी वह धूल।
पड़ें उतरे हुए सिंगारके वे फूल॥

मिले जलनेको लकड़ी ब्रजके बनकी ।
छिड़क दी जाय धूली या सदनकी ॥
अगर इस तौर हो अंजाम मेरा ।
तुम्हारा नाम हो, औ काम मेरा ॥

कैसी अनुपम और अनुभवगम्य अभिलाष है! 'गिरै गरदन ढुलककर पीतपटपर, खुली रह जायँ ये आँखें मुकट पर'—उफ़! इस हृदय-स्पर्शी भावका अनुभव प्रेमी भावुकने कितनी गहरी भक्ति-भावना-से किया होगा। अभिलाषा कोई हो तो बस ऐसी। वाह!

गिरै गरदन ढुलककर पीतपट पर,
खुली रह जायँ ये आँखें मुकटपर

× × × ×

हे नाथ! इस त्रिताप-संतप्त संसारमें मुझे भेज ही रहे हो, तो मुझे मेरा मनोवाञ्छित जीवन प्रदान करो। कैसा जीवन? ऐसा—

बद्धेनाञ्जलिना नतेन शिरसा गात्रैः सरोमोद्गमैः,
कण्ठेन स्वरगद्गदेन नयनेनोद्गीर्णबाष्पाम्बुना ।
नित्यं त्वच्चरणारविन्दयुगलध्यानामृतास्वादिना-
मस्माकं सरसीरुहाक्षसततं संपद्यतां जीवितम् ॥

हे कमलनयन! मेरे दोनों हाथ बँधे हुए हों, मस्तक झुका हो, और सारे शरीरमें रोमांच हो रहा हो, अंग-प्रत्यंग पुलकित हो रहा हो, गद्गद कंठसे प्रार्थना करता होऊँ और नेत्रोंसे आँसुओंकी वर्षा हो रही हो। तुम्हारे युगल चरण-कमलोंके ध्यानामृतका नित्य ही पान करता होऊँ। प्रभो! मेरी यही

एकमात्र प्रार्थना है। ऐसा जीवन मुझे सतत प्रदान करो। यदि ऐसा जीवन देनेमें कुछ कृपणता करनी है, तो उस समय तो अवश्य ही अपनी एक प्यारी झलक दिखा देना, जब ये प्राण-पक्षी इस नवद्वारके पींजड़ेको छोड़कर उड़ने लगें। बस, प्यारे !

निकल जाय दम तेरे कदमोंके नीचे,
यही दिलकी हसरत, यही आरजू है।

जीवन हो तो वैसा, और मृत्यु हो तो ऐसी। तुम्हारी उस प्यारी झलकपर खुली रह जायँ, या यों ही खुली रह जायँ—ये प्यारी आँखें खुली तो रहेंगी ही—तुम्हें देखती हुई खुली रहेंगी या तुम्हें एक निगाह देख लेनेकी हसरतमें खुली रहेंगी। हाँ, सच तो कहते हैं—

आँखें जो खुल रही हैं मरनेके बाद मेरी,
हसरत य थी कि उनको मैं एक निगाह देखूँ।
—मीर

हाँ, एक यही हसरत थी, सो यह भी दिलसे न निकल सकी, दिलकी दिलहीमें रही। इसीसे ये हसरत-भरी आँखें खुल रही हैं। सच मानो, मेरे प्यारे जीवितेश्वर !

विना, प्रान-प्यारे! भये दरस तुम्हारे हाय,
देखि लीजौ आँखें ये खुली ही रहि जायँगी।

देखना है, तुम कभी मेरी कोई अभिलाषा पूरी करते हो या नहीं।

प्रेम-व्याधि

चमुच प्रेम एक दुस्साध्य रोग है। इश्क़ एक बुरी बला है। तो भी इस रोगके रोगी, न जाने क्यों, भाग्यवान् कहे जाते हैं। पगले प्रेमी तो इस रोग-राजका स्वागत करते देखे गये हैं। कहते हैं, कि ख़ुशकिस्मत ही इस दर्दका मज़ा जानता है—

नहीं इश्क़का दर्द लज्ज़तसे ख़ाली.
जिसे ज़ौक़ है वह मज़ा जानता है।

प्रमकी ही भाँति यह प्रेम-व्याधि भी अकथनीय है, केवल अनुभवगम्य है। यह तो मर्ज़के साथ सहनेकी पीड़ा है, कहनेकी नहीं। मन-ही-मन इस मर्ज़की पीर उठा करती है। इस रोगके नामी रोगी बोधा कह ही गये हैं—

सहते ही बनै, कहते न बनै, मन-ही-मन पीर पिरैबो करै।

इसीसे तो यह लज्ज़तदार है। महाकवि शेली भी तो प्रेम-पीड़ाको मधुर बतलाता है—

Love's pain is very sweet.

प्रेमकी वेदना बड़ी मीठी होती है। इस रोगकी प्यारी मिठासको कामान्ध जन क्या जानें? यह दुनियाँदारोंके हिस्सेकी चीज़ नहीं है। इस दर्दके भेदको वे समझ ही न सकेंगे। प्रेमके

दिली दीवाने ही इस कसकको जानते हैं। प्रीतिकी प्रतिमा मीरा गाती है—

हे री, मैं तो प्रेम-दिवानी
मेरा दरद न जानै कोय।

अरी, मैं प्रेममें पगली हो गई हूँ। प्रेमके रोगने मेरे रोम-रोममें घर कर लिया है। पर क्या कहूँ, ये सब लोग मेरा उपहास कर रहे हैं। हाय! मेरे दर्दका जाननेहारा इस मतलब दुनियामें कोई भी नहीं। सच है, घायलका हाल घायल ही जानता है। लगनका मारा ही प्रेमके रोगीके साथ हमदर्दी दिखाता है—

घायलकी गति घायल जानै, की जिन लाई होय।
जौहरिकी गति जौहरि जानै, की जिन जौहर होय॥

इसपर सूरकी सरस सूक्ति है—

देखौ सकल विचारि सखी, जिय बिछुरनकौ दुख न्यारो।
जाहि लगै सोई पै जानै, प्रेम-बान अनियारो॥

अनुभवी बोधा भी यही कह रहे हैं—

प्रसव-पीर बंध्या का जानै झलकन पहिरी पीरी।
दिल जानै कै दिलवर जानै दिलकी दरद लगी, री॥

प्रेमके हरे घावकी वेदना वही जान सकेगा जो उससे कभी घायल हुआ होगा—

प्रेम-घाव दुख जान न कोई। जेहि लागे जानै पै सोई॥
—जायसी

जिसके जिगरपर एक नासूर होगा, वही दिलके ज़ख्मको समझ सकेगा—

वही समझेगा मेरे ज़ख्मे दिलको,
जिगर पर जिसके इक नासूर होगा।

अच्छा, आख़िर यह रोग है क्या? कोई प्रेमी ही बता दे, इसके क्या लक्षण हैं? रोगीको तो ज़रूर इसका पता होगा। मरीज़को तो अपना यह मर्ज़ बता देना चाहिए। कहो, भाई, यह कैसा होता है? तुम तो इस रोगके अनुभवी हो न? फिर बताते क्यों नहीं? एं! क्या कहा, कि—

छाती जला करै है सोज़े दरूँ बलासे,
एक आग-सी लगी है, क्या जानिये कि क्या है!

—मीर

क्या जानूँ कि क्या है। अन्दर-ही-अन्दर सुलगती हुई आगसे छाती जलती रहती है। जिगरमें जैसे एक आग-सी लगी है। कह नहीं सकता, कि यह क्या बला है। लो, सुन लिया? मरीज़ साहब ख़ुद ही परेशान हैं! एक आग-सी सीनेमें लगी है,—बस. इतना ही वह अपने रोगका लक्षण बतला सके हैं। फिर पूछा तो कुछ कह न सके। दिलपर हाथ रखकर बस रो दिया—

पूछा जो मैंने दर्दे मुहब्बतसे 'मीर' को,
रख हाथ उसने दिल पै टुक इक अपने रो दिया।

कोई होशियार हकीम या कुशल कविराज समझा सके तो हमें समझा दे, कि आखिर यह सीनेकी आग है क्या बला! शायद ही कोई ठीक-ठीक समझा सके। हमें तो आशा नहीं। कबीरदासजी तो इन वैद्य-हकीमोंसे बिल्कुल निराश हैं—

'कबिरा' बैद बुलाइया, पकरि कै देखी बाहँ।
बैद न बेदन जानई, करक करेजे माहँ॥

रोगीको देखनेके लिए वैद्य बुलाया गया। उसने आकर नाड़ी देखी। रोगके लक्षण मिलाये। पर वह बेचारा किसी सुलझे हुए नतीज़ेपर पहुँच न सका। रोगका जब वह निदान ही निश्चित न कर सका, तब उपचार क्या पत्थर करता! कलेजेकी कड़कका क्या निदान होना चाहिए, यह उसकी बुद्धिसे बाहरकी बात थी। करते ही क्या, अपना-सा मुहँ लिये वैद्यराज महोदय वहाँसे चल दिये।

× × × ×

क्यों वे लोग बार-बार रोगीको तंग करते हैं? उसकी व्यथा जानकर वे क्या करेंगे? व्यर्थ वे मूर्ख उसकी व्यथाके बारेमें पूछ रहे हैं—

बावरे हैं ब्रजके सिगरे, मोहि नाहक पूछत कौन व्यथा है।

यह भी भला कोई बात है! अरे—

नहिं रोगी बताइहै रोगहिं जो, सखी, बापुरो बैद कहा करिहै?

—हरिश्चन्द्र

पूछनेका यही कारण है, कि रोगका ठीक-ठीक पता चल जाय और तब उसका कुछ इलाज किया जाय। यह ख़ूब रही। इलाज तभी न किया जायगा, जब वह अपने रोगका इलाज कराना चाहेगा। दवासे तो वह कोसों दूर भागता है। कहता है—

तेरे इश्क़ने दिलमें जो दर्द दिया,
तो कुछ उससे मज़ा मैंने ऐसा लिया;
न करूँ, न करूँ, न करूँ, मैं दवा,
मैंने खाई है अब तो दवाकी क़सम।

—नज़ीर

लो, करो इलाज। जिसने दवा न लेनेकी क़सम खा ली है, उसका क्या इलाज करोगे? दूसरे, यह इलाज कुछ काम भी तो न देगा। यह जानते हो या नहीं, कि—

प्रेम-बान जेहि लागिया, औषध लगत न ताहि।
सिसकि-सिसकि मरि-मरि जियै, उठै कराहि-कराहि॥

—कबीर

इन सारी दवाइयोंसे तो रोग और बढ़ेगा—

मरज़ बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों दवा की।

अथवा—

उपजी प्रेम-पीर जेहि आई। परबोधत होइ अधिक सो जाई॥

—जायसी

लिहाज़ा हकीम साहबसे तो अब यही कह दिया जाय, कि—

जाहु बैद घर आपने, तेरा किया न होय।
जिन या वेदन निर्मई, भला करेगा सोय ॥
—कबीर

प्रेम-पीर अतिही विकल, कल न परत दिन-रैन।
सुन्दर स्याम सुरूप बिन 'दया' कहति नहिं चैन ॥

वैद्य महाराजसे यह भी पूछ लिया जाय, कि—

बीमारे इश्क़का जो न तुझने हुआ इलाज;
कह,ऐ तबीब! तूही कि फिर तेरा क्या इलाज?

हकीम भी कैसा बेवक़ूफ़ है। प्रेमके रोगीको, लो, बुझा हुआ पानी देता है! मरीज़का तो, भाई, दिल ही जिन्दगीसे बुझा हुआ है—

पानी, तबीब, देहै हमें क्या बुझा हुआ!
है दिल ही जिन्दगीसे हमारा बुझा हुआ।
—ज़ौक

अब इन अनाड़ी वैद्योंसे, इन नीम हकीमोंसे काम न चलेगा। उस रोगीका इलाज तो एक वही कर सकेगा, जिसने उसके हृदयमें यह रोग-राज उत्पन्न किया है। रोगी कबसे चिल्ला रहा है, पर कोई सुनता ही नहीं। सुनो, वह क्या कहता है—

ना वह मिलै न मैं सुखी, कहु क्यों जीवन होय।
जिन मुझको घायल किया, मेरी दारू सोय ॥
—दादूदयाल

सो अब कोई उस निठुरसे जाकर कह दे कि—

हा हा ! दीन जानि वाको बीनती ये लीजै मानि,
दीजै आनि औषध वियोग रोग-राजकी ।
—आनन्दघन

अरे, वह दवा देना क्या जाने । वह क्या इलाज करेगा । ख़ैर, उसे ही बुला लो । पर पीछे रोगी यही कहेगा, कि—

पहले नमक छिड़ककर ज़ख्मोंको कसके बाँधा,
टाँका लगा-लगाकर फिर खोल-खोल डाला ।

कुछ भी कहे, पर आराम उसे इसी इलाजसे मिलेगा । प्रेमके रोगका उस प्यारेके ही पास नुस्ख़ा है । वही रोगका कारण है, वही वैद्य है और वही औषध भी है । महाकवि विहारी ही लक्ष्यतक पहुँचे हैं । कहते हैं—

मैं लखि नारी-ज्ञानु, करि राख्यौ निरधारु यह ।
वहई रोग-निदानु, वहै बैद, औषधि वहै ॥

प्रेम-पगली मीरा भी अपने प्यारे साँवले वैद्यसे ही अपने रोग-राजकी चिकित्सा कराना चाहती है । हाँ, उस बेचारीका इलाज और कौन करेगा ?

दरदकी मारी बन-बन डोलूँ, वैद मिला नहिं कोय ।
मीराकी तब पीर मिटैगी, जब वैद सँवलिया होय ॥

× × × ×

उस ग़रीबके कलेजेके अंदर एक घाव हो गया है । पर उस-पर मरहम लगाना भी मना है, भले ही वह नासूर बन जाय—

अय मेरे ज़ख़्मे जिगर ! नासूर बनना है तो बन;
क्या करूँ इस ज़ख़्मपर मरहम लगाना है मना ।

पड़ा-पड़ा बेचैनीसे बस कराहता रहता है । अच्छा तो हो सकता है, पर है उस मनमौजी वैद्यके हाथकी बात । कौन वैद्य ? अरे, वही प्यारा साँवला वैद्य । प्रेमकी सेजपर उस घायलको लिटाकर यदि वह वैद्य अपने सुन्दर रूपकी आँचसे उसके घावको सेंक दे, और अपनी बरौनियोंकी सुई लेकर आँखोंके लाल डोरेसे टाँके लगा दे, तो उसका ज़ख़्मेजिगर उसी वक्त ठीक हो जाय । और वैद्य महाराज ही उसे अपने लावण्यका मधुर हलुवा भी खिलाते जायँ, तब कहीं उसे उस इलाजसे आराम मिलेगा । अब आप रसिकवर सहचरिशरणजीकी सुधामयी वाणीमें इस सुन्दर भावको सुनिए—

उरमें घाव रूपसों सेंकै, हितकी सेज बिछावै ।
दृग-डोरे, सुइयाँ बर बरुनी, टाँके ठीक लगावै ॥
मधुर सचिक्कन अंग-अंग-छबि-हलुवा सरस खवावै ।
स्याम तबीब इलाज करै जब,तब घायल सचु पावै ॥

वह साँवले हकीम साहब अब भी तशरीफ़ न लाये, तो फिर रोगीके बचनेकी कोई आशा नहीं ।

× × × ×

दिलकी बीमारीमें एक सबसे बड़ी आफ़त तो, जनाब, यह है, कि बेचारे रोगीको कोई तसल्ली देने भी तो नहीं आता । हाँ, कभी-कभी कोई ख़बर लेने आते हैं, तो सिर्फ़ दो—अफ़सोस और

रोना। इस बीमारीमें किसीने साथ दिया है, तो बस इन्हीं दो दिली दोस्तोंने। ज़ौक़ने क्या अच्छा कहा है—

कभी अफ़सोस है आता, कभी रोना आता,
दिले बीमारके हैं दो ही अयादतवाले।

अमीरने इसका समर्थन किया है—

'अमीर' आया जो वक़्त बद तो सबने राह ली अपनी;
हज़ारों सैकड़ोंमें दर्दोग़म दो आशनां ठहरे।

अफ़सोस और रोना कहो, या दर्दोग़म कहो, हैं दोही इस मरीज़के सच्चे साथी। दर्द, दर्दका साथी भी है और उसकी दवा भी है। दर्द ही दर्दकी दवा है। दर्द जब हदसे गुज़र जाता है, तब वह ख़ुद ही दवाका काम कर जाता है—

दर्दका हदसे गुज़र जाना है दवा हो जाना।

दर्दकी किससे उपमा दें! दर्द, बस, दर्द-सा ही है। चाहे जिस पहलूसे देखो, रहेगा दर्द ही। ज़ौक़ कहते हैं—

दर्द वह शै है कि जिस पहलूसे छाँटो दर्द है।

तो फिर हम दर्द-जैसी पुरअसर दवासे नफ़रत क्यों करें। प्रेम-पीरका तो, भाई, हृदय-द्वारपर स्वागत करना चाहिए। इस पीरका वर्णन कौन कर सकता है। हृदय वर्णन करना चाहे तो उसके वाणी नहीं, और वाणी कुछ कहना चाहे तो उसके हृदय नहीं। बेदिल ज़बान या बेज़बान दिल दर्दे मुहब्बतकी तसवीर कैसे खींच सकता है?

बयाने दर्दे मुहब्बत जो हो तो क्योंकर हो ?
ज़ुबां न दिलके लिए है, न दिल ज़ुबांके लिए।

राम करे, यह ज़ख़्मे जिगर कभी अच्छा न हो, यह घाव ऐसा ही हरा बना रहे। किसीने क्या अच्छा कहा है—

I felt this instant deeply wounded with the love of God, a wound so delightful that I desired it never might be healed.

अर्थात्—

कहा निकासन आई उरतें काँटो, अरी हठीली !
चुभ्यौ रहन दै, लागति वाकी मीठी कसक सुभीली ॥

प्रेमीजन इस असाध्य व्याधिका स्वागत करनेके अर्थ पलक-पाँवड़े बिछाये खड़े रहते हैं। इस मधुर पीरका आनन्द लूटनेको बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी लालायित रहा करते हैं। इस दर्दमें ही हँसते-हँसते प्राण-पक्षी उड़ा देनेके लिए मतवाले साधक प्रेम-पुरीमें पागल-सरीखे घूम रहे हैं। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि और पीर-पैगम्बर प्रेम-पीरकी मौतके इच्छुक रहा करते हैं। उस मौतका मज़ा कुछ निराला ही है—

मज़े जो मौतके आशिक़ बयां कभू करते,
मसीहो ख़िज़्र भी मरनेकी आरज़ू करते।

प्रेमियोंका मरण ! अहा ! कैसा सुखदायी मरण होता है—

आह ! क्या सहल गुज़र जाते हैं जीसे आशिक़ !
कब कोई सीख ले उन लोगोंसे मर जानेको। —मीर

× × × ×

वैद्य महाराज, तुम्हारे उस रोगीकी आज बड़ी शोचनीय अवस्था है। अब उसकी व्याधि सचमुच असाध्य हो गई है। तनिक भी दया तुम्हारे हृदयमें हो तो अपनी खास दवा देकर अब भी उस ग़रीब रोगीको बचा लो—

थाकी गति अंगनकी, मति परि गई मन्द,
सूखि झांझरी-सी ह्वैकैं देह लागी पियरान;
बावरी-सी बुद्धि भई, हँसी काहू छीन लई,
सुखके समाज जित-तित लागे दूरि जान।
'हरीचन्द' रावरे बिरह जग दुखमयो,
भयो, कछु और होनहार लागे दिखरान;
नैन कुम्हलान लागे, बैनहु अथान लागे,
आओ प्राननाथ, अब प्रान लागे मुरझान॥

अस्तु; वैद्य महोदय आये और उन्होंने रोगीको देखा। रोगीका चेहरा खिला हुआ था। आँखोंमें गुलाबी रंगत थी और ओंठोंपर एक हलकी-सी मुस्कराहट। न दर्द था, न घबराहट। वैद्य बेचारेको बड़ा आश्चर्य हुआ। यह कैसी बीमारी! ऐसे रौनक़दार चेहरेको बीमारका चेहरा कौन कहेगा! नहीं, बात कुछ और है। सुनिए—

उनके देखेसे जो आजाती है मुहँ पै रौनक़,
वह समझते हैं, कि बीमारका हाल अच्छा है!

इसलिए—

जो वाके तनकी दसा देख्यौ चाहत आप।
तौ, बलि नैकु विलोकिए चलि औचक चुपचाप॥

—बिहारी

इतना ही नहीं, वह नेकदिल मरीज़ अपने सारे दर्द और रंजको उस हकीमके आगे दबा लेता है। यह क्यों? इसलिए कि उसकी कोमल आँखोंको बीमारकी यह हालत देखकर कहीं कुछ ठेस न लग जाय। अपने प्यारे हकीमका उसे इतना ज़्यादा ख़याल है! अपने शोक-समूहसे वह प्रेमका रोगी कहता है—

ठेस लग जाये न उनकी हसरते दीदारको,
ऐ हुजूमे ग़म! सँभलने दे ज़रा बीमारको।

—जिगर

कैसा कुसुमाधिक कोमल तथापि हृदय-भेदी भाव है!

प्रेमोन्माद

प्रेममें एक प्रकारका पागलपन होता है। ऊँचे प्रेमी प्रायः पागल देखे गये हैं। इस पागलपनमें एक विशेष प्रकारका शान्तिमय आनन्द आया करता है जिसका अनुभव पागल प्रेमीको ही हो सकता है—

There is a pleasure sure in being mad,
Which none but mad men know.

निश्चय ही पागल हो जानेमें एक प्रकारका आनन्द है, जिसे केवल पागल ही जानते हैं। प्रेमकी दीवानगीमें जो चूर हो गया, समझ लो, उसका बेड़ा पार है। प्रेमकी हाटमें पागल ही पैर रखता है, क्योंकि वहाँ मुफ़्त ही अपना सर बेचा जाता है। पगला मीर कहता है—

सौदाई हो तो रक्खे बाज़ारे इश्क़में पा,
सर मुफ़्त बेचते हैं, यह कुछ चलन है बाँका।

कुछ भी हो, तिजारती दुनियाँ तो इस कामको बेवक़ूफ़ीमें ही शुमार करेगी। भला यह भी कोई रोज़गार है? सर-जैसी महंगी चीज़ बिना मोल बेच डालना कहाँकी समझदारी है? न हो समझदारी, उन नासमझ पागलोंको अपनी इस नासमझी में ही मज़ा आया करता है। पागलपनेसे भरी मूर्खता ही उनकी सच्ची समझदारी है—

How wise they are, that are but fools in love.

भाई, जहाँ इश्क़का जूनूँ हुकूमत कर रहा हो, प्रेमका उन्माद जहाँका राजा हो, वहाँ बुद्धि अनधिकार-प्रवेश कैसे कर सकेगी ? ज़रूर ही वहाँ अक़्ल मदाख़लत बेजाके जुर्ममें फँस जायगी—

शोर मेरे जुनूँका जिस जा है,
दख़ले अक़्ल उस मुकाममें क्या है।
—मीर

अक़्ल भी एक बला है। बुद्धिका रोग बड़ा बुरा होता है। यह रोग प्रेमकी मस्तीसे ही अच्छा हो सकता है—

मैं मरीजे, अक़्ल था, मस्तीने अच्छा कर दिया !

× × × ×

पगली सहजोने प्रेमोन्मादियोंका एक बड़ा ही सुन्दर और सच्चा चित्र अंकित किया है। नीचेके लक्षण जिसमें मिलते हों, समझ लो, कि वह एक प्रेमी है, एक पागल है, या दुनियाँ-की नज़रमें एक ख़ासा बेवक़ूफ़ है—

प्रेम-दिवाने जे भये, मन भे चकनाचूर।
छके रहैं, घूमत रहैं, 'सहजो' देखि हुजूर ॥
प्रेम-दिवाने जे भये, कहैं बहकते बैन।
'सहजो' मुख हाँसी छुटै, कबहूँ टपकैं नैन ॥
प्रेम-दिवाने जे भये, जातिबरन गइ छूट।
'सहजो' जग बौरा कहै, लोग गये सब फूट ॥

प्रेम-दिवाने जे भये, 'सहजो' डगमग देह।
पाँव परै कितकौ कहूँ, हरि सँवारि तब लेह॥
कबहूँ इकधक ह्वै रहैं, उठैं प्रेम-हित गाय।
'सहजो' आँख मुँदी रहै, कबहूँ सुधि ह्वै जाय॥
मनमें तो आनँद रहै, तन बौरा सब अंग।
ना काहूके संग हैं, 'सहजो' ना कोइ संग॥

ऐसे होते हैं प्रेमोन्मादी। वह पगला अपनी ख़ुदमस्तीमें उछल-कूद करनेवाले शैतान मनको कुचलकर चूर-चूर कर देता है। मन-मातंगको वह प्रेम-जंजीरसे जकड़कर बाँध देता है। उसकी मस्तीके आगे मनरूपी मस्त हाथी मुर्दा-सा पड़ा रहता है—

मन-मतंग महमंत था, फिरता गहिर गँभीर।
दोहरी, तेहरी, चौहरी परि गई प्रेम-जँजीर॥
—कबीर

वह पागल बहकती-सी बातें करता है, बिल्कुल बेमतलब, बेमानी। कभी खिलखिलाकर हँस पड़ता है, तो कभी आँसुओं-का तार बाँध देता है। कौन जाने, किसलिए रोता और किस-लिए हँसता है! पर इतना तो हम अवश्य जानते हैं, कि वह रहता मौजमें है। उसके रोनेमें भी रहस्य है और हँसनेमें भी रहस्य है।

प्रेमोन्मत्त भक्तवर सुतीक्ष्णकी इसी कोटिकी प्रेम-विह्वलता-को गोसाईं तुलसीदासजीने जिस कौशलसे चित्रित किया है, वह देखते ही बनता है। अहा!

निर्भर प्रेम-मगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी।
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। 'को मैं, चलेउँ कहाँ' नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥

उस पगले प्रेमीका जात-पाँतसे कोई नाता नहीं रह जाता। एक झटकेसे ही सब तोड़-ताड़कर अलग जा खड़ा होता है। लोग उसे पागल कहते हैं, और उसका साथ छोड़ देते हैं। वह मस्तराम अपनी देह तकको नहीं सँभाल सकता। रखना चाहता है पैर कहीं और पड़ता है कहीं! पर कुशल है, उसका प्यारा सदा उसके साथ रहता है। वही उसे गिरने-पड़नेसे सँभाल लेता है। कभी चुप हो जाता है, कभी प्रीतिके गीत गाने लगता है और कभी फूट-फूटकर रोने लगता है! न जाने, किसका ध्यान करता है। कुछ पता नहीं चलता। बेसुध ही देखनेमें आता है। पर कभी-कभी वह बेहोश पगला होशयारकी तरह काम करने लगता है। उसके हृदय-सिन्धुमें आनन्दकी हिलोरें उठा करती हैं। वह दीवाना न तो ख़ुद ही किसीका साथ पसंद करता है, और न उसे ही कोई अपना संगी-साथी बनाना चाहता है।

प्रेमका पागल कैसा मौजी जीव होता है। वह पगला मलूक अपनी प्रेम-मस्तीमें, सुनो ज़रा, क्या गा रहा है—

प्यारे, तेरा मैं दीदार-दीवाना।
घड़ी-घड़ी तुझे देखा चाहूँ, सुन साहिब रहमाना॥

हूँ अलमस्त, ख़बर नहिं तनकी, पीया प्रेम-पियाला।
ठाढ़ होउँ तो गिरि-गिरि परता, तेरे रँग मतवाला॥

उधर कबीर बाबा भी, अपनी धुनमें मस्त होकर, अनुराग-राग अलाप रहे हैं। वाह!

हमन हैं इश्क़ मस्ताना, हमन को होशयारी क्या?
रहैं आज़ाद या जगसे, हमन दुनियासे यारी क्या?
जो बिछुड़े हैं पियारेसे, भटकते दर-बदर फिरते।
हमारा यार है हममें, हमनको इन्तिज़ारी क्या?

× × × ×

एक प्रेमोन्मादिनी गोपिकाकी प्रेम-दशाको महाकवि देवने क्या ही सफल कौशलके साथ अंकित किया है। कुँवर कान्हकी कहानी सुनकर बेचारीको उन्माद-सा हो गया है। देखें, उस निठुर कान्हको भी अब इस पगलीकी नेह-कहानी सुनकर उन्माद होता है या नहीं—

जबतें कुँवर कान्ह रावरी कला-निधान,
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी-सी;
तबही तें 'देव' देखी देवता-सी, हँसति-सी,
खीझति-सी, रीझति-सी, रूसति-रिसानी-सी।
छोही-सी, छली-सी, छीनि-लीनी-सी, छकी-सी छीन,
जकी-सी, टकी-सी लगी, थकी, थहरानी-सी;
बींधी-सी, बंधी-सी, विष-बूड़ी-सी, बिमोहित-सी,
बैठी वह बकति बिलोकति बिकानी-सी॥

उस साँवलियाके दरसकी दीवानी, उस बाँसुरीवालेके प्रेमकी पगली आज इस हालतको पहुँच गई है! प्रेम क्यासे क्या कर देता है। वह अपने घरकी रानी आज 'बैठी है कछु बकति बिलोकति बिकानी-सी!'

रसिकवर हरिश्चन्द्रने भी एक ऐसी ही उन्मादिनीका चित्र खींचा है। टुक उसे भी एक नज़र देखते चलो—

भूली-सी, भ्रमी-सी, चौंकी, जकी-सी, थकी-सी गोपी,
दुखी-सी रहति, कछु नाहिं सुधि देहकी।
मोही-सी, लुभाई, कछु मोदक-सी खायें सदा,
बिसरी-सी रहै नैकु खबर न गेहकी॥
रिस-भरी रहै, कबौं फूलि न समाति अंग,
हँसि-हँसि कहै बात अधिक उमेहकी।
पूँछे तें खिसानी होय, उत्तर न आवै ताहि,
जानी हम जानी है निसानी या सनेहकी॥

प्रेम-रसोन्मत्तकी गति अगम्य है। कौन उसकी महिमाका पार पा सकता है? उसके लक्षण विलक्षण होते हैं। श्रीमद्भागवतमें प्रेमोन्मत्त भक्तकी महिमा, एक स्थलपर, भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे इस प्रकार गायी है—

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तम्,
हसत्यभीक्ष्णं रुदति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च,
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

अर्थात्, जिसकी वाणी गद्गद हो गई है, जिसका चित्त भावातिरेकसे द्रवित हो गया है, जो कभी रो उठता है, कभी निर्लज्ज हो उच्च स्वरसे गाने और कभी नाचने लगता है, ऐसा भक्ति-युक्त महाभाग संसारको पवित्र करता है।

सहजोकी सहोदरा दयाने भी प्रेम-प्रीतिके दीवानेपर कुछ साखियाँ कही हैं। कहती हैं—

'दया' प्रेम-उन्मत्त जे, तनकी तनि सुधि नाहिं।
झुके रहैं हरि-रस-छके, थके, नेम-व्रत नाहिं॥
प्रेम-मगन जे साधु जन, तिन गति कही न जात।
रोय-रोय गावत हँसत, 'दया' अटपटी बात॥
प्रेम-मगन गद्गद बचन, पुलक रोम सब अंग।
पुलकि रह्यौ मन रूपमें, 'दया' न ह्वै चित-भंग॥

× × × ×

उस्ताद ज़ौक़का एक प्रसिद्ध शेर है। उसमें, एक पागल कहता है, कि मैं प्रेमोन्मादके महोदधिकी लहरका वह केश-पाश हूँ कि सारा संसार ही मेरे पेंचोख़ममें घिरा हुआ है। मेरी भावनाएँ, जिन्होंने इस दुनियाको परेशान कर रखा है, चक्करमें डाल रखा है, उलझी हुई अलकावलीके समान हैं। शेर यह है—

वह हूँ मैं गेसुए मौजे मुहीते क़ुल्ज़मे वहशत,
कि है घेरे हुए रूये ज़मींको पेंचोख़म मेरा।

कैसा ऊँचा रहस्यवाद है! कौन उलझने जायगा प्रेमके दीवानेकी इस उलझनमें। पागलका यह पेंचोख़म गूँगेका-सा

ख़्वाब है, जिसका बयान नहीं हो सकता—

गूँगेका-सा है ख़्वाब बयाँ हो नहीं सकता।

जो प्रेममें दीवाने हैं, बेहोश हैं, वे ही तो असलमें होशयार हैं। ऐसे सोते हुए दिलवाले ही तो जाग रहे हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। —गीता

मौलाना रूमने क्या अच्छा कहा है, कि ऐसे बेहोश दिलों-पर तो, भाई, जान तक निसार करनेको जी चाहता है। पर यह दीवानगी, यह बेहोशी मिलती कैसे है? सुनो, अगर एक बार भी उस प्यारे रामकी झलक पा जाओ, तो मैं दावेके साथ कहता हूँ, कि तुम इतने मस्त या पागल हो जाओगे कि अपने दुनियावी दिल और जिस्ममें आग लगा दोगे। यह दावा किसी ऐसे-वैसे आदमीका नहीं है, सूफ़ी-प्रेमके सूर्य मौलाना जलाल-उद्दीन रूमीका है।

स्वामी रामतीर्थके प्रेमोन्मादसे तो आप लोग थोड़े-बहुत परिचित होंगे ही। वह भी एक ग़ज़बका मस्त था, सच्चा प्रेमी था, पूरा पागल था। वह राम बादशाह, सुनिए, क्या गा रहा है। वाह! आनन्द-ही-आनन्द है! क्या ख़ूब मेरे प्यारे राम!

डटकर खड़ा हूँ, ख़ौफ़से ख़ाली जहानमें।
तसकीने दिल भरी है मेरे दिलमें जानमें॥
गह-बगह दुनियाँकी छत पर हूँ तमाशा देखता।
गह-बगह देता लगा हूँ वहिशियोंकी-सी सदा॥

बादशाह दुनियाँके हैं मुहरे मेरी शतरंजके।
दिल्लगीकी चाल है, सब रंग सुलहो जंगके॥
रञ्जो शादीसे मेरे जब काँप उठती है ज़मीं।
देखकर मैं खिलखिलाता, क़हक़हाता हूँ वहीं॥

यही अवस्था तो है गीताकी 'ब्राह्मी स्थिति'। प्रेमोन्मत्त ही इस स्थितिका एकमात्र अधिकारी है। पगली दयाबाईने बिल्कुल सच कहा है—

प्रेम-मगन जे साधु जन, तिन गति कही न जात।
रोय-रोय गावत हँसत, 'दया' अटपटी बात॥

प्रेम-प्याला

हमारे मतवाले हरिश्चन्द्रने उस दिन वासनाओंकी प्याससे छटपटाते हुए संसारसे कहा था, कि—

पी प्रेम-पियाला भर-भरकर, कुछ इस मयका भी देख मजा।

प्रेम-प्यालेमें क्या भरा हुआ है, यह उसके पीनेवाले ही जानते हैं। प्रेम-प्यालेकी मदिरा विलक्षण है। इस लोककी मदिरा तो है ही क्या, स्वर्गकी भी सुरा उसके आगे तुच्छाति-तुच्छ है। उसमें अनन्त सत्य है, असीम सौन्दर्य है, अतुल कल्याण है। एक बार उस प्यालेको ओंठसे लगा लो और अपने जीवनको जीवन्मुक्तिके रंगमें रँग डालो। उस प्यालेका मोहन मधु जब रोम-रोममें भर जाता है, तब फिर किसी और शराबके पीनेको जी नहीं चाहता। कबीरकी एक साखी है—

'कबिरा' प्याला प्रेमका अन्तर लिया लगाय।
रोम-रोममें रमि रहा, और अमल क्या खाय॥

प्रेम-प्यालेकी मदिरासे ही स्वर्ग-सुधाने जन्म पाया है। आबेहयातका झरना उसी प्यारे प्यालेसे झर रहा है। सन्त मलूकदासने इस प्यालेके मतवालेकी दशा यों दिखायी है—

दर्द-दिवाना बावरा अलमस्त फ़कीरा ।
एक अकीदा लै रहा, ऐसा मन धीरा ॥
प्रेम-पियाला पीवता, विसरे सब साथी ।
आठ पहर झूमत रहै ज्यों मैगल हाथी ॥
बंधन काटे मोहके, बैठा निरसंका । *
वाकी नज़र न आवते क्या राजा रंका ॥
साहिब मिल साहब भया, कछु रहि न तमाई ।
कह मलूक तिस घर गया जहँ पवन न जाई ॥

प्रेम-प्यालेको ओंठसे लगाते ही हृदयमें एक मीठी हूक उठा करती है। फिर पीनेवाला किसी मीठे दर्दमें मस्त हो जाता है, बेहोश हो जाता है। किसी एक ओर उसकी लौ लग जाती है। उसे इस बातकी याद भी नहीं रहती, कि कौन उसका साथी है और वह किसका साथी है। जब देखो तब मतवाले हाथीकी तरह लूमता-झूमता नज़र आता है। उसकी दृष्टिमें न कोई राजा है, न कोई रंक। संसारी मोहके जितने नाते या बन्धन हैं उन सबको तोड़-ताड़कर वह निर्भय विचरा करता है। उसके हृदयमें तब किसी वासना या कामनाके लिए जगह ही नहीं रह जाती। अपने प्यारेसे मिलकर वह उसीका रूप हो जाता है। उस प्यालेका प्रेमी प्रेम-मद्यको पीते-पीते ही उस घरको पहुँच जाता है, जहाँसे लौटकर फिर कोई आवागमनके चक्रमें नहीं

* कबीरदासजीके भी एक पदकी चार पंक्तियाँ ठीक यही हैं।

पड़ता। अनायास ही उसे मुक्ति-लाभ हो जाता है। पर मोक्ष-पदको वह कुछ अधिक आदर नहीं देता। वह तो अपने प्रियके दर्शनमें ही सदा मस्त रहता है। कबीर साहबने कहा है—

राता माता पीवका, पीया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदारका, माँगै मुक्ति बलाय॥
कठिन पियाला प्रेमका, पियै जो हरिके हाथ।
चारों जुग माता रहै, उतरै जियके साथ॥

प्रेमकी सुरा पीनेसे जीवन-मरणका भय हृदयसे निःशेष हो जाता है। जो इसमें छक गया, उसकी दृष्टिमें संसार, संसार नहीं। या तो वह निश्चिन्त विचरता रहता है, या मतवाला होकर मौजके हौजमें पड़ा रहता है। एक बार भी जिसने इस प्रेम-मदिराको ओंठसे लगा लिया, वह फिर बिना उसके रह ही नहीं सकता—वह तो सदा उसकी चाहमें ही डूबा रहता है। धन-दौलतको वह पानीकी तरह बहा देता है। सर्वस्वही क्यों न चला जाय, पर वह प्रेम-सुराका पीना न छोड़ेगा—

सुनु धन, प्रेम-सुराके पिए। मरन-जियन-डर रहै न हिए॥
जेहि मद तेहि कहाँ संसारा। की सो घूमि रह की मतवारा॥
जा कहँ होइ बार इक लाहा। रहै न ओहि बिनु ओही चाहा॥
अरथ दरब सो देइ बहाई। की सब जाहु, न जाइ पियाई॥

—जायसी

× × × ×

बस, एक ही प्याला चाहिए, गुरुदेव, एक ही प्याला। साक़ी, हाथ जोड़ता हूँ, तेरे पैरों पड़ता हूँ। दया करके एक प्याला दे दे। क्या पूछा, कि प्याला लेकर क्या करेगा? तेरी दी हुई प्रेम-सुराको पीकर उसकी मस्तीमें एक खेल खेलूँगा। तेरे मदिरालयमें, तेरे मयख़ानेमें, न जानें कितने प्रेम-योगियोंने वह खेल खेला है। मैं भी एक कंथा सी लूँगा और उसे कंधेपर डालकर योग जगाऊँगा। योग धारणकर मैं अपने बनाये संसारका प्रलय करना चाहता हूँ। योगी बनकर मैं उस देशको जाऊँगा, जो मेरे प्रियतमका ठौर है। इस देशमें रहना अब मुझे तनिक भी नहीं भाता। एक-एक पल एक-एक वर्ष-सा बीत रहा है। ज़हाँ वह मेरा 'प्राण' बसता है, वहीं जानेको अब छटपटा रहा हूँ। सो, साक़ी, एक प्याला भरकर दे दे—

दे मदिरा भर प्याला पीवों। होइ मतवार काँथरा सीवों॥
सो काँथर काँधे पर डारउँ। जोगी होइ जग चाहत मारउँ॥
होइ जोगी तेहि देसहि जाऊँ। है जेहि देस सुमीतम ठाऊँ॥
मोहि यह देस न भावत, छन है बरस-समान।
अब तेहि देस सिधारऊँ, जहाँ रहत वह प्रान॥

—नूर मुहम्मद

जो कुछ भी दाम तू एक प्यालेका लेना चाहेगा, मैं ख़ुशी-ख़ुशी दे दूँगा। अपना प्यारा मन भी मैं हँसते-हँसते सौंप दूँगा। तेरे इस पवित्र मदिरालयको मैं अपनी पलकोंसे बुहार दूँगा। सो, अब तो दया कर, मेरे प्यारे साक़ी!

एक पियाला भर मद दीजै। मोक्ष पियारो मानस लीजै॥
पिअउँ सुरा सब चिन्ता मारउँ। पलकनसों मद-सदन बोहारउँ॥
—नूरमुहम्मद

साक़ी, इस तरहका कोई प्याला पिला दे, कि जिसके पीते ही मेरा निठुर साईं मुझे चाहने लगे—

तू आज दुआ, साक़ी, गर मेरी लिया चाहे,
इस ढबकी पिला दे मैं, पीते ही पिया चाहे।

सन्त रैदास भी कुछ ऐसा ही गा गये हैं—

देहु कलाली! एक पियाला। ऐसा अवधू है मतवाला॥

अरे, भाई! उस प्रेम-प्यालेको कौन कमबख़्त न पीना चाहेगा। वह मद्य ही ऐसा है। क्या पी रहे हो तुम सब इन गंदी और रद्दी शराबोंको, मेरे दोस्तो! तुममेंसे कोई अँगूरका मद्य पी रहा है, तो कोई किसी परीज़ादीकी नशीली आँखड़ियोंसे शराब ढाल रहा है। कोई धन-दौलतकी शराबमें चूर है, तो कोई अधिकारकी मदिरा चढ़ाकर बेहोश पड़ा है। पर इन सबका नशा, जानते हो, कबतक ठहरेगा? ये सब चन्द मिनटोंके नशे हैं। इन प्यालोंमें एक बूँद भी न रहेगी। ये मद-माती रसीली आँखें गड्हेमें घुस जायँगी। चंचला लक्ष्मी भी अठलाती हुई न जाने किस द्वारसे कब निकल जायगी। और, अधिकारोंका मद तो देखते-ही-देखते उतर जायगा। फिर प्यारे मित्रो! क्यों ऐसी

झूठी और गंदी शराबोंपर मर रहे हो ! क्यों नहीं ख़रीद लेते वह प्रेम-सुरा, जिसे पीकर तुम लोग उस सेजपर जाकर सो जाओगे, जहाँ, बक़ौल मौलाना रूम, सूर्य भी तुम्हें न जगा सकेगा, जहाँ महाप्रलय भी तुम्हारी शान्ति-निद्रा भंग न कर सकेगा। धन्य है वह वारुणी !

यह वह मै है जिसके पीनेसे और ध्यान छुट जाता है।
अपनेमें औ दिलवरमें फिर कुछ भेद नहीं दिखलाता है॥
इसके सुरूरमें मस्त हरेक अपनेको नज़र बस आता है।
फिर और हवस रहती न ज़रा, कुछ ऐसा मज़ा दिखाता है॥
टुक मान मेरा कहना, दिलको इस मैखानेकी तरफ़ झुका।
पी प्रेम-पियाला भर-भर कर, कुछ इस मै का भी देख मज़ा॥

—हरिश्चन्द्र

स्वर्गकी भी तो एक प्रकारकी सुरा सुननेमें आती है। अजी, वह कुछ नहीं है। कर्मकाण्डियोंकी कोरी कल्पनामात्र है। बेचारे उससे अपना थका-माँदा मन बहला लेते हैं। न ख़ुद ही उसे पी पाते हैं, न किसीको पिला ही सकते हैं। ग़ालिबने एक कर्मकाण्डीको कैसा लज्जित किया है—

वाइज़, न तुम पियो, न किसीको पिला सको,
क्या बात है तुम्हारी शराबे तहूरकी !

शराबे तहूरकी, स्वर्ग-सुराकी यह दशा है ! एक बार भी

इन नीरस कर्मकाण्डियोंको हमारी प्रेम-मदिराका स्वाद मिल गया होता, तो फिर ये अपनी कल्पित स्वर्ग-सुराका कभी प्रसंग ही न छेड़ते। इन कर्मठ रोगियोंकी दवा इसलिए प्रेम-प्याला ही है। इनमेंसे कोई पूछे तो बता देना, कि थोड़ी-सी प्रेम-मदिरा पी लो, नीरसताका असाध्य रोग दूर हो जायगा—

जो पूछे ज़ाहिदे खुश्क अपनी दारू, कह दो, मै पी ले॥

—ज़ौक़

बस, प्रेम-प्यालेमें ही एक ऐसा मद्य भरा हुआ है, जो इस नीरस जीवनको रसमय बना देता है। और, रस ही तो इस लोक और उस लोकका एकमात्र सार है—

एहि जग माहँ एक रस सारा। रस बिनु छूछ सकल संसारा॥

—उसमान

वह आत्म-रस प्रेम-प्यालेमें ही तुम्हें घुला मिलेगा। इससे, भाई, हम तो बार-बार हरिश्चन्द्रके स्वरमें स्वर मिलाकर यही कहेंगे, कि—

पी प्रेम-पियाला भर-भरकर कुछ इस मै का भी देख मज़ा।

जितना यह मद्य पिया जाय, पी लो। प्यालेपर प्याला ढालते जाओ। ऐसा सुअवसर बार-बार नहीं मिला करता। अहा! कैसा मज़ेदार प्याला है! अन्तमें, कविवर देवके साथ-साथ सुरति-कलारीके हाथसे एक प्याला लेनेको हमारा भी मन अधीर हो रहा है—

धुरतें मधुर, मधु रसहू विधुर करै,
मधु रस बेधि उर गुरु रस फूली है ;
ध्रुव-प्रहलाद-उर हुव अह्लाद जासों
प्रभुता त्रिलोकहूकी तिल-सम तूली है ।
बेदम-से वेद-मतवारे मतवारे परे,
मोहे मुनि देव 'देव' सूली-उर सूली है ;
प्याला भरि-दै री, मेरी सुरति कलारी, तेरी
प्रेम-मदिरा सों मोहि मेरी सुधि भूली है ॥

प्रेम-पंथ

न जाने, कबसे यह थका-माँदा, भूखा-प्यासा पथिक इधर-उधर भटक रहा है। कहाँ-कहाँ मारा-मारा फिरता है बेचारा! यह भी तो नहीं जानता, कि उसका लक्ष्य-स्थान किधर है, कहाँ है। हमें तो सन्देह है, कि यह भूला-भटका मुसाफ़िर अपने इष्ट-स्थान तक कभी पहुँचेगा भी या नहीं। इसे अभीतक वह रास्ता ही नहीं मिला, जो उसे उसके प्यारेके क़दमों तक पहुँचा दे। बेचारेको कोई उधरसे लौटा हुआ भी तो नहीं मिला। किससे पूछे, क्या करे!

उततें कोइ न बहुरा, जासे बूझै धाय।
इततें सबही जात हैं, भार लदाय-लदाय॥
नावँ न जानै गाँवका, बिन जाने कित जाँव।
चलता-चलता जुग भया, पाव कोस पर गाँव॥

—कबीर

उधरकी तरफ़ दो रास्ते गये हैं, एक ज्ञानका, दूसरा प्रेमका। हैं दोनों ही कठिन। सुना है, कि-

ज्ञान क पंथ कृपानक धारा। परत खगेस, होइ नहिं बारा॥

—तुलसी

और—

यह प्रेमको पंथ करार महा, तरवारकी धार पै धावनो है।

—बोधा

ज्ञानका पंथ कृपाण-धारा हो या कुसुम-धारा, इसका हमें पता नहीं,पर प्रेमका पंथ तो निस्सन्देह खड्ग-धारा है। कमल-तन्तु-सा क्षीण वह अवश्य है, पर है महान् कठिन, वस्तुतः खड्ग-धारा-सा तीक्ष्ण। अत्यन्त सीधा अवश्य है, पर उसकी सिधाई है बड़ी विकट और दुर्गम। ऐसा वह प्रेम-पंथ है—

कमल तन्तु-सो छीन, अरु कठिन खड्गकी धार।
अति सूधो, टेढ़ो बहुरि प्रेम-पंथ अनिवार॥

—रसखानि

पर साथ ही—

कबहुँ न जा पथ भ्रम-तिमिर, रहै सदा सुख-चंद।
दिन-दिन बाढ़त ही रहै, होत कबहुँ नहिं मंद॥

—रसखानि

अविद्या-जनित भ्रमान्धकार इस मार्गमें नहीं है। यहाँ तो सदैव सुख-सुधाकरकी आनन्द-चन्द्रिका फैली रहती है। इसमें सन्देह नहीं, कि यह पथ अतिशय आनन्ददायी है। पर इसे पाना सुगम नहीं। महाकठिन साधना है। मोमके घोड़ेपर चढ़कर आगके अंदर हो निकल जानेके समान इसपर चलना है। यह काम क्या हर कोई कर सकेगा?

'रहिमन' मैन-तुरंग चढ़ि, चलिवो पावक माहिं।
प्रेम-पंथ ऐसो कठिन, सब कोउ नियहत नाहिं॥

अपने 'इश्क़नामा' में विरही बोधाने प्रेम-पंथकी लाजवाब तसवीर खींची है। आख़िर यह पंथ है क्या ? इसपर चलना क्या कोई भारी बला है ? क्या पूछते हो, भाई, बहुत ही बारीक और कोमल कमलके तारपर पैर रखकर क्या तुम आ सकोगे ? सुईके छेदसे भी तंग दरवाज़ेसे होकर क्या प्रतीतिका टाँड़ा लादे हुए निकल आओगे ? नेजेसे भी तेज़ नोक पर चढ़कर अपने चित्तको डिगाओगे तो नहीं ? जो इतना सब करनेको राज़ी हो, तो प्रेमकी इस महा कराल तलवारकी धारपर तुम ख़ुशीसे दौड़ सकते हो—

अति छीन मृनालके तारहुतें, तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
सुई-वेहतें द्वार सँकीन, तहाँ परतीतिकौ टाँड़ो लदावनो है॥
कवि "बोधा" अनी घनी नेज़हुतें, चढ़ि तापै न चित्त डगावनो है।
यह प्रेम कौ पंथ करार महा, तरवारकी धार पै धावनो है॥

कहो, रखते हो हिम्मत ? क्यों, भाई !

'ज्ञान क पंथ कृपान कै धारा' है या 'प्रेम क पंथ कृपान कै धारा'?

इतनी तंग है वह रस-भरी गली, कि यह उन्मत्त मन धीरे-धीरे बड़ी कठिनाईसे उसमें जा सकता है। सुकवि उसमान लिखता है—

प्रेम-खोर महँ अति सँकराई। अतन-अतन मन तहाँ समाई॥
जौलौं मन तहँ ठाउ न पावा। तौलौं तन तेहि वार न आवा॥
तेहि कारन ये लोग सनेही। गलि-गलि आँसु ढाड़ रह देही॥
सुख-सम्पति घरबार बिसारा। बावर भये फिरहिं संसारा॥

न-जाने कितने पगले फ़कीर इस गलीके चक्कर काटते देखे गये हैं पर इस कृपाण-धाराको कोई पार कर सका है, तो एक प्रेमोन्मत्त ही। प्रेमीका ही यहाँ निर्वाह है, नेमीका नहीं—

कठिन पंथ यह पाँव धरै को, खाँड़ेकी-सी धारा।
नेमी कटि-कटि परत बीच ही, प्रेमी उतरत पारा॥

—बख्शी हंसराज

यहाँ चतुराई काम नहीं देती। यहाँ तो सच्चेका काम है, कपटीका नहीं—

अति सूधो सनेह कौ मारग है, जहँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलैं तजि आपनपो, झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं॥

—आनन्दघन

अजी, प्रमियोंकी क्या बात कहते हो! इस खड्ग-धारापर पैरोंसे ही क्या, सरके बल चलनेको वे तैयार रहते हैं। अपने प्यारेके मार्गपर, भला, वे अपने अपवित्र पैर रखेंगे? वे तो उसपर अपने सरको पैर बनाकर चलेंगे—

वह पथ पलकन्ह जाइ बोहारौं। सीस चरनकै चलौं सिधारौं॥

—जायसी

बेहोश मतवाले प्रेमीजन प्रेम-पंथपर चलते समय यह नहीं देखा करते, कि दिन है या रात, सबेरा है या शाम, उँजेला है या अँधेरा ! उन्हें इस सबकी सुध नहीं—

प्रेम-पंथ दिन-घरी न देखा । तब देखै जब होइ सरेखा ॥

—जायसी

वे तो उस प्रिय-मार्गपर चलना और केवल चलना ही जानते हैं। जीवका, सच मानो, परम पुरुपार्थ इसीमें है, कि वह सुराते इश्क़पर, प्रेम-पंथपर, सरके बल चलकर किसी दिन उस प्रेम-पुरीमें अपने प्यारेके क़दम चूम ले। माना, कि—

है आगे परबत कै बाटा । विषम पहार अगम सुठि घाटा ॥
बिच-बिच नदी-खोह औ नारा । ठाँवहिं ठाँव बैठ बटपारा ॥

—जायसी

पर उसपर गुज़रकर मंज़िले-मक़सूदको पा जाना भी तो कोई चीज़ है। अहा !

प्रेम-पंथ जो पहुँचै पारा । बहुरि न मिलै आइ एहि छारा ॥
तेहि रे, पंथ हम चाहहिं गवना । होहु सँजूत बहुरि नहिं अवना ॥

—जायसी

इसी राहसे हम उस पार पहुँच जाते हैं, जहाँसे फिर लौटकर इधर आना नहीं होता। इस गलीकी धूल छानकर फिर गली-गलीकी धूल नहीं छाननी पड़ती। अरे, तैयार हो जाओ, हम सब भूले-भटके अब उसी पंथपर चलना चाहते हैं। कैसी तैयारी

करोगे ? सबसे पहले तो इस लोककी लाजको और उस लोक-की चिन्ताको प्रीतिपर न्योछावर कर दो। यदि तुम्हारे गाँवका, तुम्हारे घरका या तुम्हारी देहका नाता तुम्हारे प्रेम-मार्गमें बाधक बन रहा हो, तो उसे भी प्रीतिपर बलि कर दो। प्रीति-नीतिको वही निभा सकेगा, जो यह समझ बैठा है, कि प्रेमियोंके धड़पर सिर तो जन्मसे ही नहीं होता। प्यारे मित्र! यदि तुम संसारके भयसे डर रहे हो, तो हाथ जोड़कर तुमसे यही विनय है, कि प्रीतिके मार्गपर भूलकर भी कभी पैर न रखना। कवि-वर बोधाके सुन्दर शब्दोंमें—

> लोककी लाज, औ सोच प्रलोक कौ वारिये प्रीतिके ऊपर दोऊ।
> गाँव कौ, गेह कौ, देह कौ नातो सनेहमें हाँतो करै पुनि सोऊ॥
> 'बोधा' सुनीति निबाह करै, धर ऊपर जाके नहीं सिर होऊ।
> लोककी भीति डेरात जो मीत, तौ प्रीतिके पैंडे परै जनि कोऊ॥

यह ऐसा अगम पंथ न होता, तो इसपर आज सभी ऐरे-गैरे चलते दिखाई देते। जायसीने कहा है—

> अगम पंथ जो ऐस न होई। साध किए पावै सब कोई॥

इसीसे तो कहते हैं, कि—

> 'रहिमन' मारग प्रेम कौ, मत मति-हीन मझाव।
> जो डिगिहै तौ फिरि कहूँ, नहिं धरनेको पाव॥

फिर भी, कैसी दिल्लगी है, जो ये कामान्ध बनिये प्रेमियों-का भेष बना-बनाकर, इस पवित्र प्रेम-पंथपर चलनेकी अनधिकार

चेष्टा करते ही जा रहे हैं! यह देखो, ये लोग अपनी-अपनी काम-वासनाओंको मोहके बैलोंपर लाद-लादकर इस प्रेम-मार्गसे जानेकी तैयारी कर रहे हैं! किस पंथपर जाना चाहते हैं ? अरे, उसीपर, जिसपर चींटीका भी पैर फिसलता है! उसपर जाना इन दुनियादारोंने मज़ाक बना रखा है—

> 'रहिमन' पैंडो प्रेम कौ, निपट सिलसिली गैल।
> खिछलत पांव पिपीलि कौ, लोग लदावत बैल॥

किमाश्चर्यमतः परम् !

× × × ×

यह गली सचमुच इतनी तंग है, कि इसपर ख़ुदीसे ख़ाली होकर ही कोई जा सकता है। ख़ुदी और प्यारेकी चाह, इन दोनोंकी यहाँ एक साथ गुज़र नहीं है। कबीर साहबने क्या अच्छा कहा है—

> जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं, हम नाहिं।
> प्रेम-गली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं॥

प्रेम-पंथके इस अनधिकारी मूढ़ पथिकने भी कुछ ऐसा ही आयँ-बायँ-सायँ बक डाला है। उस बकवासपर कोई दाद तो न देगा, पर वह ऊटपटाँग पद फिर भी लिखे देता हूँ। शायद उससे आपका कुछ मन-बहलाव हो जाय—

> खोर है रसकी साँकरिया।
> पायनि गड़ि-गड़ि जांय कसककी पैनी काँकरिया॥

तापै चलै न कोइ गरबकी लैकैं गागरिया।
'हरि' घूमै इक प्रेम-रँगीली पियकी नागरिया॥

इस मार्गको प्रेमियोंने दुर्गम और सुगम दोनों ही रूपोंमें दिखाया है। संत-शिरोमणि कबीरने एक साखीमें यह कहा है, कि—

पियका मारग कठिन है, खाँड़ा हो जैसा।

और दूसरी साखीमें आप यह फरमाते हैं, कि—

पियका मारग सुगम है, तेरा चलन अबेड़ा।

मार्ग तो बड़ा ही सरल और सुगम है, पर तेरा उसपर चलना ही ऊट-पटाँग-सा है! पगली, नाचना तो ख़ुद जानती नहीं, आँगनको टेढ़ा बतलाती है! हाँ, सच तो है—

पियका मारग सुगम है, तेरा चलन अबेड़ा।
नाच न जानै बावरी, कहै आँगना टेढ़ा॥

बेचारी बाटका क्या दोष है। पथिक ही राह छोड़कर ऊबड़-खाबड़में हो जा रहा है। साईंके द्वारपर इस तरह वह कैसे पहुँच पायगा—

बाट बिचारी क्या करै, पथी न चलै सुधार।
राह आपनी छाँड़िकै चलै उजार-उजार॥
—कबीर

बस, बात यही है, कि जबतक हमारे हृदयमें अहंकार रहेगा, तबतक हम कदापि इस सुगम मार्गपर ठीक तौरसे न

चल सकेंगे। इस राहपर चलनेके तो, भाई, मंसूर-जैसे अलमस्त आशिक़ ही आदी हैं।

× × × ×

प्रेमकी गली कैसी पेचीदा है! 'गोकुल-गाँवको पैंडो ही न्यारो' है। यहाँ एक नहीं, दो-दो चीज़ें लापता हो जाती हैं। 'मैं' भी खो जाता हूँ, और मेरा दिल भी खो जाता है। मैं दिल-को खोजता हूँ और दिल मुझे खोजता है। कैसी अनोखी पहेली है यह!

तेरी गलीमें आकर खोये गये हैं दोनों,
दिल मुझको ढूँढ़ता, मैं दिलको ढूँढ़ता हूँ।

—दर्द

किसी खोये हुएको खोजने चले थे। बलिहारी हमारी खोजपर! धन्य है यह प्रेम-पंथ! ख़ुद अपनेको ही खो दिया। मीरसाहब हैरान और परेशान हो कहते हैं—

उसे ढूँढ़ते 'मीर' खोये गये,
कोई देखे इस जुस्तजू की तरफ़!

ऐसा है यह मार्ग! धन्य हैं वे आशिक़ फ़क़ीर, जिन्होंने इस पन्थपर चलकर अपने दर्दीले दिलको और ख़ुद अपनेको भी खो दिया। मुबारक हों वे प्रेम-रससे लबालब भरे हुए दिल-के कटोरे, जो इस गलीमें उसे खोजते हुए ख़ुद ही कहीं गुम हो गये। जुस्तजू, बस, इसे कहते हैं। दिल खो जाता है और

ख़ुद अपना भी पता नहीं चलता। नुक़सान-ही-नुक़सान है। नफ़ाका कहीं नाम भी नहीं। फिर भी सच्चे प्रेमी इस पन्थपर चलनेसे रुकते नहीं। ज़रा, उनकी हिम्मत तो देखो। इसे कहते हैं साहस। कहते हैं, कि मार्ग कैसा ही कठिन हो, हम डरनेवाले नहीं। हमारा पैर उसपरसे डिगनेवाला नहीं, फिसलनेका नहीं। अजी, हम तो हम, हमारे ख़ूनको देखो। जब क़ातिल हमें क़त्ल करता है, तब वह उसकी तलवारसे कैसा चिपट जाता है। जब तलवारकी धारसे हमारा ख़ून तक अलग होना नहीं चाहता, तब क्या यह सोचा जा सकता है, कि हम इस प्रेम-पन्थको घबराकर छोड़ देंगे? उस्ताद ज़ौक़का यह सुनहला भाव है। सो, अब उन्हींके शब्दोंमें—

सुराते इश्क़पर अज़बसके है साबित क़दम मेरा,
दमे शमशेर क़ातिलपर भी ख़ूं जाता है जम मेरा।

ख़ूब! किसकी तारीफ़ करें—शमशेरकी या ख़ूनकी? वाह!

दमे शमशेर क़ातिलपर भी ख़ूं जाता है जम मेरा।

× × × ×

कैसा अनोखा है यह प्रेम-पंथ! कौन इसकी महिमाका पार पा सकता है। इसपर पथिक चलते तो हैं, पर भूले हुए-से। होशयार-से दिखते हैं, पर रहते हैं बेहोश। आनन्दघन कहते हैं—

जान घनआनँद, अनोखो यह प्रेम-पंथ,
भूले-से चलत रहैं सुधिके थकित है।

इसीसे इस मार्गका यथार्थरूप आजतक कोई समझ नहीं सका।

मारग प्रेम कौ को समुझै, 'हरिचन्द' जथारथ होत जथा है।

प्रेम-मार्गके यथार्थरूपका तो वे भी वर्णन नहीं कर सके जो इसपर चलकर अपने प्यारेकी प्यारी झलक पा चुके हैं। अक्षर और मात्राएँ जोड़नेवाले ये कवि, भला, इस पंथका यथार्थ वर्णन कर सकेंगे ? इसका रूप मन और वाणीका विषय नहीं है। यह तो केवल अनुभवगम्य है। प्रेमका वर्णन प्रेम ही कर सकता है। प्रेमका पता प्रेम ही ला सकता है। प्रेमका चित्र प्रेम ही खींच सकता है।

पथिको ! इस पथपर चलनेका उद्देश किसी विश्रान्ति-भवनमें टिक रहना नहीं है। इसका उद्देश तो वहाँ पहुँचना है, जिसके आगे जानेका फिर कोई मार्ग ही नहीं। कविकी वाणीमें—

इस पथका उद्देश नहीं है
श्रान्ति-भवनमें टिक रहना ;
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर ,
जिसके आगे राह नहीं।

—जयशंकर 'प्रसाद'

पर, सावधान, सँभल-सँभलकर चलना—

न्यारो पैंडो प्रेम कौ, सहसा धरौ न पाव।
सिरके बलतें भावते, चलत बनै तौ जाव॥

—रसनिधि

कबीर साहब भी तो आगाह कर रहे हैं—

समुझि-सोच पग धरौ जतनसे, बार बार डिगि जाय।
ऊँची गैल राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय॥

भाई, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, कि—

यह प्रेम कौ पन्थ करार महा, तरवारकी धार पै धावनो है।

प्रेम-मैत्री

भाई, मित्रता तो बस प्रेममयी। सत्य, नित्य और कल्याण-युक्त मैत्री निष्काम और अनन्त प्रेमसे ही उत्पन्न होती है। प्रेम-मैत्री स्वार्थ-वासनासे मुक्त और स्नेह-भावनासे बद्ध होती है। स्नेहका एक कोमल तन्तु, इश्क़का एक कच्चा धागा दो मज़बूत दिलोंको बाँधकर एकदिल कर देता है। ऐसी सच्ची दोस्तीमें ख़ुदगरज़ीके लिए ज़रा भी जगह नहीं। बदलेकी भावना वहाँ ढूँढ़नेपर भी न मिलेगी। जिसमें बदला है, वह दोस्ती नहीं, एक तिजारत है—

दोस्ती, और किसी गरज़के लिए,
यह तिज़ारत है, दोस्ती ही नहीं।

मित्रतामें तो देने-ही-देनेका भाव है, लेनेका नहीं। बिना किसी प्रकारके लाभ या लोभके जिसकी मित्रता स्थिर रहती है, वही अपना सच्चा मित्र है। महात्मा कबीरदासने कहा है—

वाही नरको जान तू पूरा अपना मीत।
जो राखै बिन लाभके तुझसे प्रीत प्रतीत॥

यहाँ रहीमकी भी एक सूक्ति याद आ गई है—

यह न 'रहीम' सराहिए, देन-लेनकी प्रीति।
प्राननि बाजी राखिए, हार होय कै जीति॥

तन, धन और मन दे देना तो एक मामूली-सी बात है, प्रेमी मित्रको तो, भाई, मित्रताकी बलि-वेदीपर अपनी प्यारी जान भी हँसते-हँसते चढ़ा देनी चाहिए। दोस्ती निभाते हुए मर जाना मरना नहीं, सदाके लिए अमर हो जाना है। कविवर नूरमुहम्मदने, इन्द्रावतीमें, एक स्थलपर कहा है—

प्रेमी ताकों जानिए, देइ मित्र पर प्रान।
मित्र-पंथ पर जिउ दिहें जुग जुग जियै निदान॥

जिन लोगोंने राहेदोस्तीमें, मित्रताके मार्गमें, अपने प्राण दे दिये हैं, उनके पवित्र पाद-चिह्नोंपर संसार अपना मस्तक क्यों न रखे—

जो राहेदोस्तीमें, ऐ मीर, मर गये हैं,
सर देंगे लोग उनके पा के निशान ऊपर।

स्वार्थ-त्याग ही मैत्रीका एकमात्र परिपोषक है। जहाँ स्वार्थ है, वहाँ मैत्री कहाँ?

× × × ×

सचमुच स्वार्थीकी दोस्ती किसी कामकी नहीं। भौंरे और फूलमें भी तो मित्रता होती है। बेचारा पुष्प-परागपर कैसा पागल हो जाता है! मस्त होकर उस अधखिली कली-पर कैसा मँडराता है! पर मधु-विहीन सुमनके भी समीप जाते

किसीने कभी उस उन्मत्त मधुपको देखा है? कितने रस-पूर्ण पुष्पोंको चंचल चंचरीकने अपना मित्र न बनाया होगा। पर कबतकके लिए? जबतक वे उसे अपने मधु-रसका प्रणय-उपहार देते रहे। फिर भी आप पुष्पके प्रति लोभी भ्रमरकी प्रीतिको मित्रताका नाम देते हैं! सुकवि नूरमुहम्मदने क्या अच्छा कहा है—

खोटी प्रीति भँवर की आहै। भँवर आपनो कारज चाहै॥
आइ भँवात बास-रस-आसा। लै रस तजत फूल की पासा॥
लै रस-बास भँवर उड़ि जाई। मरत न जय सुमनस कुम्हलाई॥

फिर भी 'प्रेमी ताको जानिए देइ मित्रपर प्रान' इस कसौटीपर आप भौंरेकी खोटी मित्रताको कसने जा रहे हैं? भ्रमर-की स्वार्थमयी प्रीति कहीं मित्रताका नाम पा सकती है? मित्रता तो, बस, जलके साथ मीनकी है। केवल उसे ही 'देइ मित्रपर प्रान' की प्राणान्त परीक्षामें आप सर्वप्रथम उत्तीर्ण पायँगे।—

धनि 'रहीम' गति मीनकी, जल बिछुरत जिय जाय।
जिअत कंज तजि अनत बस, कहा भौंर कौ भाय॥

महात्मा सूरदासने भी मधुकरकी स्वार्थमयी मित्रतापर असन्तोष प्रकट किया है—

मधुकर काके मीत भए?
दिवस चारकी प्रीति-सगाई, सो लै अनत गए॥

बहकत फिरत आपने स्वारथ, पाखँड और ठप।
चाँड़े सरे चिन्हारी मेटी, करत हैं प्रीति न ए॥

मतलब पूरा हो जानेपर इतना भी तो ख़याल नहीं रहता, कि वह किसी समयका अपना अभिन्नहृदय मित्र आज कौन और क्या है! कल एक अभिन्नहृदय मित्र था, आज दूसरा है! कल कोई तीसरा जिगरी दोस्त बना लिया जायगा और परसों चौथा! यह भी, भला, कोई मित्रता है, कोई प्रीति है।

× × × ×

निष्कपट मैत्री निष्काम प्रेमियोंमें ही पायी जाती है। प्रेम-पूर्ण मित्रतामें कहीं छल-कपट स्थान पा सकता है? कपटी मित्रसे तो, भाई, निष्कपट शत्रु ही कहीं अच्छा है। रहीमने कपटी मित्रकी तुलना खीरेके साथ की है और ख़ूब की है। ऊपर-से तो एक देख पड़ता है, पर भीतर अलग-अलग तीन फाँकें होती हैं। पर, जो सच्चा प्रेमी है, उसका बाहर-भीतर एक-सा रूप होता है—

'रहिमन' प्रीति न कीजिए, जस खीराने कीन।
ऊपरसे तो दिल मिला, भीतर फाँकें तीन॥

जिसके हृदय-तलमें प्रेमका अंकुर नहीं उगा, वही कपटका आश्रय लेगा। प्रेमका निवास-स्थान सत्यमें है, और कपटका असत्यमें। अतः प्रेम और कपट, सत्य और असत्य एक साथ

कैसे रह सकते हैं ? यह कह देना तो बहुत ही आसान है, कि हमारा-तुम्हारा मन मिल गया है, अब कौन हमें-तुम्हें जुदा कर सकता है ? पर मनका मिल जाना है महान् कठिन। ज़रा-सी ठेस लगते ही हम लोगोंके घुले-मिले हुए मन एक क्षणमें अलग हो जाते हैं। ऐसा सच्चे प्रेमके अभावसे ही होता है। यदि प्रेमने हमारे दिलोंको मिलाकर एक कर दिया होता, तो वे विलग होते ही क्यों ? इसलिए प्रेमके मिलाये हुए मन ही सच्चे मिले हुए मन हैं—

'धरनी' मन मिलियो कहा, तनिक माँहि बिलगाहिं।
मन कौ मिलन सराहिए, एकमेक ह्वै जाहिं॥

मिले हुए दिलोंका एक निराला रंग होता है। अपने-अपने स्वार्थको छोड़कर वे प्रेमका रंग धारण कर लेते हैं। हलदी अपनी ज़र्दीको छोड़ देती है और चूना अपनी सफेदीको। दोनों मिलकर प्रेमकी एक निराली लालीमें रँग जाते हैं। ऐसी तदाकार प्रीति ही परम प्रशंसनीय है—

'रहिमन' प्रीति सराहिए, मिले होत रँग दून।
ज्यों जरदी हरदी तजै, तजै सफ़ेदी चून॥

ऐसे प्रेमी मित्र इस स्वार्थी संसारमें आज कितने हैं—

सुखोंकी चाहें हैं सबमें,
नहीं मतलब किसको प्यारा ?

आँखमें बसनेवाले हैं,
कौन है आँखोंका तारा।

—हरिऔध

हम सभी अब दिन-दिन कपटी होते जा रहे हैं, क्योंकि हमारा जीवन ही प्रेम-हीन है। न हम ही किसीके दिली दोस्त हैं, न हमारा ही कोई सच्चा मित्र है। हम मित्र नहीं, तिज़ारती बनिये हैं। हाँ, हमारे दिल मजीठके रंगमें रँगे हुए कपड़-की तरह होते, तो आज हमारा दोस्तीका दावा सच्चा कहा जा सकता। हमारे दिलोंपर न वह पक्का रंग है, और न हम किसीके दोस्त कहलाने लायक हैं। संत-वर पलटूदासने कहा है—

'पलटू' ऐसी प्रीति करु, ज्यों मजीठ कौ रंग।
टूक-टूक कपड़ा उड़ै, रंग न छोड़ै संग॥

पर, अब तो, भाई, रोना आता है। किससे तो मित्रता करें और किससे प्रीति जोड़ें—

'पलटू' मैं रोवन लगा, जरी जगतकी रीति।
जहँ देखो तहँ कपट है, कासों कीजै प्रीति॥

मित्रता किसीसे करनी हो तो अभिन्न-हृदय दूध और पानीकी प्यारी जोड़ीसे कुछ सीख लो। दोनों दिलवरोंके दिल कैसे घुल-मिलकर एक हो गये हैं। दूध जहाँ-जहाँ जिस भावपर बिकता है, पानीको भी वहाँ-वहाँ अपने ही मोलपर

बिकवाता है। जब आग दूधको जलाने लगती है, तब अपने मित्रके साथ जल भी ख़ुद जलने लगता है। और, बिना पानी-के दूध उफना-उफनाकर आगमें जब गिरने लगता है, तब जल ही उसे सान्त्वना देकर असह्य अग्नि-दाहसे बचाता है। अब आचार्य भिखारीदासके सरस शब्दोंमें इस भावको देखें—

'दास' परस्पर प्रेम लख्यौ गुन छीर को नीर मिलै सरसातु है।
नीर बेचावतु आपुनो मोल है छीर जहाँ-जहँ जाइ बिकातु है॥
पावक जारन छीर लगै तब नीर जरावतु आपुनो गातु है।
नीर बिना उफनाइ कैं छीर सु आगिमें जातु, मिलै ठहरातु है॥

कवि-कल्प-तरु बुन्देल-वीर महाराज छत्रसालने भी नीर-क्षीर-मैत्रीका समुचित समर्थन किया है—

एक-सो सुभाय, एक रूप मिलि जाय जहाँ,
बिलग उपाय तहाँ नैक न लखातु है,
रहै आपु जौलों, तौलों मीत को न आवै आँचु,
मीत कौ बिषादु देखि जारै निज गातु है।
बिरह-उदेग उफनातु छीर नीर बिनु,
हृदय-अधार देखि सो दुख बिलातु है,
सज्जन सुचेतनकी ऐसी प्रीति 'छत्रसाल'
पानी और पै की जैसी प्रगट दिखातु है॥

संकटके समय दोनों एक दूसरेके कैसे काम आते हैं। विपद्के दिनोंमें ही तो सच्ची मित्रताकी परीक्षा होती है। गोसाईंजीने कहा है—

विपतिकालकर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मीत-गुन एहा॥

तथैव-

आपद्काल परखिए चारी। धीरज धर्म मित्र अरु नारी॥

अँगरेज़ीकी भी एक प्रसिद्ध कहावत है—

A friend in need is a friend indeed.

अर्थात्, जो गाढ़े समयपर काम आता है, वही अपना सच्चा मित्र है। तब नीर-क्षीरकी प्रेममयी मैत्रीको ही हम आदर्श मैत्री क्यों न मानें?

जो अपने प्रिय मित्रके दुःखसे दुखी नहीं होते, उनका मुख देखना भी महापाप है। भगवान् रामचन्द्रजीने अपने सखा सुग्रीवसे मैत्री-धर्मकी कैसी सुन्दर व्याख्या की है—

जे न मीत दुख होहिं दुखारी। तिनहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरिसम रज करि जाना। मीत क दुख रज मेरु समाना॥
जिनके असि मति सहज न आई। ते सठ हठि कत करत मिताई॥

मित्रके दुःखसे दुखी होना, उसके एक रज-कणके समान दुःखको सुमेरु-सदृश मानकर प्राण-पणसे दूर करनेपर उद्यत हो जाना हर किसीका काम नहीं है। जिसके हृदयमें निष्काम प्रेमका दीपक जलता होगा, केवल वही अपने मित्रके रज-कण-वत् दुःखको सुमेरु-समान देख सकेगा। साथ ही उस दिव्य प्रकाशमें उसे अपना गिरि-सदृश दुःख एक रज-कणके समान दिखाई देगा। प्रेमके चश्मेकी कैसी कुछ करामात है! पर्वत एक

रज-कणके सदृश दिखाई देता है और रज-कण एक सुमेरुके समान! कहिए, इश्कको खुर्दबीन कहें या कलाँबीन, या दोनों ही?

मित्रके दुःखसे दुखी होना तो, बस, श्रीकृष्णने जाना। एक दीन-दरिद्र ब्राह्मणके साथ राजाधिराज यदुराजने जो स्नेहपूर्ण सहानुभूति प्रकट की, जो प्रेम-प्रीतिका भाव दिखाया, वह आज भी मृतप्राय मैत्री-धर्मके लिए संजीवनीका काम दे रहा है। पथ-परिश्रान्त सुदामासे आप पूछते हैं–तुमने बड़ा कष्ट पाया, भाई, यहाँ तभी क्यों न चले आये? इतने दिन यों ही दरिद्रतामें कहाँ बिता दिये। मुझे तुम ऐसा भुला बैठे मित्र! मुझसे ऐसा क्या अपराध हो गया था? सखाके पैर बेवाइयोंसे फटे देखकर द्वारिकाधीश व्याकुल हो गये। अरे, कितने काँटे लगकर टूट गये हैं मेरे प्यारे मित्रके पैरोंमें! ग़रीब सुदामाकी यह दैन्य-दशा देखकर करुणाकर श्रीकृष्ण करुणार्द्र हो रोने लगे। पैर पखारनेको पानी परातमें भरा रखा था, पर उसे आपने छुआ भी नहीं; प्राण-प्रिय अतिथिके श्रान्त चरण भगवान्ने अपने प्रेमाश्रुओंसे ही धोये। धन्य!

> कैसे बिहाल बिवाइनसों भये, कंटक-जाल गड़े पग जोये।
> हाय, महादुख पाये, सखा, तुम आये इतै न, कितै दिन खोये!
> देखि सुदामाकी दीन दसा, करुना करिकै करुनानिधि रोये।
> पानी परात कौ हाथ छुयौ नहिं, नैननके जलसों पग धोये॥
>
> —नरोत्तमदास

वही; वास्तवमें, लोकमान्य महापुरुष है जो एक दीन-दरिद्रको अपना अभिन्न-हृदय मित्र मानकर प्रेमपूर्वक उसकी सेवा करता है। कविवर रहीमने कहा है—

जे गरीब पर हित करैं, ते 'रहीम' बड़ लोग।
कहाँ सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग॥

महान्‌की महत्ता इसीमें है, कि वह अपने दीन-हीन सुहृदोंके साथ सहृदयतापूर्ण समवेदना प्रकटकर उन्हें अपनी आँखोंपर बिठाये रहे। इसीमें महामहिमकी महिमा है, नहीं तो—

जिनके असि मति सहज न आई। ते सठ हठि कत करत मिताई॥

एक कविने हृदय-शून्य व्यक्तिकी तुलना महिमामय आकाशके साथ की है, जिसने विपत्तिके समय अपने मित्र सूर्यको क्षितिजमें गिरते हुए सम्हाला तक नहीं। क्या ही सुन्दर सूक्ति है—

धिग् व्योम्नो महिमानमेतु दलशः प्रोच्चैस्तदीयं पदं,
निन्द्यां दैवगतिं-प्रयात्वभवतिस्तस्यास्तु शून्यस्य वा।
येनोत्क्षिप्त करस्य नष्टमहसः श्रान्तस्य सन्तापिनो-
मित्रस्यापि निराश्रयस्य न कृतं घत्वै करालम्बनम्॥

धिक्कार है उस महामहिम आकाशकी महिमाको! उसका वह उच्च पद खण्ड-खण्ड होकर गिर पड़े। उसे निन्दनीय गति प्राप्त हो। उस हृदय-शून्यका न होना ही अच्छा है। अरे, वह कैसा नीच है! उसने अपने मित्र (सूर्य) का भी संकटके समय साथ न दिया। उस मित्रको भी हाथका सहारा देकर न सम्हाला, जो श्रान्त, निस्तेज और निराश्रय होकर सहारेके

लिए हाथ पसारे हुए था। उसके देखते-देखते बेचारा विपत्-सागरमें डूब गया। धिक्कार है उस सहृदयता-शून्य असीम आकाशके अतुल वैभवको।

× × × ×

जिस जटिल जन्मान्तरके सिद्धान्तके स्थिर करनेमें बड़े-बड़े दार्शनिक पण्डित परेशान रहते हैं, उसे हम कभी-कभी प्रेमके विमल दर्पणमें योंही प्रतिबिम्बित देख लिया करते हैं। बिना किसी कारणके किसी व्यक्ति या किसी स्थानको पहली ही बार देखकर यदि हमारे हृदयमें एक अमन्द उत्साहमयी, अलौकिक आनन्दप्रदा और प्रेम-सम्भूता ममता उत्पन्न हो जाय, तो क्यों न हम विश्वास कर लें, कि उस व्यक्ति या उस स्थानके साथ अवश्यमेव हमारा जननान्तर सौहार्द्र रहा आया है। किसी व्यक्तिके साथ इस प्रकारकी दैवी प्रीति ही सत्य, नित्य और कल्याणकारिणी मैत्री है। जननान्तर सौहार्द्र पर कविता-कामिनी-कान्त कालिदासकी कैसी सुन्दर सरस सूक्ति है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्,
पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्,
भावस्थिराणि जननान्तर-सौहृदानि॥

अर्थात्—

लखिकैं सुंदर वस्तु अरु मधुर गीत सुनि कोइ।
सुखिया जनहूके हियें उत्कण्ठा यदि होइ॥
कारन ताकौ जानिये सुधि प्रगटी है आइ।
जन्मान्तरके सखनकी जो मन रही समाइ॥

कविवर टेनीसनने भी नीचेकी कवितामें उपर्युक्त सिद्धान्तका अक्षरशः समर्थन किया है—

So friend, when first I looked upon your face
Our thoughts gave answer each to each, so true,
Opposed mirrors each reflecting each;
Although I know not in what time or place,
Me thought that I had often met with you,
And each had lived in other's mind and speech.

मित्र! जब पहली ही बार मैंने तुम्हारे चेहरेको देखा, तब, वास्तवमें, हमारे पारस्परिक विचार कुछ ऐसे मिल गये, जैसे एक दर्पणकी प्रतिच्छाया दूसरे दर्पणपर पड़ रही हो। यद्यपि मैं यह न जानता था, कि मैंने तुम्हें कब और कहाँ देखा, तो भी कुछ ऐसा प्रतीत हुआ, कि मैं अनेक बार तुमसे मिल चुका था, और तुमने मेरे तथा मैंने तुम्हारे मन और वाणीमें, किसी अज्ञात कालमें, वास किया था।

यह जनमान्तर सौहार्द्र नहीं तो फिर क्या है ? पर, ऐसा मित्र और ऐसी मित्रता हर किसीके भाग्यमें नहीं। ऐसे चिर-सम्बन्धी मित्रकी मित्रता परमपिता परमात्माकी कृपासे ही प्राप्त होती है। कविके साथ मेरी भी उस विश्व-विहारी प्रेम-भगवान्से यही करबद्ध प्रार्थना है, कि—

हर चाहमें डूबे हुएको मीत पूरबका कोई,
दे मिला तू, मेरे दाता, ज्यों मिलाया है मुझे।

प्रेम-निर्वाह

किसीके साथ प्रेमका सम्बन्ध जोड़ लेना तो आसान है, पर जीवनभर उसे एक-सा निभा ले जाना बड़ा ही कठिन काम है। प्रेमका निभाना सदाचारियों और शूर-वीरोंका ही काम है, विषयी और कायरोंका नहीं। जहाँ एकाङ्गी और एकरस प्रेम होता है, वहीं प्रेमका उच्च और पवित्र आदर्श देखनेमें आता है। कबीर साहबकी एक साखी है—

> अगिनि-आँच सहना सुगम, सुगम खड़गकी धार।
> नेह-निभावन एकरस, महा कठिन ब्योहार॥

प्रेम-पात्रकी ओरसे कैसा ही रूखा और असंतोषजनक व्यवहार क्यों न हो जाय, पर अपनी ओरसे तो वही एकरस और अनन्त असीम प्रेम आजीवन स्थिर रहना चाहिए। अपने हृदयमें जरा भी प्रेमकी कमी आई, कि हम कहीं मुहँ दिखाने लायक भी न रहे। प्रेमसे पतित होकर न दीनके रहे, न दुनियाँके। अजी, लौ लगाई सो लगाई। हाथीका दाँत बाहर निकला सो निकला। पर है यह महान् कठिन। इससे तो प्रेम न करना ही अच्छा है। बीचमें प्रीति-भंग कर देनेसे तो यही अच्छा है, कि प्रीति जोड़े

ही नहीं, उस व्याधिका नाम ही न ले। जप-तप, यम-नियम, ध्यान-धारणा आदि तो किसी-न-किसी भाँति सभी साध सकते हैं, पर प्रेमको एकरस निभा ले जाना किसी विरले ही वीरका काम है। कहा है—

'तुलसी' जप-तप, नेम-व्रत, सब सबही तें होय।
नेह-निबाहन एकरस जानत बिरलो कोय॥

रसिक-वर नागरीदासजी तो प्रेम-निर्वाहको और भी कठिन बतला रहे हैं। आपकी दृष्टिमें 'कठिन कराल एक नेह कौ निबाहिबो' ही है। कहते हैं—

गहिबो अकास पुनि लहिबो अथाह-थाह,
अति विकराल व्याल काल कौ खेलाइबो;
सेर समसेर-धार सहिबो प्रबाह बान,
गज मृगराज द्वै हथेरिन लराइबो।
गिरितें गिरन, ज्वाल-मालमें जरन, और
कासीमें करौट, देह हिममें गराइबो;
पीबो बिष बिषम कबूल, कवि 'नागर' पै
कठिन कराल एक नेह कौ निबाहिबो॥

दो या चार दिनके लिए तो सभी प्रेमी बन जाते हैं। पर उनका प्रेम 'चार दिननकी चाँदनी, फेरि अँधेरो पाख' के समान होता है। अजी, फिर कौन किसकी याद रखता है। दुनियावी नेहका नशा चार ही दिन रहता है। असलमें उस प्रेमको प्रेम कहना ही मूर्खता है। प्रेममें क्षण-भंगुरता

कहाँ, अनित्यता कहाँ? यह तो मोहका लक्षण है। प्रेम तो स्थायी, नित्य और अपरिवर्तनशील होता है। तभी तो उस खड्ग-व्रतका पालन करना परम दुष्कर है। कवि-वर रसिकविहारीने इस असि-धारा-व्रतकी कठिनाइयोंका कैसा सजीव वर्णन किया है—

आपुहिँ तें सूली चढ़ि जैबो है सहज मनो,
सोऊ अति सहज सती कौ तन दाहिबो;
सीस पै सुमेरु धारि धायबो सहज, अरु
सहज लगै है बहु सातौं सिन्धु थाहिबो।
सहज बड़ो है प्रीति करिबो, बिचारौ जीय,
सहज दिखात चित्त दो दिन कौ चाहिबो;
'रसिकविहारी' यही सहज नहीं है, मीत!
एक-सो सदाहीं साँचे नेह कौ निबाहिबो॥

दीनदयालु गिरि भी प्रेम-निर्वाहको अत्यन्त कठिन कह रहे हैं। कहते हैं, कि प्रेम है तो अत्यन्त मृदुल, पर अन्त तक उसका निबाहना बड़ा कठिन है—

छल-वंचक-हीन चलै पथ याहि प्रतीति-सुसंबल चाहनो है।
तहँ संकट-वायु वियोग-लुवैं दिलकों दुख-दावमें दाहनो है॥
नद सोक विषाद कुग्राह ग्रसैं खर धारहि तौ अवगाहनो है।
हित 'दीनदयाल' महा-मृदु है कठिनै अति अन्त निबाहनो है॥

कितनी कठिन समस्या है! प्रेमके पथपर चले, तो छल-कपटरूपी ठग साथ न हों; विश्वासरूपी मार्ग-व्यय

भी चाहिए। इस पथमें कष्टोंकी हवा है, विरहकी लुवें चलती हैं और हृदयको दुःख-दावाग्निमें दग्ध करना पड़ता है। यहाँ शोकका नद है, जहाँ विपादके भयंकर घड़ियाल पकड़ लेते हैं, और कठोरताकी तेज़ धाराको थहाना पड़ता है। प्रेम है तो अत्यन्त सुकोमल, किन्तु अन्ततक उसका एकरस निभाना महान् कठिन है।

इसी तरह बोधाने भी ऐसी ही अनेक कठिनाइयोंका दिग्दर्शन कराते हुए, अंतमें, यही निश्चय किया है—

एक हि ठौर अनेक मुसकिल यारी कै मीतसों प्रीति निबाहिबो।

प्रेम करनेमें अपना क्या जाता है। मुफ्त ही आशिक़ बन जानेमें अपना क्या बिगड़ता है। पर, हाँ, आगे कठिनाई है। प्रेमका निभाना सुगम नहीं। वहाँ साँस फूलने लगती है, जी घबराने लगता है—

नेहा सब कोऊ करैं कहा करेमें जात।
करिबो और निबाहिबो, बड़ी कठिन यह बात॥

—बोध।

× × × ×

कुछ भी हो, अब तो नेह निभाना ही है। भारी भूल होगी, ऐसा कहीं सचमुच कर न बैठना। प्रेमके निभानेमें शरीरतकसे हाथ धो बैठोगे। इसकी चिन्ता नहीं, शरीर रहे या जाय। कोई फ़िक्र नहीं, मन भी हाथसे छूट जाय, दिल भी ज़ख़्मी हो जाय, तन भी उसीमें लग जाय। यह सिर भी हँसते-हँसते प्रेम-भगवान्के चरणोंपर चढ़ा दिया

जायगा। जैसे बने तैसे अब तो प्रेमको अंततक निभाना ही है—

नेह निभाये ही बनै, सोचे बनै न आन।
तन दे, मन दे, सीस दे, नेह न दीजै जान॥
—कबीर

प्रेमियो! यह निश्चय कर लो, कि—

मन भावै सुजान सोई करियो, हमैं नेह को नातो निबाहनो है।
—ठाकुर

और जो सब कुछ सहनेको तैयार नहीं हो, तो प्रेमका स्वाँग रचा ही क्यों? प्रेमका निभाना जो नहीं जानता उसे स्नेह-नदीमें धँसना ही न चाहिए—

कछु नेह-निबाह न जानत है, तो सनेहकी धारमें काहे धँसे?
—आनंदघन

बल्कि अब तारीफ़ तो इसमें है, कि तुम्हारे अहदे-मुहब्बत-का टूटना मुश्किल ही नहीं, ग़ैरमुमकिन माना जाय। इसी अहदपर चलनेमें, प्रेमियो, तुम्हारी शेरदिली है, इसी प्रणके पालनेमें तुम्हारा परम पुरुषार्थ है। प्रेमके जीवनमें कभी कोई ज़रूरत आ पड़े तो उस प्यारे पपीहेको अपना गुरु बना लेना। क्योंकि आदिसे अन्ततक प्रेमका एक-रस निभाना एक चाह-भरा चातक ही जानता है

रटत-रटत रसना लटी, तृषा सूखिगे अंग।
'तुलसी' चातक-प्रेम कौ नित नूतन रुचिरंग॥
बरषि परुष पाहन पयद, पंख करौ टुक-टूक।
'तुलसी' परी न चाहिए चतुर चातकहि चूक॥

प्रेम और विरह

दगुरु कबीरकी एक साखी है—

विरह-अगिन तन मन जला, लागि रहा ततजीव।
कै वा जानै विरहिनी, कै जिन भेंटा पीव॥

विरहकी अग्निसे जब स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही शरीर भस्मीभूत हो चुके, तब-कहीं इस प्रेम-विभोर जीवका उस परम प्रिय तत्त्वसे तादात्म्य हुआ। इस विरहानल-दाहका आनन्द या तो विरहिणी ही लूटती है, और या वह सुहागिनी, जिसकी अपने वियुक्त प्रियतमसे भेंट हो चुकी है। महात्मा कबीरकी एक और साखी विरह-तत्त्वका समर्थन कर रही है—

विरहा कहै कबीरसों, तू जनि छाँड़ै मोहि।
पारब्रह्म के तेजमें, तहाँ ले राखौं तोहि॥

इसमें सन्देह नहीं, कि आत्यन्तिक विरहासक्ति ही प्रेमकी सबसे ऊँची अवस्था है। प्रेमकी परिपुष्टि विरहसे ही होती है, विरह एक तरहका पुट है। बिना पुटके वस्त्रपर रंग नहीं चढ़ता। सूरदासजीने क्या अच्छा कहा है—

ऊधो, विरहा प्रेम करै।
ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहि, पुट गहे रसहि परै॥

जबतक घड़ेने अपना तन, अपना अहंकार नहीं जला डाला,

तबतक कौन उसके हृदयमें सुधा-रस भरने आयगा? विरहाग्नि-में जलकर शरीर मानो कुंदन हो जाता है। मनका वासनात्मक मैल जलाकर उसे विरह ही निर्मल करता है—

> बिरह-अगिनि जरि कुंदन होई। निर्मल तन पावै पै सोई॥
>
> —उसमान

विना विरहके प्रेमकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसी तरह बिना प्रेमके विरहका भी अस्तित्व नहीं है। जहाँ प्रेम है, वहाँ विरह है। प्रेमकी आगको विरह-पवन ही प्रज्वलित करता है। प्रेमके अंकुरको विरह-जल ही बढ़ाता है। प्रेम-दीपककी बातीको यह विरह ही उसकाता रहता है—

> जहाँ प्रेम तहँ विरहा जानहु। विरह-बात जनि लघु करि मानहु॥
> जेहि तन प्रेम-आगि सुलगाई। विरह पौन होइ दे सुलगाई॥
> प्रेम-अँकूर जहाँ सिर काढ़ा। विरह-नीर सों छिन-छिन बाढ़ा॥
> प्रेम-दीप जहँ जोति दिखाई। विरह देइ छिन-छिन उसकाई॥
>
> —उसमान

इसीसे तो कहा गया है, कि—

> धन सो धन जेहि विरह वियोगू। प्रीतम लागि तजै सुख-भोगू॥
>
> —नूरमुहम्मद

विरह यदि ऐसा ही सुखदायी है, तो फिर विरही दिन-रात रोया क्यों करता है? यह न पूछो, भाई, विरहकी वेदना मधुमयी होती है। उसमें रोना भी रुचिकर प्रतीत होता है। अपने बिछुड़े हुए प्यारेका ध्यान आते ही हृदयमें एक ज्वाला

उठती है, फिर भी वह विरही उसीका ध्यान करता रहता है। प्रेम-रत्नके जौहरी जायसीको इस जलने-भुननेकी अच्छी जानकारी थी। उस विरहानुभवी साधकने क्या अच्छा कहा है—

लागिउँ जरैं, जरै जस भारू। फिरि-फिरि भूँजेसि, तजिउँ न बारू॥

भाड़की जलती बालूमें अनाजका दाना डालकर कितनी ही बार भूनो, वह बराबर उछलता ही रहेगा, उस प्यारी बालू-को छोड़कर बाहर न जायगा। विरह-दाहमें वियुक्त प्रियका ध्यान चंदन और कपूरसे भी अधिक शीतल लगता है। इसीसे उस दाहमें दग्ध होनेको विरही प्रेमीका चित्त सदा व्याकुल और अधीर रहा करता है—

जरत पतंग दीपमें जैसे, औ फिरि-फिरि लपटात।

—सूर

विरहीके रुदनको कोई क्या जाने। मौलाना रूमकी रोती हुई बाँसुरी कहती है—"जिसका हृदय वियोगके मारे टुकड़े-टुकड़े न हो गया हो, वह मेरा अभिप्राय कैसे समझ सकता है? यदि मेरी दरद-भरी दास्तां सुननी है, तो पहले अपने दिलको किसी प्यारेके वियोगमें टुकड़े-टुकड़े कर दो, फिर मेरे पास आओ, तब मैं बताऊँगी कि मेरी क्या हालत है। मैंने अच्छे-बुरे सभीके पास जाकर अपना रोना रोया, पर किसीने भी ध्यान न दिया--सुना और सुनकर टाल दिया। जिन्होंने सुना और ध्यान न दिया मैं उनको बहरा जानती हूँ, और जिन्होंने चिल्लाते देखा, पर न जाना, कि क्यों चिल्ला रही है,

मैंने समझ लिया कि वे अन्धे हैं। मेरे रोनेके रहस्यको एक वही जान सकता है जो आत्माकी आवाज़को सुनता तथा पहचानता है। वास्तवमें, मेरा रुदन आत्माके रुदनसे जुदा नहीं है।"

तब विरहीके रोनेको आनन्ददायी क्यों न कहें। धन्य है वह, जो प्रियतमके वियोगमें इस बाँसुरीकी तरह दिन-रात रोया करता है—

धन सो धन जेहि विरह-वियोगू। प्रीतम लागि तजै सुखभोगू॥

× × × ×

युगोंसे कसक सो रही है। इसीसे जीव भी बेहोस पड़ा है और सुरत भी सो रही है। कौन इन्हें जगावे। द्वारपर खड़े प्यारे स्वामीसे कौन इस जीवको मिलावे। बस, विरह ही कसकको जगा सकता है और कसक जीवको जगा सकती है, और सुरतको जीव जगा लेगा। संतवर दादूदयाल कहते हैं—

विरह जगावै दरदको, दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरतको, पंच पुकारै पीव॥

ऐसी महिमा है महात्मा विरह-देवकी। प्रियविरह निश्चय-पूर्वक सुरत और जीवका सद्गुरु है। जिसने इस महा-महिमसे गुरु-मन्त्र ले लिया, उसका उसी क्षण प्रेम-देवसे तादात्म्य हो गया। जिसने यह दुस्साध्य साधन साध लिया, उसे आत्म-साक्षात्कार होगया। पर विरहात्मक प्रेमका साधक

यहाँ मिलेगा कहाँ? इस लेन-देनकी दुनियाँमें उसका दर्शन दुर्लभ है। शायद ही लाख-करोड़में कहीं एकाध सच्चा विरही देखनेमें आये। उसकी पहचान भी बड़ी कठिन है: उसका भेद पा लेना आसान नहीं। संत चरणदासने विरह-साधनामें मतवाली विरहिणीकी कैसी सच्ची तसवीर खींची है—

गदगद बानी कंठमें, आँसू टपकैं नैन।
वह तो विरहिन रामकी, तलफति है दिन-रैन॥
वह विरहिन बौरी भई, जानत ना कोइ भेद।
अगिन बरै हियरा जरै, भये कलेजे छेद॥
जाप करै तो पीवका, ध्यान करै तो पीव।
जिव विरहिनका पीव है, पिव विरहिनका जीव॥

वह प्यारे रामकी विरहिणी है। उस प्यारेके दीदारकी ही उसे चाह है। वह एक प्यासी पपीही है। एक दरद-रँगीली दीवानी है। व्यथा कैसे कहे—गला भर आया है, आँखोंसे झरने झरते हैं। दिन-रात बेचारी तड़पती ही रहती है। अरे, वह तो पगली है, पगली। ऐसी पगली, कि उसके पागलपनेका भेद ही आजतक किसीको नहीं मिला। उस दीवानीके दिलमें एक आग बल रही है, जिगर जल रहा है। कलेजेके अंदर छेद-ही-छेद हो गये हैं। जाप करती है, तो प्यारेका और ध्यान धरती है तो प्यारेका। उस विरहिणीका जीव आज उसका प्रियतम होरहा है और

उसका प्रियतम होगया है उसका जीव। जीव पर प्यारेकी छाया पड़ रही है और प्यारेपर जीवकी झाईं झलक रही है! 'जीव और पीव' में कैसा ग़ज़ब़का तादात्म्य हुआ है!

प्यारेका उसे दिखाई देना क्या था, उससे बिछुड़ कर ख़ुद उसे अपने आपसे भी ज़ुदा कर देना था। मीरसाहबने क्या अच्छा कहा है—

दिखाई दिये यूँ कि बेख़ुद किया,
हमें आपसे भी जुदा कर चले!

ख़ूब दिखाई दिये! अपनी जुदाईके साथ-साथ बेख़ुदी भी हमें देते गये। अच्छा हुआ, एक बला टली। अपना एक मन था, वह भी हाथसे चला गया। मनसे भी छुट्टी पा ली। अब मनवाले उस बेमनवालेकी व्यथा जानने आये हैं! पर क्या मोहितका मर्म मोहक समझ सकेगा? कभी नहीं—

कान्ह परे बहुतायतमें, इकलैनकी बेदन जानौ कहा तुम?
हौ मनमोहन, मोहे कहूँ न, बिथा बिमनैनकी मानौ कहा तुम?
बौरी बियोगिनि आय सुजान ह्वै, हाय कछू उर आनौ कहा तुम?
आरतिवन्त पपीहनकों घनआनँदजू! पहिचानौ कहा तुम?

—आनंदघन

हाँ, सचमुच उस बेदिलका भेद तुम्हें न मिलेगा। क्या हुआ जो तुम दिलदार हो? उस दीवानेने तो हसरतेदीदार पर ही अपने दिलको न्योछावर कर दिया है। अब शायद ही वह

तुम्हारा दर्शन कर सके, क्योंकि वह बेचारा प्रेमी, दिलके न होनेसे, आज ताक़तेदीदार भी खो चुका है—

दिलको नियाज़ हसरते दीदार कर चुके,
देखा तो हममें ताक़ते दीदार भी नहीं !

—ग़ालिब

उसकी इस भारी बेवक़ूफ़ीपर तुम्हें मन-ही-मन हँसी तो ज़रूर आती होगी, सरकार ! पर ज़रा उस बेदिलकी आँखोंसे देखो क्या नज़र आता है ! वह पगला कहता है, कि एक घड़ी तनिक अपने आपसे बिछुड़ देखो, आप ही विरहका सब भेद खुल जायगा—

कैसो सँजोग वियोग धौं आहि, फिरौ 'घनआनँद' ह्वै मतवारे।
मो गति बूझि परै तबहीं, जब होहु घरीकहूँ आपतें न्यारे।

बात वही है, कि प्रियसे बिछुड़ना अपने आपसे बिछुड़ जाना है। और जिसने अपने आपसे बिछुड़ना नहीं जाना, वह उस प्यारेके विरह-रसका अधिकारी ही नहीं है। अरे भाई, हसरते दीदारपर अपनी ख़ुदीको न्योछावर कर देनेवाला ही तो यह कहनेका साहस करेगा, कि—

विरह-भुवंगम पैठिकै किया कलेजे घाव।
विरही अंग न मोड़िहै, ज्यों भावै त्यों खाव॥

—कबीर

कुछ ठिकाना ! कितना साहसी और शूर होता है विरही !

× × × ×

व्यापकताकी प्रत्यक्षानुभूति विरह-वेदनामें ही होती है। विरहीके प्रति सभी सहानुभूति प्रकट करते हैं, या उसकी दृष्टि ही कुछ ऐसी हो जाती है, कि सारा संसार उसे अपने ही समान विरहाकुल दिखाई देता है। विरह-दग्धकी दृष्टिमें धुएँसे बादल कोयलेकी तरह काले हो जाते हैं, राहु-केतु भी झुलस जाते हैं, सूर्य तप्त हो उठता है, चन्द्रमाकी कलाएँ जलकर खंडित हो जाती हैं और पलासके फूल तो अंगारोंकी भाँति उस आगमें दहकने लगते हैं। तारे जल-जलकर टूट पड़ते हैं। धरती भी धायँ-धायँ जलने लगती है। हमारे प्रेमी जायसीने इस विश्व-व्यापी विरह-दाहका कैसा सकरुण वर्णन किया है—

> अस परजरा विरहकर गठा। मेघ स्याम भये धूम जो उठा॥
> दाढ़ा राहु, केतु गा दाधा। सूरजु, जरा, चाँद जरि आधा॥
> औ सब नखत तराईं जरहीं। टूटहिं लूक, धरति महँ परहीं॥
> जरै सो धरती ठावहिं-ठाऊँ। दहकि पलास जरै तेहि दाऊ॥

ये सब उस विरहीके दुःखमें दुखी न हुए होते, उसके साथ इन सबोंने समवेदना प्रकट न की होती तो बेचारा कबतक अकेला ही उस आगमें जलता रहता। वह जला और उसने सारी प्रकृति ही दहँकती हुई देखी। वह रोया और उसने सारे विश्वको अपने साथ फूट-फूटकर रोता हुआ पाया। हाँ, सच तो है, उस विरह-दग्धके रक्ताश्रुओंसे आज सभी भीग-भीगकर लाल हो रहे हैं, सभी उसके साथ हृदयका रुधिर आँखोंसे टपका रहे हैं—

नैननि चली रकत कै धारा। कंथा भीजि भयेउ रतनारा॥
सूरज बूढ़ि उठा होइ ताता। औ मजीठ टेसू बन राता॥
भा बसंत, रातो बनसपती। औ राते सब जोगी-जती॥
भूमि जो भीजि भयेउ सब गेरू। औ राते तहँ पंखि-पखेरू॥
डूँगुर भा पहार जो भीजा। पै तुम्हार नहिं रोवँ पसीजा॥

विरहीके रक्तमय आँसुओंमें सारा संसार रँग गया है। कैसी करुण-कलापिनी कल्पना है! विरहकी कैसी विशद विश्व-व्यापकता है!

निस्सन्देह प्रिय-विरह समस्त प्रकृतिमें भर ज़ाता है। अणु-परमाणुतक विरही दिखाई देता है। सूरकी एक सूक्ति है—

ऊधो, यहि ब्रज विरह बढ़्यो।
घर बाहिर, सरिता वन उपवन, बल्ली द्रुमन चढ़्यो॥
बासर-रैन सधूम भयानक, दिसि-दिसि तिमिर मढ़्यो।
द्वन्द करत अति प्रबल होत पुर, पयसों अनल डढ़्यो॥
जरि कित होत भस्म छिन महियाँ हा, हरि मंत्र पढ़्यो।
'सूरदास' प्रभु नँदनन्दन बिनु नाहिन जात कढ़्यो॥

जो इस विरहानलसे जलते-जलते बच गया, उसपर आश्चर्य होता है—

मधुबन! तुम कत रहत हरे?
विरह-वियोग स्यामसुन्दरके ठाढ़े क्यों न जरे?

अस्तु; जो भी हृदयवान् होगा, वह अवश्यमेव विरहीके प्रति सहानुभूति दिखायेगा। हृदय-हीनकी बात दूसरी है। हृदयकी

विशालता, सच पूछो तो, एक विरहीमें ही देखी गई है। उसके हृदयमें होता है अपने प्यारेका ध्यान और उस ध्यानमें होती है अखिल विश्वकी व्यापकता। फिर क्यों न उसके व्यथित हृदयके साथ समस्त सृष्टि समवेदना प्रकट किया करे? विरह-दशामें सारा संसार ही अपना सगा प्रतीत होने लगता है। सबके सामने हृदय खुला हुआ रखा रहता है। कुछ ऐसा लगा करता है, कि सभी उस प्यारेको प्यार करनेवाले हैं, सभी उस दिलवरके दीदारके प्यासे हैं। जिसकी हमें चाह है, इन्हें भी उसीकी है। शायद इन सबको उस लापतेका पता भी मालूम हो। विरहिणी गोपिकाएँ अपने वियुक्त प्रियतमका पता, देखो, पशु-पक्षी, मधुप, लता-विटप, नदी, पृथिवी आदि सभीसे पूछ रही हैं—

विरहाकुल ह्वै गईं सबै पूछति बेली बन।
को जड़ को चैतन्य न कछु जानत बिरही जन॥
हे मालति! हे जाति! जूथके! सुनि हित दै चित।
मान-हरन मन-हरन लाल गिरधरन लखे इत?
हे चंदन दुख-दंदन, सबकी जरनि जुड़ावहु।
नँद-नंदन जगबंदन, चंदन हमहिं बतावहु॥
पूछो री! इन लतनि, फूलि रहिं फूलनि जोई।
सुन्दर पियके परस बिना अस फूल न होई॥
हे सखि! ये मृग-वधू इन्हैं किन पूछहु अनुसरि।
डहडहे इनके नैन अबहिं कहुँ देखे हैं हरि॥

हे अशोक ! हरि शोक लोक-मनि पियहि बतावहु ।
अहो पनस ! सुभ सरस मरत तिय अमिय पियावहु ॥
हे जमुना ! सब जानि-बूझि तुम हठहि गहति हौ ।
जो जल जग-उद्धार ताहि तुम प्रगट बहति हौ ॥
हे अवनी ! नवनीत-चोर चित-चोर हमारे ।
राखे कितहुँ दुराय बता देउ प्रान-पियारे ॥

—नन्ददास

भला, पूछो तो, ये ललित लताएँ क्यों फूलोंसे फूल रही हैं। यह निश्चय है, कि बिना प्यारेका स्पर्श किये इनमें ऐसी प्रफुल्लता आ ही नहीं सकती। इन लहलही लताओंने अवश्य ही प्रियतमका स्पर्श-सुख प्राप्त किया है। यही कारण है, कि ये फूली नहीं समातीं। और, ये सुकुमारी मृग-वधूटियाँ ? धन्य इनके भाग्य ! इनकी कैसी डहडही आँखें हैं ! अभी-अभी इन सुहागिनियोंने प्यारे श्यामसुन्दरको कहीं देखा है। बिना नंद-नंदनकी प्यारी-प्यारी झलक पाये नयनोंमें यह डहडहापन कैसे आ सकता है ?

चाह-भरी चातकी चन्द्रावली भी उस काले छलियाके पास अपनी विरह-व्यथाका सँदेसा भेजना चाहती है। वह भी आज यह भेद-भाव भूल गई है, कि कौन जड़ है और कौन चैतन्य है ! कैसी पगली है—

अहो पौन ! सुख-भौन, सबै थल गौन तुम्हारो ।
क्यों न कहौ राधिका-रौन सों, मौन निवारो ॥

अहो भँवर! तुम स्यामरंग मोहन-व्रत-धारी।
क्यों न कहौ वा निठुर स्याम सों दसा हमारी?
हे सारस! तुम नीकें बिछुरन-वेदन जानौ।
तौ क्यों प्रीतम सों नहिं मेरी दसा बखानौ॥
हे पपिहा! तुम 'पिउ पिउ पिउ' पिय रटत सदाई।
आजहुँ क्यों नहिं रटि-रटि कैं पिय लेहु बुलाई॥

—हरिश्चन्द्र

और नहीं तो, पूज्य पवनदेव, कृपाकर मेरा इतना काम तो कर ही दो। जहाँ कहीं भी मेरे प्यारे हों, उनके पैरोंकी थोड़ी-सी धूल मुझे ला दो। उसे मैं इन जलती हुई आँखोंमें आँजूँगी। हाँ, विरह-व्यथामें वह प्यारी धूल ही संजीवनीका काम देगी—

बिरह-बिथाकी मूरि, आँखिनमें राखौं पूरि,
धूरि तिन पायन की, हा हा, नेकु आनि दै।

—आनन्दघन

वियोग-शृङ्गारके मुख्य कवि जायसीने भौंरे और कौएके द्वारा एक विरहिणीका सँदेसा उसके प्रियतमके पास बड़ी ही विदग्धतासे भेजवाया है। प्रिय-वियोगिनी केवल इतना ही कहलाना चाहती है—

पिउ सों कहेहु सँदेसड़ा, हे भौंरा, हे काग।
सो धन बिरहै जरि मुई, तेहिक धुवाँ हम्ह लाग॥

इस 'सँदेसे' में सर्वव्यापिनी सहानुभूतिकी कैसी सुन्दर व्यंजना हुई है!

× × × ×

हाय री प्रिय-स्मृति! तब क्या था और अब क्या है! जो कृष्ण कभी आँखोंके आगेसे न टलते थे, सदा पलकों-पर रहते थे, हा! आज उनकी कहानी सुननी पड़ रही है! क्यासे क्या हो गया है आज!

जा थल कीनें विहार अनेकन, ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन, ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं॥
'आलम' जौनसे कुंजनमें करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैननमें जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं॥

—आलम

हमें और क्या चाहिए। उनसे हम कुछ न माँगेंगी। न-जाने वे क्या जानकर संकोच कर रहे हैं। क्यों नहीं आते प्यारे श्याम! क्या कभी आयँगे हमारे हृदयरमण कृष्ण?

सखि, क्या कहा? तनिक फिर तो कह, फिर मृदु गिरा सुनूँ तेरी,
सहसा बधिर हो गई हूँ मैं, मिटा मनोज्वाला मेरी,
पावेगा यह दग्ध हृदय क्या फिर वह रत्न महा अभिराम?
हा हा! पैरों पड़ती हूँ मैं, सच कह, फिर आवेंगे श्याम?

—'मधुप'

क्या वह इतना भी न जानता होगा, कि हम उसकी पगली वियोगिनी हैं? सुनो—

न कामुका हैं हम राज-वेशकी,
न नाम प्यारा 'यदुनाथ' है हमें।

अनन्यतासे हम हैं व्रजेशकी
विरागिनी, पागलिनी, वियोगिनी ॥
—हरिऔध

पथिक! अब वीर-वर वियोगकी अजेय सेनासे आवृत मुझ निस्सहायका यह अन्तिम संदेस वहांतक ले जाओ। कहना, कि उसे अचानक ही उस सेनाने घेर लिया है। उस शूर-शिरोमणिके विकट कटकका सामना करना आसान नहीं। बचनेका अब उपाय भी कोई नहीं है। उसे अब सब तरहसे हारा हुआ ही समझो। फिर भी, प्यारे, तुम्हारे द्वारपर, समय रहते, उसकी सुनवाई न हुई, तो वह प्रेमका प्रण पालनेवाला विरही बाहर निकलकर एक मोर्चा तो लेगा ही, और प्रेमके रणाङ्गणपर जूझ कर धूलमें मिल जायगा। फिर, प्यारे! तुम्हारे उस विस्मृतकी यह कहानी दुनियाँमें चल जायगी। तो क्या अब यही कराना चाहते हो?

राति-द्योस कटक सजेही रहै, दहै दुख,
कहा कहौं गति या बियोग बजमारेकी।
लियौ घेरि औचक अकेलो कै बिचारो जीव,
कछु न बसाति यों उपाय बलहारेकी॥
जान प्यारे! लागो न गुहार तौ जुहार करि
जूझिहै निकसि टेक गहे पन-धारेकी।
हेत-खेत धूरि चूरि-चूरि ह्वै मिलैगी, तब
चलेगी कहानी घनआनँद तिहारेकी॥
—आनन्दघन

आकर टुक एक झलक दिखा दी तो अच्छा ही है, नहीं तो मरना तो है ही। तुम्हारे दर्शनकी अभिलाषा लिये हुए ही मरेंगे। उस घड़ी भी ये आँखें हसरते दीदारमें खुली रहेंगी। सच मानो, प्यारे!

देख्यो एक बारहूँ न नैन भरि तुम्हें, यातें
जौन-जौन लोक जैहैं तहीं पछितायँगी;
बिना प्रान-प्यारे भये दास तुम्हारे, हाय!
देखि लीजौ आँखें ये खुली ही रहि जायँगी॥

— हरिश्चन्द्र

कौन आँखें खुली रह जायँगी? अरे, वही विरागिनी आँखें, जो विरहका कमंडलु लिये दिन-रात तुम्हारे दर्शनकी मधुकरी भीख द्वार-द्वार माँगा करती हैं—

विरह-कमंडलु कर लिये, वैरागी दो नैन।
माँगें दरस-मधूकरी, छके रहैं दिनरैन॥

—कबीर

हाँ, वियोगिनीकी वही विरागिनी योगिनी आँखें, जो—

बरुनी बघम्बरमें गूदरी पलक दोऊ,
कोए राते बसन भगोहैं भेष रखियाँ;
बूड़ी जलहीमें, दिन-जामिनिहू जागैं, भौंहैं,
धूम सिर छायो विरहानल बिलखियाँ।
अँसुआ फटिक-माल, लाल डोरी सेल्ही पैन्हि,
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ;

दीजिए दरस 'देव', कीजिए सँजोगिनि ए
जोगिनि ह्वै बैठी हैं बियोगिनिकी अँखियाँ ॥

दे दे कोई इन योगिनियोंको प्रेम-रसकी मधुमयी मधुकरी-भिक्षा। नीरस ज्ञानकी बातोंसे इनकी भूख शान्त होनेकी नहीं—

अँखियाँ हरि-दरसनकी भूखी।
कैसे रहैं रूप-रस-राची, ये बतियाँ सुनि सूखी ॥

—सूर

× × × ×

भूल होगी, भारी भूल होगी। तुम्हारे पास अभी क्यों कोई सँदेसा भेजवाया जाय। क्यों तुम्हें उलाहना दें। हमारी विरह-दशा अभी पराकाष्ठाको पहुँची ही कहाँ। अभी तुम्हारी प्यारी यादपर हमने यह घायल दिल क़ुर्बान नहीं किया। प्यारे, अभी तुम्हारी यादमें यहाँ फ़ना हुआ ही क्या है? विरह तो वह, जो विरहीके समस्त अहंकारको प्रियतमकी प्रतीक्षामें लय कर दे। सो वह बात अभी यहाँ कहाँ? तुम्हें यहाँतक खींच लानेकी हमारे दिलमें अभीतक वह ताक़त ही नहीं आई। पहले अपने दिलके घरमें तुम्हारी लगनकी वह आग लगा लें, जो यहाँका सब कुछ ख़ाक कर दे, तब कहीं तुम्हारे पास कोई सँदेसा भेजें, तब तुम्हारी निठुराईपर तुम्हें उलाहना दें। अभी-से यह क्यों कहें, कि—

थक गये हम करते-करते इन्तज़ार;
एक क़यामत उनका आना हो गया!

तबतक यही हसरत क्यों न दिलमें रक्खी जाय, कि—

खुदा करे, कि मज़ा इन्तज़ारका न मिटे,
मेरे सवालका वह दें जवाब बरसोंमें।

क्योंकि—

है वस्लसे ज़ियादा मज़ा इन्तज़ारका।

मिलनकी अपेक्षा प्रिय-मिलनकी प्रतीक्षामें कहीं अधिक आनन्द है। खैर, हमारे सवालका जवाब वह चाहे जब दें, पर उन्हें यह याद तो ज़रूर दिलाते रहें, कि—

प्रेम-प्रीति कौ बिरवा गयेउ लगाय,
सींचनकी सुधि लीजौ, मुरझि न जाय।

—रहीम

इन आँखोंने विरहकी एक बेलि बोई है। वह आँसुओंसे सींची गई है, और उसकी जड़ अब पातालतक पहुँच गई है। कैसी अलौकिक लगन-लता है वह!

मेरे नैना बिरहकी वेलि बई।
सींचत नीर नैनके, सजनी! मूल पताल गई॥
बिगसति लता सुभाय आपने, छाया सघन भई।
अब कैसे निरुवारौं, सजनी! सब तन पसरि छई॥

—सूर

इसे कैसे सुलझायँ! यह बेलि तो रोम-रोममें उलझ गई है। इसे लहलही भी कैसे बनाये रखें। हमारे पास अब नयन-नीर भी तो नहीं है। दोनों नाले आज सूखे पड़े हैं। अरे भाई, कैसे सींचें इसे! प्रेम-जलसे सींचो, प्रेम-जलसे—

हृदय-कियारी माँझ सींचौ प्रेम-जीवन सौं,
खेल मति जानौ, यह येल बिरहाकी है।

—बलबीर

अरे, हम क्या सींचें इस वेलिको! वही आकर इसे जो सींच जाय, तो शायद यह कुछ लहलही हो जाय—

अयहुँ बेलि फिर पलुहै, जो पिय सींचै आइ।

—जायसी

सच्चे प्रेमियोंका वियोग विलक्षण होता है। वियोग होते हुए भी उनमें वियोग नहीं होता। दोनों ही प्रेमकी डोरीमें बँधे रहते हैं। कितने ही दूर वे प्रेमी क्यों न चले जायँ, उनके हृदय वैसे ही मिले रहेंगे। प्रेममें ज़रा-सी भी कमी न आयगी। बड़ी अद्भुत है प्रेमकी डोरी। प्रेमियोंका वियोग भी रहस्यमय है—

अदभुत डोरी प्रेमकी, जामें बाँधे दोय।
ज्यों-ज्यों दूर सिधारिए, त्यों-त्यों लाँबी होय॥
त्यों-त्यों लाँबी होय, अधिकतर राखै कसिकैं।
नेह न्यून ह्वै सकत नेकु नहिं, दूरहु बसिकैं॥
बिधिना देत बिछोह, कहूँ तासों कर जोरी।
रखियो छेम-समेत, प्रेमकी अदभुत डोरी॥

—देवीप्रसाद 'पूर्ण'

एक कहीं है तो दूसरा कहीं है, पर प्रेमके एक ही बाणसे दोनों-के दिल एक साथ बिधे हुए हैं। क्या कहें हम इस तीरे इश्क़को!

हम तड़पते हैं यहाँ पर, वाँ तड़पता यार है,
एक तीरे इश्क़ है, औ दो-दिलोंके पार है।

अब, इसे वियोग कहें या संयोग? भिन्न होते हुए भी दोनों अभिन्न हैं! सुना जाता है, कि विरहीको दयालु दाताने दो अजीब खिलौने बख़्श दिये हैं—आँसू और आह! ख़ूब बहला सकता है इन खिलौनोंसे वह पगला अपना मचला हुआ दिल। अब और क्या चाहता है? चाहता क्या है, कुछ नहीं। पर उसके पास आज वे मन-बहलावकी चीज़ें हैं कहाँ? न आँखोंमें आँसू हैं, न दिलमें आह। हाँ, भाई! सच तो कहते हैं—

'दर्द' अपने हालसे तुझे आगाह क्या करे,
जो साँस भी न ले सके, वह आह क्या करे?

अब तो आहसे भी वह दिल बहलनेका नहीं। यही हाल आँसूका भी है। आँखोंके वे झरने कभीके बंद हो गये। अब तो वहाँ सिर्फ़ एक जलन है। या वह ना-उमेदी, जिसके आगे वह जोशेजुनूँमें मस्त विरही घुटने टेके हुए यह कह रहा है—

सँभलने दे मुझे, ऐ ना-उमेदी, क्या क़यामत है,
कि दामाने ख़याले यार छूटा जाय है मुझसे।

—ग़ालिब

मुझे, ज़रा, सँभलने तो दे, मेरी ना-उमेदी! बड़ी आफ़त है। क्या करूँ, मेरे प्यारेका ध्यानरूपी दामन तेरे मारे मेरे हाथसे छूटा जा रहा है।

ओह! कैसी होगी उस पगले वियोगीकी ना-उमेदी! जिसकी बड़ीसे बड़ी उमेद 'मरना' हो, ज़रा उसकी ना-उमेदी तो देखो कितनी बड़ी होगी—

मुनहसर मरने पै हो जिसकी उमेद,
ना-उमेदी उसकी देखा चाहिए।
—ग़ालिब

पर यह ना-उमेदी सदा ना-उमेदी ही न रहेगी। इस निराशासे ही किसी दिन आशाका उदय होगा। मान लो, कि विरहकी निराशामें एक दिन मौत भी आ जाय, तो भी कुछ बिगड़नेका नहीं, क्योंकि वह मौत एक असाधारण मौत होगी। वह मौत, मौतकी मौत होगी। अजी, कह देना उस घड़ी—

मौत यह मेरी नहीं, मेरी कज़ाकी मौत है,
क्यों डरूँ इससे कि फिर मरकर नहीं मरना मुझे।

ठीक है, पर यह क्या बात है, जो विरहमें मतवाले प्रेमी अक्सर मरनेकी बात उठाया करते हैं? क्या सचमुच वे लोग, अन्तमें, मर जाते या मर सकते हैं? इसमें सन्देह नहीं, कि वे मरना जानते तो हैं, पर मर नहीं सकते, क्योंकि मरना उनके वशका नहीं। उनके प्राणोंको एक ओरसे तो प्रिय-दर्शन-प्यासी आँखें रोके रहती हैं और दूसरी ओरसे उनका हसरत-भरा घायल दिल! अब, बोलो, वे कैसे और कहाँसे निकल जायँ!

नाम-पाहरू दिवस-निसि, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन-निज-पद-जंत्रित, जाहिँ प्रान केहि बाट॥ —तुलसी

क्षणमात्रको भी वह ध्यान हृदयसे नहीं टलता है—

चलत चितवत दिवस जागत सपन सोवत रात।
हृदय तें वह स्याम मूरति छन न इत-उत जात॥

—सूर

दिन-रात तुम्हारा प्यारा नाम पहरा दिया करता है, तुम्हारा ध्यान अन्तर्द्वारका कपाट है और वहाँ तुम्हारे चरणोंकी ओर लगे नेत्रोंने ताला लगा रखा है; अब बताओ प्राण किस मार्गसे निकलें? प्राण अब भी निकलनेको अधीर तो बहुत हो रहे हैं, पर निकलें कैसे? ये हठीली आँखें जब उन्हें निकलने दें—

विरह-अगिन तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छनमाहँ सरीरा॥
नयन स्रवहिं जल निजहित लागी। जरइ न पाव देह बिरहागी॥

—तुलसी

तुम्हारा विरह अग्निके समान है। उसमें यह रूई-जैसा शरीर एक क्षणमें ही जलकर भस्म हो जाय, क्योंकि मेरी साँसोंकी हवा उस आगको और भी प्रज्वलित कर रही है, पर पापी शरीर जलने नहीं पाता, ये स्वार्थी नेत्र निरन्तर वहाँ जल बरसाते रहते हैं।

कह नहीं सकते, कि विरहकी अग्नि क्या है—

धनि विरही औ धनि हिया, जहँ अस अगिन समाइ।

—जायसी

प्रेमाश्रु

[प्रे]मका आँसू खुद छलककर न-जाने और क्या-क्या छलका जाता है। उस एक ही बूँदमें सारा-का-साराभाव-सिन्धु समाया हुआ है। अकथनीय है उस प्यारी बूँदकी महिमा। जिस आँखने प्रेमका आँसू नहीं बहाया, उसके 'मीन-कंज-खंजन' समान होनेसे कोई लाभ? उस नीरस आँखका तो फूट जाना ही अच्छा, प्रेमी हरिश्चन्द्रने सच कहा है—

> फूट जायँ वे आँखें जिनसे बँधा अश्कका तार नहीं।

अथवा—

> फूट जाये आँख वह जिसमें कभी,
> प्रेमका आँसू उमड़ आता नहीं।
>
> —हरिऔध

उस्ताद ज़ौक़ भी तो यही बात कह रहे हैं—

> जो चश्म कि बेनम हो, वो हो कोर तो बेहतर।

इससे सराहना तो उसी आँखकी होनी चाहिए, जो प्रेमके आँसुओंसे सदा भीगी और भरी रहे। प्रेम-पूर्ण करुणा-कणोंको बिखेरनेवाली आँख ही सौन्दर्यकी प्रभा धारण कर सकती है। बेनम-चश्मको हम कमलकी पँखड़ी कैसे कहें!

प्रेमियोंको या उनके आँसुओंको तुम करुणा-तरङ्गिणीमें कलोल करते हुए क्यों नहीं देखते ? कवियोंकी बात दूसरी है। उन्हें अपनी प्रतिभाके बलसे कलाका प्रदर्शन करना है। आँसुओंको वे लोग मोतीके दाने कहें या ओसकी बूँदें, हमें कोई आपत्ति नहीं। किसी तरह हो, उन्हें दिखाना है, अपना कला-कौशल, उन्हें प्रफुल्लित करना है, कोविदोंका मनोमुकुल, सो ख़ुशीसे किये जायँ। हम क्या कहें; हम तो प्रेमियोंके आँसुओं-को आँसू ही कहेंगे। हाँ, आँसूको आँसू न कह कर और क्या कहें। बक़ौले हरिऔध किसी प्रेमीके जिगरपर एक फफोला-सा पड़ गया था। वही आज अचानक फूटकर बह रहा है। हा! उसका इतना बड़ा अरमान आज कुछ बूँदें बनकर निकल पड़ा है—

था जिगर पर जो फफोला-सा पड़ा,
फूट करके वह अचानक बह गया।
हाय ! था अरमान जो इतना बड़ा,
आज वह कुछ बूँद बनकर रह गया।

अब बताओ, जिगरी फफोलेके मवादको हम किस अनोखी सूझसे मोतीका दाना कहें ? ख़ैर, अच्छा हुआ, जो फफोला फूट गया, दर्द कुछ कम हो गया। रो लेनेसे दिलका ग़ुबार ज़रूर कुछ-न-कुछ धुल जाता है। इससे—

चल दिल, उसकी गलीमें रो आवें,
कुछ तो दिलका ग़ुबार धो आवें।

—हसन

अच्छा, भाई, रो लो। अगर तुम्हारे दिलका ग़ुबार इस तरह कुछ धुल जाय, तो जाओ, उस गलीमें ज़रा रो आओ। पर वहाँ जाकर इतना ज़्यादा क्यों रोया करते हो? क्या दो-चार बूँद आँसू गिरानेसे काम न चल जायगा? नहीं, हरगिज़ नहीं—

आह! किस ढबसे रोइये कम-कम,
शौक़ हदसे ज़ियादा है हमें।
—मीर

अरे, दो बूँद आँसुओंसे कहीं दिलकी आग बुझी है?

मुत्तसिल रोतेही रहें तो बुझे आतिश दिलकी,
एक-दो आँसू तो और आग लगा जाते हैं!
—मीर

× × × ×

आँसू भी कैसे चुलबुले होते हैं! आँखोंमें छलकते ही दिले आशिक़का सारा भेद खोलकर रख देते हैं। कैसा लड़कपन है इन भोले-भाले आँसुओंमें। सुकवि दर्दका एक शेर है—

ऐ आँसुओ, न आवे कुछ दिलकी बात लबपर,
लड़के हो तुम, कहीं मत अफ़शाय राज़ करना।

कहते हैं—तुम अभी बच्चे हो, कहीं दिली प्रीतिका भेद न खोल देना। पर वे तुम्हारी नसीहत क्यों मानने चले? जिसे घरसे निकाल दोगे, वह भला तुम्हारा कोई भेद छिपाये रखेगा? रहीमने कहा है—

'रहिमन' अँसुआ नयन ढरि, जिय-दुख प्रगट करेइ।
जाहि निकारौ गेह तें, कस न भेद कहि देइ॥

अजी, खोल देने दो भेद। यहाँ, डर ही किस बातका है। जब रोना ही है, तब खूब दिल खोलकर रो लें। इन्हीं आँसुओंकी बदौलत तो आँखोंमें यह प्रकाश बना हुआ है। मुबारक हो, प्रेमियोंके चुलबुले आँसुओंका बचपन। परमात्मा न करे, कि कभी ये प्यारे मनचले आँसू सूख जायँ। इनके सूखते ही आँखोंके दिये बुझ जायँगे, अँधेरा छा जायगा। हमारे मीरसाहब कहते हैं—

सूखते ही आँसुओंके नूर आँखोंका गया,
बुझ ही जाते हैं दिये जिस वक्त सब रोग़न जला।

दिन-रात इसी तरह बहते रहें। जबतक प्यारे न आवें, कमसे-कम तबतक तो इनका बहना बन्द न हो। न-जाने कबसे यह लालसा है, कि वह दिन कब आयगा, जब ये प्रेमभरे पागल आँसू प्रियतमके चरणोंको पखारेंगे—

यों रस भीजे रहैं 'घन आनँद' रीझैं सुजान सुरूप तिहारैं।
चायनि बावरे नैन कबै अँसुवानिसों रावरे पाय पखारैं॥

जिस दिन ये उन प्यारे पैरोंको पखारेंगे, उसी दिन इन्हें हम बड़भागी कहेंगे। क्योंकि उस दिन अपने पटके अंचलसे प्रियतम इन्हें पोंछ देंगे। धन्य!

आँसुनकों अपने अँचरानसों, लालन पोंछि करैं बड़भागी।
—हरिश्चन्द्र

पर शायद ही इस जीवनमें ये कभी बड़भागी हो पायँ। उनके यहाँ पधारनेकी कोई आशा नहीं। तब इन अभागे

आँसुओंकी पहुँच उन चरणों तक कैसे हो सकेगी? एक उपाय है। यदि परोपकारी मेघ किसी तरह इन आँसुओंको लेकर प्यारेके आँगनपर टुक बरसा दें, तो इनकी साध अवश्य पूरी हो जाय। चाहें तो वे कर सकते हैं, क्योंकि दूसरोंके ही लिए उन्होंने शरीर धारण किया है—

पर-काजहिं देहकों धारि फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधाके समान करौ, सब ही विधि सज्जनता सरसौ॥
'घनआनँद' जीवन-दायक हौ, कछु मेरियौ पीर हियें परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजानके आँगन, मो अँसुवानकों लै बरसौ॥

इतना उपकार यदि दयालु मेघोंने कर दिया, तो समझ लो, इनका जीवन सफल होगया। उस आँगनपर इन्हें प्रिय-चरण तो किसी तरह छूनेको मिल जायँगे। अतएव प्रेमी फिर एकबार मेघोंसे हाथ जोड़कर विनय करता है, कि—

कबहूँ वा बिसासी सुजानके आँगन, मो अँसुवानकों लै बरसौ।

× × × ×

पर खेदका विषय है, कि कुछ कवि-कोविदोंने इन ग़रीब आँसुओंका एक तरहसे मज़ाक उड़ाया है। इन करुणा-कणोंको अतिशयोक्ति अलंकारसे अलंकृत करनेमें सरस्वतीके उन दुलारे सुपूतोंने कमाल किया है। क्या कहा जाय उनकी विचित्र प्रतिभाको! देखिए, महाकवि बिहारीने नीचेके दोहेमें कैसी कमनीय काव्य-कला दिखाई है—

गोपिनुके अँसुवनि-भरी, सदा असोस अपार।
डगर-डगर नै ह्वै रही, बगर-बगर कै बार॥

डगर-डगरमें, गली-गलीमें, घर-घरके द्वारपर गोपिकाओंके आँसुओंसे भरी हुई कभी न सूखनेवाली एक अपार नदी बन गई है।

मीरसाहबने भी रो-रोकर अपने यारकी गलियोंमें कई बार दरियाकी धारें बहाई थीं।

उन्हीं गलियोंमें जब रोते थे हम 'मीर'
कई दरियाकी धारें हो गई हैं।

पर नेकदिल नज़ीरको अपनी प्यारी बस्तीका अब भी बहुत कुछ ख़याल है। वह ग़रीबोंके घरोंकी ख़ैर मनाते हैं। उन्हें डुबोना नहीं चाहते। इसीलिए आप अपने यारकी गलीमें रोने नहीं जाते। अगर कहीं वहाँ जाकर हज़रतने रो दिया, तो हर एक घरके आस-पास पानी-ही-पानी हो जायगा। कहते हैं—

रोऊँगा आके तेरी गलीमें अगर मैं, यार!
पानी-ही-पानी होगा हरेक घरके आसपास।

मेहबान! ख़ुदाके वास्ते ऐसा भूलकर भी न कीजिएगा। अब कविवर तोषका अत्युक्ति-पाण्डित्य देखिए। इनका साधारण नदी-नालेसे काम न चलेगा। तोषको इन सबसे सन्तोष नहीं। यह तो आँसुओंका एक महासागर बनाकर ही दम लेंगे। सारे ब्रह्माण्डको ही जलमय कर देंगे। बलिहारी!

गोपिनुके अँसुवान को नीर पनारे भये, बहिकें भये नारे ।
नारेनहू सों भईं नदियाँ, नदियाँ नद ह्वै गये काटि कगारे ॥
वेगि चलौ तौ चलौ ब्रजकों, कवि तोष कहैं ब्रजराज-दुलारे !
वै नद चाहत सिन्धु भये, अब नाहिं तौ ह्वैहै जलाहल सारे ॥

मीर साहबकी भी एक शर्त है। सुनिए—

शर्त यह अब्रमें हममें है, कि रोवेंगे कल ,
सुबह उठते ही आलमको डुबोवेंगे कल ।

रहने भी दीजिए अपनी यह शर्त, जनाब ! गरीब आलमने आपका ऐसा क्या बिगाड़ा है, जो उसे आप कल सुबह ही डुबो देनेको कमर कस रहे हैं ?

ऊपरकी इन तमाम पंक्तियोंको पढ़ या सुनकर आपका सरस हृदय किस भावसे प्रभावित हुआ है ? कवियोंकी इस अतिरंजनासे थोड़ी देरके लिए आपका मनोरंजन भले ही हो जाय, पर प्रेम-पूर्ण करुणाधारामें भी आपका सरस हृदय डूबकर तन्मय होगा, इसमें हमें महान् सन्देह है। यदि आँसुओं-की कविताने हमारी आँखोंसे दो बूंद आँसू न टपका दिये, तो वह कविता ही क्या हुई ? मनोरंजनके लिए और भी तो अनेक रस हैं, बेचारे करुणरसको तो कृपाकर कलाकार कवियोंको अपने भाग्य पर यों ही छोड़ देना चाहिए। कवि-श्रेष्ठ कालिदासने, मेघदूतमें, एक स्थलपर लिखा है—

त्वामप्यस्रं जललवमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ।

अर्थात्—

तेरे हू आँसू, सखा, देगी अवस बहाय।
सरस हृदय जन होत हैं बहुधा मृदुल स्वभाय॥

—लक्ष्मणसिंह

'कई दरियाकी धारें हो गई हैं' अथवा 'वै नद चाहत सिन्धु भये, अब नाहिं तो ह्वै हैं जवाहल सारे' या 'डगर-डगर नै ह्वै रही, बगर-बगर कैं बार' अथवा 'पानी-ही-पानी होगा हरेक घरके आस पास' या 'सुबह उठते ही आलमको डुबोवेंगे कल' आदि अतिशयोक्ति-पूर्ण पंक्तियाँ भी क्या,

तेरे हू आँसू, सखा, देगी अवस बहाय?
अजी, रामका नाम लो। यहाँ वह बात कहाँ है?

× × × ×

कवियो! आँसुओंको ओसकी बूँदे क्यों कहते हो? ओसकी बूँदोंको आँसू कहो तो एक बात है। हाँ, सचमुच ये ओसकी बूँदें नहीं हैं। किसी विरही प्रेमीके साथ रो-रोकर रातने ये आँसू गिराये हैं, क्योंकि ये तो तुम जानते ही हो, कि—

सरस हृदय जन होत हैं, बहुधा मृदुल स्वभाय।

फिर भी तुम रात्रिके इन अश्रु-विन्दुओंको ओस-कण कहते हो!

ओस-ओस सब कोइ कहै, आँसू कहै न कोय।
मो विरहिनके सोकमें रैन रही है रोय॥

—आसी

कवीन्द्र रवीन्द्र इस मंजुल भावको और भी सुन्दरताके साथ अंकित कर रहे हैं। सुनिए—

"In the moon thou sendest thy love-letters to me," said the night to the sun.

"I leave my answers in tears upon the grass."

सूर्यसे रात्रि कहती है—"चन्द्रमाके द्वारा तुम मुझे प्रेम-पत्र भेजा करते हो। मैं तुम्हारे उन पत्रोंके उत्तर घासपर अपने आँसुओंमें छोड़ जाती हूँ।"

कैसा मर्मस्पर्शी भाव है! आँसुओंको ओसकी बूँदें मानने, और ओसकी बूँदोंको आँसू माननेमें, कवियो, पृथिवी-आकाशका अन्तर है या नहीं? पहले भावमें केवल मनोरंजन है और दूसरेमें रसात्मक हृदय-स्पर्श।

इसी तरह नीचेके इन दो भावोंमें भी कितना बड़ा अन्तर अन्तर्हित है। एक तो वही मीर साहबकी बात है, यानी, 'सुबह उठते ही आलमको डुबोवेंगे हम' और दूसरा भाव यह है। अब स्वाभाविकता उसमें है या इसमें?

अँसुवनिके परवाहमें अति बूड़िबे डेराति।
कहा करै, नैनानिकों नींद नहीं नियराति॥

आँसुओंके प्रवाहमें कहीं डूब न जाय, इस डरसे, क्या करे, बेचारी नींद आँखोंके पास आती तक नहीं। रोनेवालोंको सोना कहाँ। कवि-कुल-गुरु कालिदास भी यही शिकायत कर रहे हैं—

मत्संयोगः क्षणमपि भवेत् स्वप्नजोऽपीति निद्रा,
मत्कांक्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्।

अर्थात्—

चाहति तनिक नींद झुकि आवै। मति सपने अपनो पति पावै॥
पै अँसुवा नैनन भरि लेहीं। लगन पलक छिनहूँ नहिं देहीं॥

—लक्ष्मणसिंह

न आवे नींद; ऐसी कुछ ज़रूरत भी नहीं। आँसुओं-का प्रवाह न रुकना चाहिए, क्योंकि—

पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते॥

—भवभूति

तालाब जब लबालब भर जाता है, तब बाँध तोड़कर उसका पानी बाहर निकाल देना ही बचावका सुगम उपाय होता है। इसी तरह अत्यन्त शोक-क्षोभित व्याकुल मनुष्य-के हृदयको अश्रुपात ही विदीर्ण होनेसे बचा लेनेका एकमात्र उपाय है।

वह प्रवाह कैसे रुक सकता है। दिलने आँसुओंका एक भारी ख़ज़ाना जमा कर रखा है। वहाँ पानी-ही-पानी भरा है। सो अश्रु-प्रवाह किसी भाँति रुकनेका नहीं। डर इतना ही है, कि कहीं वह प्रवाह प्यारेकी याद दिलसे धोकर न बहा दे। यह न कर सकेगा। यह उसकी ताक़तसे बाहरकी बात है—

याद उसकी दिलसे धो दे, ऐ चश्मेतर, तो मानूँ,
अब देखनी मुझे भी तेरी रवानियाँ हैं।

—हाली

बहने दो, प्रेमाश्रु-प्रवाह बहने दो। प्रेमके आँसू बहानेसे ही वह प्रियतम मिलेगा। रोनेवाले ही उसे भाते हैं, हँसनेवाले नहीं। अपनी रुचि ही तो है। इससे, भाई! उसके प्रेममें मस्त होकर तुम तो ख़ूब रोये जाओ—

'कबिरा' हँसना दूर कर, रोनेसे कर प्रीत।
बिन रोये क्यों पाइये प्रेम-पियारा मीत॥

आँसुओंकी महिमा कौन गा सकता है? अपनी यह अश्रु-धारा हमें बड़ी प्यारी लगती है, क्योंकि यह हमें उस प्यारे निठुरकी प्रीतिके सुन्दर उपहारमें मिली है—

क्यों न हो हमारी अश्रु-धार अति प्यारी हमें,
वह तो तुम्हारी प्रीतिका ही उपहार है।

—गोपालशरणसिंह

और, इन आँसुओंसे हमारी इज्ज़त-आबरू है—

किसीको किसी तरह इज्ज़त है अगमें,
मुझे अपने रोनेसे ही आबरू है।

—दर्द

सच मानिए, ये प्यारे आँसू न होते, तो आज हमारे ज़ख्मी जिगरके सैकड़ों टुकड़े हो गये होते—

हम कहेंगे क्या, कहेंगे यह सभी
आँखके आँसू न होते ये अगर;
बावले हम हो गये होते कभी
सैकड़ों टुकड़े हुआ होता जिगर।

—हरिऔध

हमारे पापोंको धोकर हमें यदि किसीने शुद्ध किया तो इन प्रेमके आँसुओंने ही। ग़ालिबने क्या अच्छा कहा है—

रोनेसे और इश्क़में बेबाक हो गये,
धोये गये हम इतने कि बस पाक हो गये।

प्रेमीका हृदय

प्रेम-शून्य हृदयको हम कैसे हृदय कहें। हृदय तो वही, जो प्रेम-रससे परिपूर्ण हो। सच पूछा जाय तो प्रेमका दूसरा नाम हृदय है, और हृदयका दूसरा नाम प्रेम। हृदयवान् अवश्य प्रेमी होगा और प्रेमी ज़रूर सहृदय होगा। प्रेमकी पीरका मर्म हृदयवान् ही जानता है। इश्क़की दीवानगीका मज़ा दिलदार ही उठा जानता है। अजी, जिस दिलमें किसीके लिए दीवानगी न हो, वह दिल, मेरी अदना रायमें, दिल ही नहीं। कहा भी है—

> वह सर नहीं, जिसमें कि हो सौदा ना किसीका,
> वह दिल नहीं, जो दिल न हो दीवाना किसीका।

कितना करुणार्द्र और कोमल होता है प्रेमीका प्रमत्त हृदय! भावुकता-ही-भावुकता भरी होती है उसके अमल अन्तस्तलमें। प्रेमकी सरसता उस पगलेके हृदयमें इतनी अधिक भर जाती है, कि वह उसकी मस्तानी, रँगीली आँखोंमें छलकने लगती है। अहा! कैसा होता होगा वह प्रेम-पूर्ण हृदय, कैसी होती होंगी वह मतवाली आँखें!

हिरदै माहीं प्रेम जो नैनों झलकै आय।
सोइ छका, हरि-रस-पगा, वा पग परसों धाय॥

—चरणदास

क्यों न उस मतवाले दिलवालेके पैर चूम लिये जायँ। क्यों न उस दर्दवन्त संतकी जूतियाँ उठाकर सरपर रख ली जायँ।

× × × ×

भाई, इसमें सन्देह ही क्या, कि हृदय न होता तो प्रेम भी न होता—

होता न अगर दिल तो मुहब्बत भी न होती।

आफ़त इतनी ही है, कि अपना होकर भी वह प्रेम-मतवाला हृदय किसी दिन अपना नहीं रह जाता। बेचारे दिलवालेको ज़बरन बेदिल हो जाना पड़ता है। गोया दिलका रखना कोई जुर्म है। कहाँ जाता है, क्या होता है, यह कौन जाने—

किस तरह जाता है दिल, बेदिलसे पूछा चाहिए।

—मज़हर

सुना है, कि उसे अपने प्यारे दिलके छिन या लुट जानेपर भी दिली दीवानगीका एक ख़ास आनन्द मिला करता है। यह भी सुना गया है कि उसकी सबसे पवित्र वस्तु किसी हठीले देवताके चरणोंपर चढ़ जाती है, उसकी सबसे महँगी चीज़ किसी प्यारे गाहकके हाथमें पहुँच जाती है। उसे अपने बेज़ार दिलकी क़ीमत भी ख़ासी अच्छी मिल जाती है। ख़ासकर

उस दिलका दर्द तो उस अनोखे गाहकको बहुत पसन्द आता है। एक बेदिलने क्या अच्छा कहा है—

दर्दे दिल कितना पसन्द आया उसे,
मैंने जब की आह, उसने वाह की।

ख़ैर, अच्छा ही हुआ, जो ऐसा दर्दीला दिल बिक गया, छिन गया या लुट गया। सचमुच ऐसा दिल एक आफ़त ही है। उस्ताद ज़ौकने कहा है—

दिलका य हाल है, फट जाय है सौ जायसे और,
अगर यक जायसे हम उसको रफ़ू करते हैं।

अरे, रफ़ू करके उस फटे-कटे दिलका करते ही क्या? ऐसा हृदय तो जान-मानकर गँवाया गया है। बात यह है न, कि मर-मिटकर ही अपनी कोई प्यारी चीज़ हासिल होती है। दिल इसीलिए दे दिया गया है, कि प्रियतमके मार्गके प्रत्येक रज-कणमें वह समा जाय, या उस प्यारेकी गलीका वह ख़ुद ही ज़र्रः-ज़र्रः बन जाय। ख़ूने जिगरसे लिखी हुई 'जिगर' की सरस सूक्ति तो देखिए—

यों मले इश्क़में मिटकर मुझे हासिल मेरा,
ज़र्रः-ज़र्रः तेरे कूचेका बने दिल मेरा।

हृदयका कैसा दिव्य रूपान्तर हो जाता होगा उस दिन। दिलको इस तरह गँवा देनेका यह गहरा भेद खुल जानेपर किस दिलवालेके दिलमें बेदिल हो जानेकी एक मीठी हूक न उठती होगी?

× × × ×

निर्मल तो बस प्रेमीका ही हृदय होता है। उसे हम एक स्वच्छ दर्पण कह सकते हैं—

हिरदै भीतर आरसी, मुख देखा नहिं जाय।
मुख तो तबहीं देखसी, दिलकी दुविधा जाय॥

—कबीर

दुविधा दूर हो जाय तो हम न केवल अपनी ही सूरत, बल्कि अपने मित्रका भी चित्र उस दर्पणमें देख सकते हैं। कैसा सच्चा है वह दिलका आईना—

दिलके आईनेमें है तसवीरे यार,
जब ज़रा गर्दन झुकाई देख ली।

अपना सच्चा रूप और उस सिरजनहार साईंकी सूरत हृदय-दर्पणमें हम प्रेमकी मदिरा पीकर ज़रूर देख सकते हैं। धन्य है प्रेमीका हृदय-मुकुर, जिसमें उस प्यारे मित्रकी झाँई सदा झिलमिलाया करती है। वह तसबीर दिलके आईनेमें उतर कैसे आती है! कहाँ हो आकर वह अपनी अलबेली तसबीर दिलपर खिंचा जाता होगा! भीतरके कपाट तो सदा बन्द ही रहते हैं। दिल खुलता ही कब है?

खुलता नहीं दिल बन्द ही रहता है हमेशा,
क्या जाने कि आ जाता है तू इसमें किधरसे।

—ज़ौक़

कविवर विहारी अपने आश्चर्यको और भी अनोखे ढंगसे प्रकट कर रहे हैं। कहते हैं—

देखौं जागत वैसिये, साँकर लगी कपाट।
कित ह्वै आवतु जातु भजि को जाने किहिं बाट॥

कौन जाने, वह काला चोर किधर होकर आता और दिलपर अपना चित्र खिंचाकर किस राहसे कब भाग जाता है!

× × ×

हाय री, प्रेममय हृदयकी विरल वेदना! कितनी करुणा और सरसता बहा करती है तेरी धवलधाराके साथ! किसे थाह मिली है तेरी तरुण तरलताकी। कौन यथार्थ वर्णन कर सकता है तेरी मधुमयी मनोज्ञताका? स्वयं हृदय भी शक्ति-हीन हो गया है। दिलमें भी अब ताकत नहीं, जो अपनी वेदनाका चित्र खींचकर किसीको दिखा सके। उसे पड़ी ही क्या अपनी तसवीर खिंचाने और फिर उसे दुनियाँको दिखानेकी। प्रेमीके पास सिवा उसके वेदनामय हृदयके और है ही क्या? अपने प्रियतमके प्रीत्यर्थ यही प्रेमीकी सबसे प्यारी वस्तु है, सबसे पवित्र भेंट है। उसे आप प्रीतिके उपहारमें देते हुए अपने प्रेम-पात्रसे किस सादगीके साथ कहते हैं—

मैं जाता हूँ दिलको तेरे पास छोड़े,
मेरी याद तुझको दिलाता रहेगा।
—दर्द

यही पागल हृदय प्रेमीका हृदय है। यही दिल वह दिल है जो किसीका दीवाना हो चुका है। यह वही दिल है जिसपर कविने कहा है—

दिल वही दिल है कि जिस दिलमें तेरी याद रहे।

प्रेमीका मन

क्यों बेचारे मनके ही मत्थे सारे दोष मढ़ रहे हो? मन क्या दोषोंका ही आगार है, गुण क्या उसमें एक भी नहीं? क्या वह केवल बन्धनका ही कारण है, मुक्तिका हेतु नहीं है? माना कि वह चंचल है, चुलबुला है, एक ठौर रमता नहीं, पर क्या उसे तुम प्रेमकी डोरीसे बाँधकर किसी ऐसी जगह ठहरा नहीं सकते, जहाँसे भागनेका वह फिर कभी नाम न ले? यह ठीक है, कि वह रुईकी तरह व्यर्थ ही जहाँ-तहाँ उड़ता फिरता है, वज़नमें बहुत ही हलका है, फिर भी उसका नाम चालीस सेरा 'मन' रख दिया गया है—

> उड़त-फिरत जो तूल सम जहाँ-तहाँ बेकाम।
> ऐसे हरुये को धरयौ कहा जानि 'मन' नाम।
>
> —रसनिधि

पर वह मन हाथमें आ सकता है, बसमें किया जा सकता है। मन-पक्षी तभी तक इधर-उधर उड़ता फिरता है, जबतक वह विषय-वासनाओंमें लिप्त हो रहा है। प्रेम-रूपी बाजके चक्करमें आते ही वह चंचल पक्षी अपनी सारी उछल-कूद भूल जाता है—

> मन-पंछी तबलगि उड़ै विषय-बासना माहिं।
> प्रेम-बाजकी झपटमें जब लगि आयो नाहिं॥
>
> —कबीर

प्रेमका बाज उसे मारता नहीं, उसका केवल काया-कल्प कर देता है। एक ही झपटमें कौएको हंस बना देता है। कबीर साहब कहते हैं—

पहले यह मन काग था, करता जीवन-घात।
अब तो मन हंसा भया, मोती चुग-चुग खात॥

अब आ गया होगा सारा भेद समझमें। मनको कौन बुरा कहेगा? कहा है—

'कबिरा' मन परबत हता, अब मैं पाया जानि।
टाँकी लागी प्रेमकी, निकसी कंचन-खानि॥

प्रेमकी टाँकी लगानेकी ही देर है। जितना आनन्दरूपी कंचन चाहो उतना ले सकते हो। अतएव मन बन्धनका ही नहीं, मोक्षका भी कारण है। विषयी मन जीवको जगज्जालमें फँसाता है, तो प्रेमी मन उसे बन्धन-मुक्त कर देता है।

× × × ×

निस्सन्देह विषय-विहारी मन महान् मोहकारी और दारुण दुःखदायी है। विषयोंकी ओर उसे क्यों जाने देते हो? उसे तो जितनी जल्दी हो सके अथाह प्रेम-पयोधिमें डुबा दो, नहीं तो पीछे तुम भी महाकवि देवकी तरह पछताते ही रह जाओगे—

ऐसो जो हौं जानतो, कि जैहै तू विषैके संग,
एरे मन मेरे, हाथ-पावँ तेरे तोरतो;
आजुलों हौं कत नर-नाहनकी नाहीं सुनि,
नेहसों निहारि हारि बदन निहोरतो।

चलन न देतो 'देव' चंचल अचल करि,
चाबुक चितावनीन मारि मुहँ मोरतो ;
मारी प्रेम-पाथर, नगारो दै, गरे सों बाँधि ,
राधा-बर-बिरहके बारिधिमें बोरतो ॥

कहते हैं—मैं यह जानता होता, कि तू मुझे त्यागकर विषयोंके हाथ चला जायगा, तो रे मेरे मन! मैं तो तभी तेरे हाथ-पैर तोड़कर तुझे लूला-लँगड़ा कर डालता। तेरे कारण आज-तक न-जाने कितने नर-पतियोंकी नाहीं सुननी पड़ी है। सो तो न सुननी पड़ती, उनके मुखकी ओर तो न ताकना पड़ता। ऐसा जानता तो तेरी सारी चंचलता भुला देता, तुझे अचल कर देता। चेतावनीके चाबुक मार-मारकर तुझे विषय-पथसे लौटा ही लेता। अरे, बड़ी भूल हुई। तुझे तो मैं, डंकेकी चोटसे, तेरे गलेमें प्रेम-का भारी पत्थर बाँधकर श्रीराधिका-रमण कृष्णके विरह-वारि-धिमें डुबा देता तो अच्छा होता।

इसमें सन्देह नहीं, कि मन है महान् बलवान्। उसका निग्रह करना अति कठिन है। वह मदोन्मत्त मातंग है। निर्भय विषय-वनमें विचर रहा है। कौन उसे बाँधकर वशमें कर सकता है? यह बात सहज तो नहीं है। कठिन अवश्य है, पर बाँधा जा सकता है। प्रेमकी मज़बूत जंजीरें पैरोंमें डाल दो, आप ही सारी निरंकुशता भूल जायगी। हाँ, यह साँकड़ ही ऐसी है—

मन-मतंग मद-मत्त था, फिरता गहर गँभीर ।
दोहरी तेहरी चौहरी परि गइ प्रेम-जँजीर ॥
—कबीर

अभी तक तो यह मन मोह-पंकमें ही फँसा है, प्रेम-सरोवर-के समीप गया ही कब है। भगवान्‌के चरणरूपी कमलोंके वनमें उसने कब क्रीड़ा की है? उस अनुराग-सरोवरमें एक बार प्रवेश भर कर पाय, फिर उसमेंसे कभी निकलनेका नहीं। वह जगह ही ऐसी है। अभी तक लोक-सौन्दर्यपर ही तुम्हारा सतृष्ण मन मोहित रहा आया है, प्रेम-सरोवरमें इसने अभी अवगाहन किया ही कब है। अभी तक इसने रूप-तरंगोंके ही साथ केलि-कलोल किया है, अभी यह चाहके प्रवाहमें नहीं बहा है। प्रेम-प्रवाहमें मग्न मन कुछ और ही होता है। सांसारिक रस तो हैं ही क्या, प्रेम-हीन निर्गुण ब्रह्म-रस भी उसे नीरस ही प्रतीत होता है। वेदान्तवादी महात्मा उद्धव विरहिणी व्रजाङ्गनाओंको निर्गुण ब्रह्मोपासना आज बड़े सस्ते भावपर बेच रहे हैं, पर वे गँवार गोपियाँ उसे मूलीके पत्तोंके भी भाव पर नहीं ले रही हैं। वे उसके बदलेमें उनका कृष्णानुरक्त मन चाहते हैं। सो असंभव है। देना भी चाहें तो उनके पास उनका मन है कहाँ? वह तो प्यारे कृष्णके साथ कभीका चला गया। अब उद्धवके ब्रह्मको बेचारी क्या दें? दस बीस मन तो उनके हैं नहीं। मन तो एक ही होता है—

ऊधो, मन न भये दस-बीस।
एक जु हुतो सो गयो स्याम-सँग, को आराधै ईस?

—सूर

जिस मनपर प्रेमका गहरा रँग चढ़ चुका, उसपर अब

शुष्क शास्त्र-ज्ञानका रँग कैसे चढ़ सकेगा ? कहाँ सरस प्रेम, कहाँ नीरस ज्ञान ?

'सूरदास' यह कारी कामरि चढ़ै न दूजो रंग।

× × × ×

हमारा यह मन मोह कैसे छोड़ सकता है। यह तो जन्मसे ही मोही है, निर्मोही कैसे हो सकेगा। सौन्दर्योपासक तो एक नम्बरका है। आँखोंमें किसीका सुन्दर रूप समाया और यह उसका बेदामका गुलाम बन गया ! सौन्दर्योपासनका अपना स्वभाव तब कैसे छोड़ सकता है ? अपने दृग-दीवानोंको मन महाराज भला बरख़ास्त कर सकते हैं ! विहरणशील यह है ही। यह भी आदत इसकी छुड़ाई जा रही है ! सो असम्भव है। एकान्तवास यह सैलानी मन कर ही नहीं सकता। यह भी कहा जाता है, कि यह किसीको अपने हृदयमें धारण न किया करे। न यह किसीके हृदयमें रमे, न किसीको अपने हृदयमें रमाय ! ये सब साधनाएँ इस बेचारेसे सधनेकी नहीं। हाँ, एक रास्ता अभी है। वह यह, कि—

मनमोहन सों मोह करि, तूँ घनस्याम निहारि।
कुंजबिहारी सों बिहरि, गिरधारी उर धारि॥

—बिहारी

रे मन ! तुझे मोह-त्यागकी आवश्यकता नहीं है। यदि तुझे किसीसे मोह करना ही है, तो प्यारे मन-मोहनसे मोह कर। देख, जगत्‌में जितने मोहक पदार्थ हैं, वे सब परिणाममें

रंग-रस-हीन जँचते हैं, किन्तु विश्व-विमोहन श्रीकृष्णका मोह, वस्तुतः प्रेम, सदा एकरस रहता है। सौन्दर्योपासना भी मत छोड़। यदि तू किसीकी सुन्दरता देखना चाहता है, तो श्रीघनश्यामका रूप-रस पान कर। उनका सौन्दर्य अनन्त और नित्य है; और सौन्दर्य तो अन्तमें क्षीण और नष्ट हो जाता है। यदि तेरी इच्छा किसीके साथ विहार करनेकी है, तो कर, कोई रोकता नहीं। पर श्रीकुंजविहारीके साथ विहार कर। क्योंकि उस विहारीका ही विहार सदा एक-सा आनन्ददायी है, और विहारोंसे तो, अन्तमें, विराग हो जाता है। और यदि तू किसीको हृदयमें धारण करनेकी अभिलाषा करता है, तो कर, कोई तेरा बाधक नहीं। पर गिरिधारीको धारण कर, क्योंकि वह परम भक्त-वत्सल हैं। जिसने गोवर्धनगिरि धारण करके इन्द्रके क्रोधसे व्रजकी रक्षा की, वही एक धारण करने-योग्य है। सो, हे मन !

मनमोहन सों मोह करि, तूँ घनस्याम निहारि।
कुंजबिहारी सों बिहरि, गिरधारी उर धारि॥

प्रेमियोंका सत्संग

प्रेमी रैदास आज फूले नहीं समाते हैं। प्रेम-मग्न होकर आप गा रहे हैं—

> आज दिवस लेऊँ बलिहारा,
>
> मेरे गृह आया पीवका प्यारा।

बलिहारी! आज मेरे घर प्रियतमका एक प्यारा पधारा है। धन्य है आजका मंगलदिवस! उसके स्वागत-सत्कारसे आज मुझे अवकाश ही कहाँ है। आज मेरे यहाँ महा-महोत्सव है। सुनूँ, उस प्रेम-पुरीसे वह क्या सँदेसा लेकर आया है!

कृष्ण-सखा उद्धवका दर्शन पाकर गोपियोंने भी तो गद्गद होकर कहा था—

> ऊधो, हम आजु भईं बड़भागी।
>
> जैसे सुमन-गंध लै आवतु पवन मधुप अनुरागी॥
>
> अति आनन्द बढ़यौ अँग-अँगमें, परै न यह सुख त्यागी।
>
> बिसरे सब दुख देखत तुमकों, स्यामसुँदर हम लागी॥
>
> —सूर

उद्धव! तुम्हें देखकर आज हमने मानों अपने प्यारे कृष्णको ही देख लिया। हमें आज उन नेत्रोंका दर्शन मिल रहा है, जिन्होंने कृष्णके रूप-रसका अहोरात्र पान किया है। तुम हमारे प्यारेके

प्यारे हो। भले पधारे हो। विराजो, व्रज-राज-कुमारका सँदेसा सुनाकर हमें कृतार्थ करो। तुम्हारे सत्संग-लाभसे कौन कृत-कृत्य न हो जायगा?

प्यारे कृष्णकी परमानुरागिनी गोपियोंके अपूर्व सत्संगसे विज्ञवर उद्धव भी कृतार्थ हो गये। प्रेमियोंका संग बड़े-बड़े ज्ञानियोंको भी क्या-से-क्या कर देता है, इसे आप उद्धवके ही मुख-से सुनें। प्रेम-प्रतिमा व्रजाङ्गनाओंसे श्रीकृष्णके परममित्र उद्धव, सुनिए, क्या कहते हैं—

तुम्हरे दरस भगति मैं पाई। वह मत त्याग्यौ, यह मति आई॥
तुम मम गुरु, मैं शिष्य तुम्हारो। भगति सुनाय जगत निस्तारो।
—सूर

अलौकिक प्रभाव है प्रेमियोंके सत्संगका। उद्धवजी महाराज क्या बनकर तो व्रजमें आये थे, और क्या होकर चले! क्या हुआ उनका वह सब अत्युच्च अध्यात्मवाद? अच्छा मूँड़ा वेदान्त-केसरीको उन गँवार गोपियोंने!

× × × ×

उन्हींसे प्रीति करो जो अपने प्रियतमके प्यारे हों, प्रेमकी मदिरामें चूर रहते हों, आठों पहर मस्तीमें झूमते रहते हों, इश्क़के रसमें छके रहते हों। भाई, प्रभुके ऐसे ही लाड़लोंका संग करो—

आठ पहर जो छकि रहै, मस्त आपने हाल।
'पलटू' उनसे प्रीति कर, वे साहिबके लाल॥

पर ऐसे ऊँचे प्रेमी मिलते कहाँ हैं। क्षणमात्र भी ऐसे उन्मत्त प्रेमीका साथ हो जाय, तो प्रेमका निगूढ़ रहस्य समझने में फिर देर ही कितनी लगे। देखते-ही-देखते कुछ-का-कुछ हो जाय। पर वह रामका लाड़ला कहीं दिखाई भी तो दे। क्या करें, ऐसा प्रेमी कहीं आजतक मिला ही नहीं—

प्रेमी ढूँढ़त मैं फिरौं, प्रेमी मिला न कोय।

यदि कहीं मिल जाय, तो फिर क्या पूछना—

प्रेमीसे प्रेमी मिलै, सहज प्रेम दृढ़ होय॥

—कबीर

यों तो बहुतेरे दुनियाबी आशिक़ मिले, पर उस मालिकका सच्चा आशिक़ तो हमें कोई नहीं मिला—

दिल मेरा जिससे बहलता, कोई ऐसा न मिला,
बुतके बन्दे मिले, अल्लाहका बन्दा न मिला।

—अकबर

इसीसे अब यहाँ जी नहीं लगता—

इन उजड़ी हुई बस्तियोंमें जी नहीं लगता,
है जीमें वहीं जा बसें वीराना जहाँ हो॥

—मीर

इन बने हुए प्रेमियोंके साथ रहनेमें अब दिल घबरा-सा रहा है। क्या समझ रखा है इन भले आदमियोंने प्रेमको! ऐसे तो पचासों मिलते हैं, पर वैसा एक भी नहीं मिलता। किसके आगे यह दर्द-भरा दिल खोलकर रखा जाय, किसके दरपर अपना रोना

रोया जाय। सुननेवाले बहुत हैं, पर सुनकर मर्म तक पहुँचनेवाला कहाँ है! हाँ, हँसनेवाले यहाँ बहुत हैं। इसीसे तो जीमें आता है, कि—

रहिए अब ऐसी जगह चलकर, जहाँ कोई न हो,
हमसख़ुन कोई न हो, औ हमज़बाँ कोई न हो।
बेदरो-दीवार-सा इक घर बनाना चाहिए,
कोई हमसाया न हो, औ पासबाँ कोई न हो।
पड़िए गर बीमार तो कोई न हो तीमारदार,
और अगर मर जाइए तो नौहाख़्वाँ कोई न हो।

—ग़ालिब

चलें किसी ऐसी जगह चलकर डेरा डाल दें, जहाँ कोई न हो। न हमारी बात कोई समझे, न हम किसीकी समझें। रहनेको कोई ऐसा घर बना लें, जिसमें न तो दर हो, न दीवार! वहाँ न कोई संगी-साथी हो, न कोई पास-पड़ोसी। कभी वहाँ बीमार पड़ जायँ, तो कोई दवा-दारू या सेवा-सुश्रूषा करनेवाला भी न हो। और जो मर जायँ तो वहाँ कोई रोनेवाला न हो।

माना कि संसारमें भोग-विलासोंके पर्याप्त साधन हैं, सभी प्रकारके सुख सुलभ हैं, और अपने अनेक सगे-सम्बन्धी तथा मित्र भी हैं, पर तो भी हृदयमें प्रेममूलक शान्ति नहीं है। सब कुछ होते हुए भी इस जीवनमें प्रेमके अभावने समस्त सुखों-पर पानी फेर दिया है। जहाँ अपना प्यारा प्रेमी है, वहाँ कुछ न होते हुए भी सब कुछ है, और जहाँ वह नहीं, वहाँ सब कुछ

होते हुए भी कुछ नहीं है। अधिक क्या कहें, प्रेम-शून्य स्वर्ग भी तुच्छ है, और प्रेम-पूर्ण नरक भी महिमामय है। कहा है—

> प्रियतम नहीं बजार में, वहै बजार उजार ।
> प्रियतम मिलै उजारमें, वहै उजार बजार ॥
>
> —अहमद

और भी—

> कहा करौ वैकुण्ठ लै कलपवृच्छकी छाहँ ।
> 'रहिमन' ढाँक सुहावने जहँ प्रीतम-गल-बाहँ ॥

प्रेमियोंका साथ छूटना कितना कष्टप्रद है, इसे कबीरके ही रहस्यमय शब्दोंमें सुनिए—

> राम बुलावा भेजिया, कबिरा दीन्हा रोय ।
> जो सुख प्रेमी-संगमें, सो वैकुण्ठ न होय ॥

प्रेमियोंके सत्संगका सुख वहाँ कहाँ है। वह सत्संग-सुख छोड़कर कौन स्वर्गके भोग भोगने जाय। वैकुण्ठके देव-भवनोंकी अपेक्षा प्रेमीका यह पर्ण-कुटीर कहीं अधिक सुखदायी है।

कुछ आदर्श प्रेमी

क्षी है तो क्या हुआ ? हम तो उसे, जिसे विरहिणी नायिकाओंके वकीलोंने 'पापी' का खिताब दे रखा है, एक ऊँचा प्रेम-प्रण निबाहनेवाला प्राण मानते हैं। प्रेमकी सारी निधि क्या अकेले मनुष्यके ही हिस्सेमें आ गई है ? चातककी चोटीली चाहका मर्म जिसने समझ लिया, उसे प्रेमका तत्त्व प्राप्त हो गया, ऐसी हमारी दृढ़ धारणा है। कैसी अनुपमेय प्रेमानन्यता है उस पवित्र पक्षीकी। प्रेमी पपीहा प्रेमपर जीना भी जानता है, और मरना भी जानता है। प्रेमके रणाङ्गणपर हमें तो एक वही सच्चा प्रण-वीर देखनेमें आया है, मरते मर जायगा, पर अन्ततक अपना प्रणभंग न करेगा। क्या ही ऊँचा प्रेम-प्रण है !

पपिहा पनकों ना तजै, तजै तो तन बेकाज।
तन छूटै तो कछु नहीं, पन छूटै अति लाज॥

—कबीर

प्रेमकी प्यासमें कितनी तड़प है, इसे वह पपीहा ही जानता है। कूप, नदी, तालाब, कुण्ड आदि जलाशय उसके किस कामके ? समुद्रतक तो उसकी प्यास बुझा नहीं सकता। वह तो केवल स्वाति-जलका ही प्यासा है। उसकी करुणा-भरी 'पीउ, पीउ' की पुकार प्रिय पयोद तक जाय या न जाय, पर वह किसीभाँति

प्रेम-प्रणमें पिछड़नेवाला प्राणी नहीं। पियेगा तो स्वातिका ही जल पियेगा, नहीं तो प्यासा ही प्राण त्याग देगा। वाह रे, प्रणवीर!

सुन रे तुलसीदास, प्यास पपीहहि प्रेमकी।
परिहरि चारिहु मास, जो अँचवै जल स्वातिको॥

एक बहेलियेने किसी पपीहेको बाण मार दिया। घायल पक्षी छटपटाता हुआ गंगामें गिरा। पर उस प्यासे चातकने मरते समय भी, जगत्पावनी जाह्नवीके जलमें अपनी चाह-भरी चोंच न डुबोई। टेक निवाहते हुए ही शरीर छोड़ दिया—

व्याधा वध्यौ पपीहरा, परयौ गंग-जल जाय।
चोंच मूँदि पीवै नहीं, पिऊँ तो मो प्रन जाय॥

—तुलसी

मरणके उपरान्त भी अन्य जलकी चाह न की, पुत्रको भी बार-बार यह सिखावन दे गया—

'तुलसी' चातक देत सिख, सुतहिं बार-ही-बार।
तात! न तर्पन कीजियो, बिना बारि-धर-धार॥

धन्य है प्रेमी पपीहेको! यों तो कितने रंग-रंगके विहङ्ग वनमें उड़ते फिरते और पोखरियोंका पानी पीते हैं, पर, चातक! तुम्हें कौन पा सकता है, तुम तो तुम्ही हो—

डोलत बिपुल बिहङ्ग वन, पियत पोखरनि बारि।
सुजस-धवल चातक नवल, तुहीं भुवन दस-चारि॥

—तुलसी

कितना पवित्र प्रेम है पपीहेका ! कवि-रत्न सत्य-नारायणकी यह क्या अच्छी उक्ति है—

चित्र-विचित्र पवित्र प्रेम प्रनकर मनभावन ,
सुनत परमरस ऐन बैन पपिहाके पावन ।
तृन-सम हूँ नहिं गिनत सकल निज तन मन धन है ,
पूरन प्रेमी परमासय पपिहाकौ प्रन है ।
प्रेम-प्रथा अनुकरन-जोग थिर चित चातककी ।
जिहि सुनि छाती परै न तन प्रवंसन पातककी ।

अब मेघ महाराजकी भलमनसाहत देखिए । आपकी दृष्टि-में चातकके प्रेमका कुछ भी मूल्य नहीं है । वह बेचारा 'पीउ-पीउ' पुकारता मरा जाता है, आप घमंडमें घुमड़-घुमड़कर उसकी ओर हेरते तक नहीं ! हाँ, गर्ज-तर्जकर डाँट-डपट बेशक बता देते हैं । मौजमें आकर कभी-कभी उस गरीबपर पत्थर भी बरसा देते हैं, बिजली भी गिरा देते हैं । प्रेमकी कैसी अच्छी क़द्र करते हैं यह श्रीमान् मेघ महोदय ! पर धन्य वह पपीहा ! उसकी प्रीति तो और भी अधिक बढ़ जाती है । एकाङ्गी प्रेमकी परीक्षामें कितना ऊँचा उतरता है वह दीन पक्षी !

पवि, पाहन, दामिनि, गरज, झरि झकोर खरि खीझि ।
रोप न प्रीतम-दोष लखि 'तुलसी' रागहि रीझि ॥

वारिद्-वर ! बताओ तो भला, पपीहेने तुम्हारा ऐसा क्या बिगाड़ा, जो उसपर इतने रुष्ट हो रहे हो ? उसपर क्या इसीलिए

ज़ुल्म कर रहे हो, कि तुमपर उसका प्रेम है ? प्रेमका क्या उसे यही पुरस्कार दिया जा रहा है ? ख़ैर, तुम्हें तो हम क्या कहें, पर उस प्रेमी पपीहेके, जी चाहता है, पैर चूम लें। हाँ, धन्य तो उस चातकको ही है—

जगकों, घन! तुम देत हौ, गजके जीवन दान।
चातक प्यासे रटि मरे, तापर परे पखान॥
तापर परे पखान, बानि यह कौन तिहारी।
सरित सरोवर सिन्धु तजे, इन तुम्हें निहारी॥
बरनै दीनदयाल, धन्य कहिए यहि खगको।
रह्यो रावरे आस, जन्मभरि तजि सब जगको॥

बलिहारी ! अरसिकोंको तो भरपेट पानी देते हो, और इस अनन्य रसिकको एक बूँद भी नहीं देते, उलटे पत्थर मारते हो ! इसीको तो सरसता और रसिकता कहते हैं ! तुम्हारे आगे प्रेम-गाथाका गाना व्यर्थ है !

इन आरतिवन्त पपीहनिकों, 'घनआनँदजू', पहिचानौ कहा तुम !

मीन क्या आदर्श प्रेमी नहीं है ? क्यों नहीं, उसकी प्रीति तो अतुलनीय है, अकथनीय है। प्रीति-प्रीति तो सभी चिल्लाते फिरते हैं, प्रीति करते भी अनेक प्रेमी हैं, पर प्रीतिका मर्म मीनने ही समझा है—

सुलभ प्रीति प्रीतम सबै, कहत करत सब कोइ।
'तुलसी' मीन पुनीत तें, त्रिभुवन बड़ो न कोइ॥

यों तो कहनेको जलके अनेक जीव हैं ; मगर भी पानीमें रहता है, साँप भी पानीमें रहता है, मेढ़कका भी वहीं घर है, कछवाका भी वहीं रहना होता है। और भी अनेक जीवोंका जल ही गृह है और जल ही जीवन है। पर मीनका उससे जो प्रेम है, वह दूसरे जल-चरोंमें कहाँ ? और जीवोंका तो जल केवल घर है, जीवन है, पर मीनके लिए तो वह जीवनका भी जीवन है, प्राणोंका भी प्राण है—और न जाने क्या है—

मकर, उरग, दादुर, कमठ, जल जीवन जल गेह ।
'तुलसी' एकै मीनकौ, है साँचिलो सनेह ॥

सच्चा स्नेह न होता, तो अपने प्यारेसे बिछुड़ते ही वह मछली अपने प्राण कैसे त्याग देती ? वियोग तो, बस, मीनका ही है। जबतक अपने प्रियके साथ है, तभीतक उसका जीवन है। प्रिय-विहीन जीवनका उसकी दृष्टिमें कोई मूल्य ही नहीं। कबीरने सच कहा है,—

अधिक सनेही माछरी, दूजा अल्प सनेह ।
जबहीं जल तें बीछुरै, तबहीं त्यागै देह ॥

जबतक जीवन-धन, तबतक जीवन। प्रियतम और जीवन दो भिन्न वस्तुएँ तो हैं नहीं। अभिन्नको कौन भिन्न कर सकता है ? इसीसे—

विरही मीन मरत जल बिछुरे, छाँड़ि जियनकी आस।

—सूर

जलमें विष ही क्यों न घुला हो, पर मछलीको तो वह जीवन-दाता अमृत ही है—

देउ आपने हाथ जल, मीनहि माहुर घोरि।
'तुलसी' जियै जो वारि बिनु, तो तु देहु कवि खोरि॥

दही और दूधसे भरे हुए भारी-भारी सागर उसके किस कामके? उसकी लौ तो केवल जलसे लगी हुई है, सो एक छोटी-सी पोखरीमें ही उसे असीम आनन्द मिल रहा है। पर जलको उसके प्रेमकी ऐसी कोई पर्वा नहीं। कितनी मछलियाँ उसके निर्दय अंक पर नित्य जालमें फँसती और मरती हैं, पर जलाशयको तनिक भी दुःख नहीं होता। वह तो ज्योंका त्यों मौजमें लहराता रहता है!

मीन वियोग न सहि सकै, नीर न पूँछै बात।
देखि जु तू ताकी गतिहिं, रति न घटै तन जात॥

—सूर

तब भी मीनके प्रेममें कमी नहीं आने पाती। धन्य है उस अनन्य प्रेमीका एकाङ्गी प्रेम!

'जीवन हो मेरो' यह भाषत सकल नेही,
पालिबो सहज नाहीं कठिन करारकौ;
पैयतु हैं यामें, यातें गैयतु जगत जसु,
दूजो न करैया कोउ ऐसे निरधार कौ।
वाहि कछु, देखिए, न रंच परवाह परी,
चाहवा इकंगी है तरैया प्रेम-धारकौ;

होतहीं विहीन देह देय तजि प्राननिकों,
देख्यो मैं 'नवीन' यों सनेह मीन-वार कौ॥

जीते जी तो, प्यारे जलको छोड़ेगी ही क्यों, मरनेपर भी मछली उसे ही चाहती और उसीका प्रेम माँगती है। मरकर काटे जानेपर भी पानीसे ही स्वच्छ होती है और पकाकर खाये जानेपर जलकी ही चाह करती है। रहीमने कहा है—

मीन काटि जल धोइए, खाये अधिक पियास।
'रहिमन' प्रीति सराहिये, मुयेहु मित्रकी आस॥

एक और सज्जन इसका समर्थन कर रहे हैं—

प्रेमी प्रीति न छाँदहीं, होत न प्रनतें हीन।
मरे परे हू उदरमें जल चाहत है मीन॥

यही कारण है, कि सूरदासजीने विरहिणी व्रजाङ्गनाओंके अश्रु-पूर्ण नेत्रोंकी, अन्य सब उपमाओंको तुच्छ ठहराकर, एक मीनकी ही उपमा सार्थक मानी है। कहते हैं—

उपमा एक न नैन गही।
कविजन कहत-कहत चलि आये, सुधि करि काहु न कही॥
व्रज-लोचन विनु लोचन कैसे, प्रतिदिन अति दुख बाढ़त।
'सूरदास' मीनता कछू इक जल भरि संग न छाँड़त॥

× × × ×

अब उस ज़रा-से पतंगेको लीजिए। वह भी एक आदर्श प्रेमी है। यदि मीनका बिछोह बेजोड़ है, तो पतंगेका मिलन अद्वितीय है। सुकवि रघुनाथने कहा है—

जब कहूँ प्रीति कीजै, पहिले तें सीखि लीजै,
बिछुरन मीनकी, औ मिलन पतंगकी।

वास्तवमें, पतंगका प्रिय-मिलन अद्वितीय है। लौ लगाकर लौसे लपट जानः एक पतंग ही जानता है। उसका प्रेमालिङ्गन अनुपम है। प्रेमाग्निमें अपने अस्तित्वको नष्ट कर देना सिवा उसके और कौन जानता है? सुकवि जिगरने क्या अच्छा कहा है—

ख़ाके परवानः से आती हैं सदायें पैहम,
ज़िंदगी है ग़मे दिलबरमें फ़ना हो जाना।

पतंगेकी ख़ाकसे बराबर यह आवाज़ उठ रही है, कि ग़मेदिलबरमें फ़ना हो जानेका ही नाम ज़िंदगी है, प्यारेके वियोग-दुःखमें अपने अस्तित्वको नष्ट कर देना ही जीवन है। कैसी ऊंची और पवित्र भावना है। दिल चाहता है, कि उस प्रेमके फ़क़ीरकी यह सदा हम भी गली-गली लगाते फिरें—

ज़िंदगी है ग़मे दिलबरमें फ़ना हो जाना।

ज़िंदगीकी उलझन इस तरह प्रेमकी लौमें फ़ना हो जानेसे ही सुलझेगी। क्यों न हम लोग पतंगेके जीवन-दानसे प्रेमका यह पवित्र पाठ पढ़ लें! चातक और मीनके प्रेमकी भाँति पतंगे-का भी प्रेम एकाङ्गी है। अपने प्रियतमकी लापरवाही और निठुराईको वह भी कभी ध्यानमें नहीं लाता। उसे तो लपककर उस लौसे लपट जानेसे मतलब है। उसे यह जाननेका अवकाश कहाँ, कि दीपक भी उसे चाहता है या नहीं। कविवर नवीनकी इसपर क्या बढ़िया सूक्ति है—

कानननतें धाय-धाय आवत अरंग रंग,
नैननि निहारि धारि धारना उमंगकी;
सोचै न सम्हारै न विचारै प्रान-छोभ नेही
सूरतें सरस हद्द हिम्मत विहंगकी।
जेतो औंदो बूड़ौ तेतो तिरत, तमासो यह,
मौजमें 'नवीन' नेह-समुद्र-तरंगकी;
अंगके मिलावत हीं अंग जरि जात संग,
देखहु इकंगी प्रीति दीपक-पतंगकी॥

जिसने प्रेमकी आगमें अपने आपको ख़ाक कर दिया, वही प्यारेका अनन्त आलिङ्गन पानेका अधिकारी है। यह मिल-भेंटनेका गहरा भेद पतंगेने ही जाना है।

× × × ×

और वह चकोरी! क्या कहना, उसकी भी प्रीति अनुकरणीय है। प्रेम रसका पीना चकोरीने ही जाना। उसकी तल्लीनता, तन्मयता देखते ही बनता है। तुलसी साहबकी एक साखी है—

'तुलसी' ऐसी प्रीति कर जैसे चन्द्र-चकोर।
चोंच झुकी गरदन लगीं, चितवत वाही ओर॥

सारी रात प्यारे चाँदकी ओर एकटक देखते रहना क्या कोई साधारण साधना है? सच पूछो तो यह योग-की त्राटक-मुद्रा है। बड़े-बड़े योगी भी दृष्टि-साधनामें उसकी बराबरी न कर सकेंगे। कितनी अधीरता और व्याकुलता

है उसकी लगनमें! उसका दिन न जाने कैसे कटता होगा। सारा दिन साँस गिनते-गिनते जाता होगा। प्रिय-दर्शनकी आशा उसे अत्यन्त अधीर बना देती है। दिनमें बिछोहकी व्याकुलता और रातमें दीदारकी बेहोशी। उसे क्या मालूम कि रात कैसे निकल गई। क्या ही गहरी तल्लीनता है! 'नेह-निदान' में सुकवि नवीन लिखते हैं—

साँसें गनि काटै दिन, श्वास पै उदासी चिन,
रैनके प्रकास लावै ढोरी मीत ओरीकी ;
छाँड़ि लोक-लाजै औ बिसारि सब काजै, गाजै
चाहै चुपचापन चितौन चख-चोरीकी।
नेहके नगारे दैकैं चुगत अँगारे, देखौ,
प्यारेके उज्यारे हित बँधी प्रेम-डोरीकी ;
निबह अभंगी जाय नेक न दुअंगी कहूँ,
ऐसी इकअंगी चाह चन्दसों चकोरीकी॥

यहाँ भी वही एकाङ्गी प्रीति है। तो क्या सभी आदर्श प्रेमियोंका प्रेम एकाङ्गी ही होता है? इसमें सन्देह ही क्या। प्रेमी, एकाङ्गी प्रेमकी अवस्थामें ही, अपने प्रेमास्पदके चरणोंपर अपना प्यारेसे प्यारा जीवन-कुसुम चढ़ा सकता है। इसी अवस्थामें उसके प्रेमका पूर्ण विकास होता है।

अच्छा, चकोरीके आग खानेमें क्या रहस्य है? यह भी क्या कोई प्रेम-साधना है? हाँ, अवश्य, यह भी एक साधना है और बड़ी ऊँची साधना है। इस विचारसे चकोरी अंगार

खाती है, कि मैं भस्म हो जाऊँ, कदाचित् उस भस्मको शिवजी अपने ललाटपर लगा लें और वहाँ प्यारे चन्द्रसे मेरी भेंट हो जाय! धन्य है उसकी यह प्रिय दर्शनाभिलाषा!

प्रिय सों मिलौं भभूति बनि ससि-सेखरके गात।
यहै बिचारि अँगारकों चाहि चकोर चबात॥

अंगार चबानेका, लो, यह जवाब है। अब भी कुछ शंका है?

चकोरी! इतनी अधीर मत हो। धीरज धर। सदा यह अँधेरी रात न रहेगी। धीरे-धीरे इसी तरह पूर्णिमा आ जायगी और तेरा प्रियतम तुझे दर्शन देगा—

सोच न करै चकोरि! चित, कुहू-कुनिसा निहारि।
सनै-सनै ह्वैहै उदै राकाससि तम टारि॥
राका-ससि तम टारि, दूरि दुख करिहै तेरो।
धीर धरै किन, बीर, कहा अकुलाय घनेरो॥
बरनै दीनदयाल, लखैगी तू भरि लोचन।
जो तेरो प्रिय-प्रान, मिलैगो सो, अब सोच न॥

× × × ×

परेवा भी एक ऊँचा प्रेमी है। प्रीतिकी दौड़में वह किसी प्रेमीसे पीछे रह जानेवाला नहीं। आकाशमें कितना ही ऊँचा क्यों न उड़ रहा हो, पर अपनी प्यारी परेईको जालमें फँसी हुई देखकर तत्क्षण प्रेमाधीर हो आप भी वहीं गिर पड़ता है। वह वियोग-व्यथा सह ही नहीं सकता—

प्रीति परेवाकी गनौ, चाह चढ़त आकास।
तहँ चढ़ि तीय जु देखही, परत छाँड़ि उर स्वास॥

—सूर

दाम्पत्य-जीवनका सुख कबूतर-कबूतरीने ही जाना है। हाँ, और किसे नसीब होगा ऐसा सहज सुख। कवि-वर विहारीने अपने इस दोहेमें परेवाके सुखमय जीवनकी कैसी सराहना की है—

पटु पाँखै, भखु काँकरै, सपर परेई संग।
सुखी, परेवा, पुहुमि पै, एकै तुहीं विहंग॥

भाई परेवा! पृथिवीपर एक तू ही सुखी है। वस्त्र तो तेरा पंख ही है, जो सदा तेरे पास रहता है और कंकड़ ही तेरा भक्ष्य है, जो सर्वत्र मिल सकता है। न तुझे वस्त्रकी ही कमी है, न भोजनका ही अभाव है, और, यह तेरी सहचारिणी प्यारी परेई तेरे साथमें है ही। अब दाम्पत्य-जीवनमें और क्या सुख चाहिए?

और, कपोत-व्रत तो अनुपम है ही। वाह!

है इत लाल कपोत-व्रत, कठिन प्रेमकी चाल।
मुखतें आह न भाखहीं, निज सुख करहिं हलाल॥

—हरिश्चन्द्र

तब क्यों न इस पक्षीको हम एक आदर्श प्रेमीके रूपमें देखें?

× × × ×

और, वह भोला-भाला हिरण? रागके उस अद्वितीय अनुरागीको कौन भूल सकता है स्वयं उसका प्रियतम राग ही

बहेलियेका रूप धारणकर क्यों न उसे बाण मार दे, पर वह तो अपने प्यारेके प्रेम-रसका प्यासा ही रहेगा, उस प्रेमीका मुग्ध मन प्रीतिसे मुड़ेगा नहीं। यदि ऐसा हो, तो निर्मल प्रेम-पटपर दाग न पड़ जाय! धन्य है उस सरलहृदय हिरणको!

आपु व्याध कौ रूप धरि कुहो कुरंगहिं राग।
'तुलसी' जो मृग-मन मुरै, परै प्रेम-पट दाग॥

वाह रे प्रणय-वीर! रण-धीरता तेरी ही है—

सुमिरि सनेह कुरंग कौ स्रवननि राच्यौ राग।
धरि न सकत पग पछमनो, सर सनमुख उर लाग॥

—सूर

बलिहारी! कविवर नवीन भी कुरंगके एकाङ्गी प्रेमपर मुग्ध हो रहे हैं—

बीनके सुनत बैन कानन अचेत ह्वैकैं,
कानन तें धाय ओप आनन उमंगकी;
प्राननिकी हानि न बिचारै, बँध्यौताननि सों,
बानि बिंधत न सँभारै सुधि अंगकी।
जान न सराह्यौ, न अजाननके भाव कछु
ताकी तरलाई नेह-समुद-तरंगकी;
नेही जब रँगि रहै रागके सुरंग, जामैं
नेक न दुरंग ऐसी लगन कुरंगकी॥

× × × ×

मयूरका भी प्रेम अकृत्रिम और अप्रतिम है। श्यामघनकी वह हृदय-हारिणी छवि मयूरके मनपर न जाने क्या जादू डाल देती है। अपने प्रियतमको नाच-नाचकर रिझाना उस प्रेमोन्मत्त पक्षीने ही जाना है। श्याम नीरदकी कमनीय कान्ति देखते ही उसका एक-एक पंख प्रफुल्लित और पुलकित हो जाता है। उसकी प्यासी आँखोंमें न जाने कितनी प्रेम-मदिरा भर जाती है। श्यामघनसे उसकी इतनी अधिक प्रीति होनेसे ही प्यारे घन-श्यामने उसके पंखोंका मुकुट अपने मस्तकपर धारण किया है। धन्य प्रेमोन्मत्त मयूरका भाग्य !

मोर सदा पिउ-पिउ करत, नाचत लखि घनस्याम ।
यासों ताको पाँखहूँ, सिर धारी घनस्याम ॥

—अंबिकादत्त व्यास

'मोर शिखा' नामकी एक बूटी होती है। उसमें जड़ नहीं होती। पर बरसात आते ही वह सूखी हुई बूटी पनप उठती है! श्यामघनकी प्रेममयी ध्वनि सुनकर जड़ मोरशिखा भी लहक-से लहलही हो जाती है। यह नामका प्रभाव नहीं तो क्या है? जब जड़ 'मोर'का यह हाल है, तब चैतन्य मोरके आनन्दका कुछ पार!

'तुलसी' मिटै न मरि मिटेहुँ, साँचो सहज सनेहु ।
मोरसिखा बिनु मूरि हू पलुहत गरजत मेहु ॥

मोरकी नाईं हमारे मन-मोर भी किसी घनको देखकर

क्या कभी आनन्दातिरेकसे नाचने लगेंगे ? बड़भागी तो हमारे हरिश्चन्द्र हैं। धन्य !

भरित नेह-नवनीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥

× × × ×

और भी, प्रेम-जगत्‌में, कितने ही आदर्श प्रेमी हैं। उस चाह-भरे चुम्बकका लोहेको खींचकर हृदयसे लगा लेना कौन नहीं जानता। क्षीरके प्रति नीरका प्रेम क्या साधारण कोटिका है ? मिट्टी और पानीकी प्रीति क्या कोई मामूली प्रीति है ? मिट्टी-का घड़ा ही स्नेहालिंगन देकर जलके हृदयको ठंडा करता है। कनक-कलशमें उसे वह सुख कहाँ ?

देखौ, जाकौ प्रेम जासु सँग ताहि तौन ही भावै।
जल जुड़ात माटीकी गगरी, सोन-कलस गरमावै॥

—प्रयागनारायण

इन आदर्श प्रेमियोंके प्रेमका हम लोग भी क्या कभी अनुकरण कर सकेंगे ?

दूसरा खण्ड

विश्व-प्रेम

हले तुम किसी एकको अपना एकमात्र जीवनाधार प्रेम-पात्र मान लो, अनन्यभावसे उसी एकके हो जाओ। निश्चय ही, उसके प्रति तुम्हारा अनन्त और अप्रतिम प्रेम धीरे-धीरे अखिल संसारको तुम्हारा प्रीति-भाजन बना लेगा। तुम, तब प्राणिमात्रमें, चराचर जगत्‌में, अपने प्रियतमका ही रूप प्रत्यंकित पाओगे। अणु-अणुमें अपने प्रेम-पात्रको ही प्रतिविम्बित देखोगे। उस दिन अनायास ही यह भेद खुल जायगा, कि—

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जग काँचो काँच-सौ।
एकै रूप अपार, प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ॥

—विहारी

अपने प्यारेके अगाध प्रेम-पयोधिमें तुम अनायास ही इस विस्तीर्ण विश्वको 'जल-बिन्दुवत्' विलीन कर लोगे। चार्ल्स किंग्सले महोदयने एक ही प्रेम-पात्रके द्वारा अखिल विश्वकी प्रेम-प्राप्ति इस प्रकार व्यक्त की है—

Be sure that to have found the key to one heart is to have the key to all; that truely to love is truely to know; and truely to love one is the first step towards

truely loveing all who bear the same flesh and blood with the beloved.

यह तो निश्चित बात है, कि किसी एकके अन्तस्तलका मर्म समझ लेना चराचर जगत्‌का रहस्य जान लेना है। सच्चा प्रेम ही सच्चा ज्ञान है। किसी एकसे सच्चा प्रेम करना जीवमात्रके साथ प्रेम करनेकी पहली सीढ़ी है; क्योंकि अखिल विश्वके प्राणियोंमें तुम्हारे उस प्राण-प्यारेका ही तो रक्त प्रवाहित हो रहा है।

सबमें वही हक़ीक़त दिखलाई दे रही है।

—मीर

अपने प्रियतमको यदि तुम सरसे पैरतक, शिखसे नख तक, विश्व-व्याप्तिके भावसे एक बार भी देख लो, तो ज़र्रे-ज़र्रेमें, अणु-अणुमें, तुम्हें अखिल ब्रह्माण्ड-नायक परब्रह्मका दर्शन हो जाय। मीरकी यह दृढ़ धारणा है—

सरा पा में उसके नज़र करके तुम,
जहाँ देखो अल्लाह अल्लाह है।

नज़रमें वह प्यारा एक बार समा भर जाय, फिर तो वही-वही जहाँ-तहाँ दिखलाई देगा—

समाया जबसे तू नज़रोंमें मेरी,
जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।

जब चराचरमें, घट-घटमें, मेरा ही प्यारा राम रम रहा है, तब इस विश्व-ब्रह्माण्डकी प्रत्येक वस्तुसे मैं क्यों न प्रेम करूँ? अरे, जितने यहाँ रूप हैं, सब उसी हृदय-रमणके तो विविध

रूप हैं, और जितने यहाँ रंग हैं, सब उसी प्यारे रँगीलेके जुदे-जुदे रंग हैं। उस प्यारेके प्यारसे ही यह विश्व इतना प्यारा लग रहा है—

पाई जाती जगत जितनी वस्तु हैं जो सबोंमें,
मैं प्यारेको विविध रँग औ रूपमें देखती हूँ।
तो मैं कैसे न उन सबको प्यार जीसे करूँगी ?
यों है मेरे हृदयतलमें विश्वका प्रेम जागा॥

अपने प्रेम-पात्रमें ही मुझे जगत्पतिका दर्शन हो रहा है—

पाती हूँ विश्व प्रियतममें, विश्वमें प्राण-प्यारा,
ऐसे मैंने जगत-पतिको श्याममें है विलोका।
—हरि औध

अगर तू सचमुच ही प्रेमी है तो अपने प्रियतमको इस रंग-बरंगी दुनियाके हर रंगमें देखा कर, क्योंकि उस रँगीले रामके ही तो ये सारे रंग हैं—

हर थानमें, हर बानमें, हर ढंगमें पहचान;
आशिक है तो दिलबरको हर एक रंगमें पहचान।
—नज़ीर

अपने प्रिय प्रमास्पदके सम्बन्धसे प्रत्येक वस्तु प्यारी देख पड़ती है। जहाँ-जहाँ उसके चरण पड़ते हैं, वहाँ-वहाँकी धूल भी तीर्थ-रेणु-सी प्रतीत होती है। अनुराग-मूर्ति भरतकी भव्य भावना तो देखिए। इसे कहते हैं अपने प्रियतमको चराचरमें रमा हुआ देखना—

कुस-साथरी निहारि सुहाई। कीन्ह प्रनाम प्रदच्छिन जाई ॥
चरन-रेख-रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति-अधिकाई ॥

—तुलसी

आप श्रीरामचन्द्रजीकी कुश-शय्या देखकर उसकी प्रदक्षिणा करते हैं। जहाँ-जहाँ उनके चरणोंके चिह्न मिलते हैं, तहाँ-तहाँकी पवित्र धूल आँखोंसे लगाते हैं। धन्य है प्रियके पदारविन्दोंकी वह धूल! उस धूलके लिए कितने पगले नहीं ललचाये रहते। एक कृष्णानुरागिनी गोपिका, पवनसे, अपने प्रियतमके पैरोंकी धूल, देखिए, किस लालसाके साथ माँगा रही है—

विरह-बियाकी मूरि आँखिनमें राखौं पूरि-
धूरि तिन पायनकी, हा हा, नैकु आनि दै।

—आनन्दघन

महाकवि ग़ालिबका भी एक ऐसा ही भाव है। कहते हैं—

जहाँ तेरा नक़्शे क़दम देखते हैं,
ख़याबाँ-ख़याबाँ इरम देखते हैं।

प्यारे, जहाँ तेरा चरण-चिह्न हम देखते हैं, उस स्थानको हम स्वर्गसे भी बढ़कर समझने लगते हैं। वह स्थान किस तीर्थ-स्थानसे कम पुण्य-क्षेत्र है? मीरने ख़ूब कहा है—

आँखें लगी रहेंगी बरसों वहीं सभोंकी,
होगा क़दमका तेरे जिस जा निशां ज़मींपर।

अस्तु; अब महात्मा भरत उस भाग्यवती कुश-शय्याके समीप आभूषणोंसे गिरे हुए दो-चार सोनेके सितारे देखते हैं, और उन्हें जनक-तनया सीताके ही तुल्य पूज्य समझकर अपने माथेपर भक्तिपूर्वक रख लेते हैं। बलिहारी!

कनक-बिन्दु दुइ-चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे॥

—तुलसी

वाह री, प्रेमकी विस्तीर्णता! कनक-बिन्दुओं तकमें आपको श्रीसीताजीकी समानता दिखायी देती है। इसी तरह शृंगवेरपुरके रामघाटपर आप श्रीरामका ही, मानो, प्रत्यक्ष दर्शन कर रहे हैं—

राम-घाट कहँ कीन्ह प्रनामू। भा मन मगन मिले जनु रामू॥

—तुलसी

कुशल-समाचार पूछनेपर जो पथिक भरतसे यह कहते हैं, कि हाँ, हम लोगोंने चित्रकूटमें उन विश्व-विमोहन वन-वासियोंको देखा है, उन्हें आप राम और लक्ष्मणके ही समान प्रिय समझते हैं—

जे जन कहहिं कुसल हम देखे। ते प्रिय राम-लखन-सम लेखे॥

—तुलसी

और, चरण-चिह्नोंकी उस प्यारी धूलको तो आप माथेपर चढ़ा-चढ़ा और हृदय और नेत्रोंसे लगा-लगाकर अघाते ही नहीं। धन्य!

हरषहिं निरखि राम-पद-अंका। मानहुँ पारसु पायेउ रंका॥
रज सिर धरि हिय नयनन्हिं लावहिँ। रघुवरमिलन सरिस सुख पावहिँ॥
—तुलसी

भरतका कैसा पवित्र, उच्च और विस्तृत प्रेम है! प्रत्येक वस्तुमें वे अपने हृदयाधार रामकी ही प्रतिमूर्ति देखते हैं। अणु-अणुमें उन्हें अपने प्यारेकी ही झलक दिखाई देती है। कैसा दिव्य तादात्म्य है! निश्चयतः भरत साकार प्रेम थे। उनमें चराचर जगत्को प्रेममय कर देनेकी विलक्षण शक्ति थी—

देखि भरत-गति अकथ अतीवा। प्रेम-मगन मृग खग जड़ जीवा॥
—तुलसी

महात्मा भरतके अन्तस्तलमें इतना विशद विश्व-प्रेम यदि केन्द्रीभूत न हुआ होता, तो गोसाइँजीका यह दिव्य भक्ति-उद्‌गार हमें आज सुननेको कहाँ मिलता—

होत न भूतल भाव भरतको। अचर सचर, चर अचर करत को?

× × × ×

विरहिणी व्रजाङ्गनाएँ भी, अन्तमें, विश्व-प्रेमकी पराकाष्ठाको पहुँच गई थीं। उनकी दृष्टिमें समस्त सृष्टि श्याममयी हो गई थी। और, इसी प्रिय-भावनाकी व्यापकतासे वे समस्त संसारको प्यार करने लगी थीं। जो मेघ एक दिन उन्हें मत्त-मातंगोंकी भाँति भीषण देख पड़ते थे, जो वारिद—

कारे तन अति चुवत गंड मद, बरसत थोरे-थोरे।
रुकत न पवन-महावत हू पै, मुरत न अंकुस-मोरे॥
—सूर

वे ही नीरद आज सुन्दर श्यामके रूप-साम्यके कारण कितने प्यारे लग रहे हैं, कि कुछ कहते नहीं बनता—

आजु घन स्यामकी अनुहारि ।
उनै आये साँवरे, सखि! लेहि रूप निहारि॥
इन्द्र-धनुष मनु पीत बसन छवि, दामिनि दसन बिचारि ।
जनु बग-पाँति माल मोतिनकी, चितै लेति चित हारि॥

—सूर

जिस पपीहेके नामके साथ कभी 'पापी'का विशेषण लगाया जाता और जिसका इन शब्दोंसे स्वागत-सत्कार किया जाता था, कि—

रे पापी, तू पंखि पपीहा, 'क्यों 'पिउ-पिउ' अधिरात पुकारत ?

उसीको आज ब्रज-बालाओंके मुखसे यह शुभाशीर्वाद मिल रहा है—

बहुत दिन जीवौ पपिहा प्यारो ।
बासर-रैनि नाम लै बोलत, भयौ बिरह-जुरकारो ॥

—सूर

प्रेमकी इस विश्व-विहारिणी भावनामें चर और अचर सभी अपने आत्मीय और प्राण-प्रिय लगने लगते हैं। उद्धवके प्रेमाश्रु-पूर्ण नेत्रोंको देखकर प्रिय-विरहाकुल ब्रज-वासियोंने कहा था, कि आज हमारी प्यासी आँखोंका अहोभाग्य, जो उन आँखोंकी प्रेम-सुधा पी रही हैं, जिन्होंने प्यारे कृष्णके रूप-रसका दिन-रात अतृप्त पान किया है। कृष्ण-सखाको देखकर वे कहते हैं—

तुम्हरो दरसन पाय आपनो जनम सफल करि जान्यौ ।
'सूर' ऊधो सों मिलत भयौ सुख, ज्यों चख पायो पान्यौ ॥

वास्तवमें, व्रजाङ्गनाएँ प्रेम-रसकी अद्वितीय अधिकारिणी थीं। 'गोपी प्रेमकी धुजा'—इस उक्तिमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है। त्रिलोक-वन्दनीया गोपिकाओंने ही व्रज-धामको विश्व-प्रेमका एक सुरम्य स्थल बनाया है।

× × × ×

तुम्हारी अन्तरात्मामें, भाई, अगणित झरोखे होने चाहिएँ। इसलिए कि लीलामयी प्रकृति अपनी प्रेम-किरणोंका सौन्दर्य-प्रकाश उन अनन्त झरोखोंमें होकर तुम्हारे अन्तस्तल पर बिखेरती रहे। पर, ऐसा तुम एकबारगी न कर सकोगे। विश्व-प्रेम तो प्रेमकी अति सीमा है। पहले तो किसी एक ही झरोखेसे प्रेम-किरणोंका प्रवेश कराना होगा, किसी एकहीके साथ अनन्य भावसे लौ लगानी होगी। फिर उस प्रेमपात्रकी प्रीतिका क्रम-क्रमसे प्रसार और प्रस्तार करना होगा। उसकी प्रेम-वृद्धिके लिए ही तुम्हें अपने भाव विश्व-व्यापी बनाने होंगे, या उस प्यारेकी ही ख़ातिर तुम्हें प्राणिमात्रको प्यार करना होगा। शाक्य-कुमार सिद्धार्थ विश्व-प्रेम सिद्ध करनेके लिए केवल इसी कारणसे अधीर हो रहे थे, कि उनका अपनी प्राणप्रिया यशोधरापर अत्यन्त प्रगाढ़ प्रेम था। उस प्रेमको और भी अनन्त और असीम बनानेके लिए ही उन्हें 'प्रव्रज्या' की शरण लेनी पड़ी, पूर्ण यौवनावस्था-

में संन्यासी होना पड़ा। यदि वे अपनी अन्तरात्मामें प्रेम-प्रवेश-के अर्थ अगणित झरोखे न बना लेते, तो कदाचित् कुछ दिनोंमें उनके अन्तरालयका प्रथम प्रणय-द्वार भी बन्द हो जाता। कुमार सिद्धार्थ अपनी हृदय-वल्लभा यशोधरासे कहते हैं—

सबसों बढ़िकैं सदा तुम्हें चाह्यौं औ चहिहौं,
सबके हित जो वस्तु रह्यौं खोजत औ रहिह ।
ताहि तिहारे हेतु खोजिहौं अधिक सबन सों,
धीरज यातें धरौ छाँड़ि चिन्ता सब मन सों।
सबसों बढ़िकैं प्रीति करी, तुमसों मैं प्यारी!
कारण, मेरी प्रीति सकल प्राणिन पै भारी।

—रामचन्द्र शुक्ल

समस्त प्राणियोंपर भगवान् बुद्धका यदि प्रेम-भाव न होता, तो बोधिद्रुमके समीपका वह अलौकिक दिव्य दृश्य हमारे हृदय-पटलपर आज काहेको अंकित होता। अहा!

मृग, वराह औ बाघ आदि सब बन-पशु वैर बिसारि,
ठाढ़े जहँ-तहँ चकित चाह भरि, प्रभु-मुख रहे निहारि।
फन उठाय नाचत उमंग भरि, निकसि बिलनसों व्याल,
जात पंख फरकाय संग, बहुरंग विहंग -निहाल।
सावज डारि दियो निज मुखतें, चील मारि किलकार,
प्रभु-दर्शनके हेतु गिलाई, कूदति डारनि डार।
देखि गगन-घन-घटा मुदित ज्यों, नाचत इत-उत मोर,
कोकिल कूजत, फिरत परेवा, प्रभुके चारों ओर।

कीट पतंगहु परत मुदित लखि, नभ-थल एक समान,
जिनके कान सुनत ते सिगरे, यह मृदु मंगल-गान।
"हे भगवन्! तुम जगके साँचे मीत उबारनहारे,
काम, क्रोध, मद, संशय, भ्रम, भय, सकल दमन करि डारे।
—रामचन्द्र शुक्ल

ससीमसे असीमकी ओर, सान्तसे अनन्तकी ओर यदि कोई प्रेमके कठिन पंथसे गया, तो भगवान् बुद्धदेव ही गये। विश्व-प्रेमके अलौकिक आलोकमें हमें तो एक बुद्धकी ही प्रतिमूर्त्ति स्पष्टतया देख पड़ी है।

× × × ×

सबसे ऊँचे दरजेका प्रेमी अपने प्रेम-पात्रको विश्व-व्याप्त प्रेमके द्वारा केवल अपनी ही दृष्टिमें नहीं, वल्कि सारी दुनियाकी नज़रमें परमात्मा बना जाता है। यह लोकोत्तर चमत्कार उपास्यमें उपासककी परम तल्लीनताका ही अन्यतम फल है। उपासक अपने उपास्यको ईश्वरके रूपमें देखता है और देखता है उसे चराचर जगत्में रमा हुआ। यही कारण है, कि उसका प्यारा प्रेम-पात्र अखिल विश्वके सामने परमात्माके रूपमें दिखाई देता है। एक ऊँचा प्रेमी अपने प्रियतमसे कह गया है—

परस्तिश की याँ तक कि, ऐ बुत, तुझे,
नज़रमें सबोंकी ख़ुदा कर चले।
—मीर

ज़रूर इस बुतपरस्तीपर, ऐ ज़ाहिद, तेरी सारी हक़-परस्ती निसार होनेको छटपटा रही होगी।

जिस प्रेमको हमने विश्व-व्यापी नहीं बना लिया, वह, निस्सन्देह, एक दिन नष्ट होनेको है। वह बूँद, जो समुद्र नहीं बन गई, ज़रूर एक दिन ख़ाकमें मिल जायगी। ग़ालिबने कहा है—

ख़ाकका रिज़्क़ है वह क़तरा कि दरिया न हुआ।

अब, ज़रा, विश्व-प्रेमी स्वामी रामतीर्थकी मस्ती-भरी अकबरदिलीको देखिए। राम बादशाह गा रहा है—

हर जान मेरी जान है, हर एक दिल है दिल मेरा,
हाँ, बुलबुलो गुल, महरो महकी आँखमें है तिल मेरा।
हिन्दू, मुसल्माँ, पारसी, सिख, जैन, ईसाई, यहूद,
उन सबके सीनोंमें धड़कता एक-सा है दिल मेरा।

दास्य

दास्य-रतिमें प्रेमीके मनमें ममताका सञ्चार होता है। 'प्रभु मेरे हैं, और मैं प्रभुका हूँ' यह आनन्दमयी ममता प्रेमीके हृदय-सागरको सदैव विलोड़ित करती रहती है। सेवकमें ही नहीं, यह ममत्व सेव्यमें भी होता है। जैसे भक्त भगवान्‌की सेवा करता है, वैसे भगवान् भी अपने हृदय-दुलारे प्रिय भक्तकी सेवा करनेमें आनन्दानुभव करते हैं। अर्जुनसे भगवान् कृष्णने कहा है—

हम भक्तनके, भक्त हमारे।
सुन अर्जुन, परतिज्ञा मेरी, यह व्रत टरत न टारे॥

तथैव—

साधवो हृदयं मह्यं, साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

महान् गहन है सेवकका धर्म। योगियोंको भी अगम्य है यह सेवा-धर्म। सेवा और स्वार्थमें स्वभाव-सिद्ध वैर है। स्वामीका स्वार्थ ही सेवकका स्वार्थ है। स्वामीके प्रति निःस्वार्थ भक्ति-भावना ही सच्ची सेवा है। 'प्रभु सदा मुझे अपनाये रहें'—यही सेवकका एकमात्र स्वार्थ है। स्वामीकी सेवा ही उसका सबसे बड़ा हित है। कितना ऊँचा आत्म-निवेदन है इस सेवा-भावनामें !

सेवक-हित साहिब-सेवकाई। करइ सकल सुख-लोभ बिहाई॥

—तुलसी

इसके विरुद्ध—

जो सेवक साहिबहिं सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥

—तुलसी

स्वामीके स्वार्थसे भिन्न उसका अपना कोई स्वार्थ है ही क्या? जब नृसिंह भगवान्‌ने भक्तवर प्रह्लादसे वर माँगनेको कहा, तब आप बोले—

नान्यथा तेऽखिलगुरो, घटेत करुणात्मनः।
यस्तु आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥
अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव॥
यदि रासीस मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ!
कामानां यदसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥

हे जगद्गुरो! तुम करुणारूप हो, तुम्हारा इस प्रकार अपने दासोंको विषयोंकी ओर प्रवृत्त करना असम्भव है। जो तुम्हारा दुर्लभ दर्शन पाकर तुमसे विषय-जन्य सुख माँगता है, वह सेवक नहीं, बनिया है। मैं जैसे तुम्हारा निष्काम सेवक हूँ, वैसे तुम भी मेरे अभिसन्धि-शून्य स्वामी हो। अतः राजा और उसके सेवककी भाँति हम लोगोंमें अभिसन्धिकी कोई आवश्यकता नहीं है। हे वर-दानियोंमें श्रेष्ठ! यदि मुझे तुम मनोवाञ्छित वर देना ही चाहते हो, तो यही एक वर दो, कि मेरे हृदयमें कभी विषय-वासनाओंका अंकुर न उगे।

सांसारिक अभिलाषाओंका अंकुर सच्चे भक्तके हृदय-स्थलमें जम भी नहीं सकता, क्योंकि राग-द्वेषादि तभीतक जीवकी

सद्वृत्तियोंको लूटते रहते हैं, घर तभीतक उसे जेलखाना है और मोह तभीतक उसके पैरकी बेड़ी है, जबतक, नाथ, वह तुम्हारा दास नहीं हो गया—

तावद्रागादयस्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम् ।
तावन्मोहोंघ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः ॥

जिसका तुमसे स्वाभाविक प्रेम हो गया, जो तुमसे सिवा तुम्हारी कृपाके और कुछ नहीं चाहता, उसके हृदयमें भला रागादि लुटेरे अपना अड्डा जमायँगे ? उसका मनोमन्दिर तो, प्रभो, तुम्हारा खास निवास-स्थान है—

जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम्हसन सहज सनेहु ।
बसहु निरन्तर तासु मन, सो रावर निज गेहु ॥
—तुलसी

जहाँ राम हैं, वहाँ कामका क्या काम ? काम वहीं रहेगा, जहाँ राम न होंगे—

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम ।
एक संग नहिं रहि सकैं, 'तुलसी' छाया-घाम ॥

नाथ, मैं—मैं और अनन्य दास ! असम्भव है, मेरे लिए असंभव है अनन्य दासत्वकी प्राप्ति । अनन्य दासका लक्षण तो तुमने भक्ताग्रगण्य मारुतिसे कुछ ऐसा कहा था—

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ, हनुमन्त !
मैं सेवक, सचराचर-रूप स्वामि भगवन्त ॥
—तुलसी

मैं तो जन्म-जन्मका अपराधी हूँ, कृतघ्न हूँ, नखसे शिखतक विकारोंसे भरा हुआ हूँ। सच पूछो तो विनती करना तो दूर है, मैं तुम्हें अपना मुहँ दिखाने लायक भी नहीं हूँ। कबीरने बिल्कुल सच कहा है—

क्या मुख लै विनती करौं, लाज लगत है मोहि।
तुम देखत औगुन करौं, कैसे भावों तोहि॥

पर सुना है, कि तुम्हारी कृपा अनन्त है। केवल उसीका मुझे बल-भरोसा है। अब मेरे अपराधों और अपनी कृपाकी ओर देखकर जो तुम्हें अच्छा लगे सो करो—

औगुन किये तो बहु किये, करत न मानी हार।
भावै बन्दा बकसिये, भावै गरदन मार॥

—कबीर

विश्वास तो यही है, कि तुम अपने सेवकको दण्डित न करोगे, उसके अगणित अपराधोंको क्षमा ही कर दोगे, क्योंकि तुम मेरे ग़रीब-निवाज मालिक ही नहीं हो, मेरे पिता भी हो। मेरी लाज तुम्हारे ही हाथमें है—

औगुन मेरे बापजी, बकस गरीबनिवाज।
जो मैं पूत कपूत हौं, तऊ पिताको लाज॥

—कबीर

कुछ भी हो, मेरे मालिक, अब मैं तुम्हारी नौकरी छोड़नेवाला नहीं। हाथमें आया यह दाव कैसे छोड़ दूँ, स्वामी!

तुम्हरी भक्ति न छोड़हूँ, तन मन सिर किन जाव।
तुम साहिब मैं दास हूँ, भलो बनो है दाव॥

—चरणदास

सीस झुकाऊँगा तो तुम्हारे ही आगे, दीन वचन कहूँगा तो तुम्हींसे और लड़ूँ-झगड़ूँगा तो तुम्हारे ही साथ। अब तो मैं तुम्हारे ही चरणोंके अधीन हूँ—

सीस नवै तो तुमहिं कों, तुमहि सूँ भाखूँ दीन।
जो झगरूँ तो तुमहि सूँ, तुव चरनन-आधीन॥

—दयाबाई

अब तो तुम्हारे दरपर अड़कर बैठ गया हूँ, मेरे स्वामी! मनमें यह धारणा दृढ़ हो गयी है, कि—

द्वार धनीके पड़ि रहै, धका धनीका खाय।
कबहुँक धनी निवाजई, जो दर छाँड़ि न जाय॥

—कबीर

सो, अब—

हरि, कीजत विनती यहै, तुमसों बार हजार।
जिहिं-तिहिं भाँति डर्यौ रहौं, पर्यौ रहौं दरबार॥

—बिहारी

मैं यह भी नहीं जानता, कि तुम्हें कैसे पुकारा जाता है। क्या कहकर तुम्हें पुकारूँ? कभी न कभी तो कृपा करोगे ही। द्वारपर धरना दिये बैठा हूँ। देखूँ, कब नहाल करते हो—

केहि बिधि रीझत हौ प्रभू, का कहि टेरूँ नाथ !
लहर-मिहर जबहीं करौ, तबहीं होउँ सनाथ ॥
—दयाबाई

तुम्हारी निराली रीझका ही एकमात्र भरोसा है। यह तो मानी हुई बात है, कि पतितोंपर ही तुम रीझते हो। धन्य है तुम्हें और तुम्हारी अनोखी रीझको ! हरिश्चन्द्रने क्या अच्छा कहा है—

भरोसो रीझन ही लखि भारी।
हमहूँकों विश्वास होत है मोहन पतित-उधारी।
जो ऐसो स्वभाव नहिं होतो, क्यों अहीर-कुल भायो ?
तजिकैं कौस्तुभ-सो मनि गर क्यों गुंजा-हार धरायो ?
कीट मुकुट सिर छाँड़ि पखौआ मोरन कौ क्यों धारयो ?
फेंट कसी टेंटिनपै, मेवन कौ क्यों स्वाद बिसारयो ?
ऐसी उलटी रीझ देखिकैं उपजति है जिय आस।
जग-निन्दित हरिचन्दहुकों अपनावहिंगे करि दास ॥

बलिहारी ! कैसी उलटी रीझ है तुम्हारी ! कैसी ही हो, हम-जैसे पापियोंके तो बड़े कामकी है। इतना तो मुझे विश्वास है, कि मैं तुम्हें एक-न-एक दिन रिझाकर ही रहूँगा। मैं पापियोंकी दौड़में किसीसे पीछे रहनेवाला नहीं। सबसे दो क़दम आगे ही देखोगे। पतित मैं, कलंकी मैं, अपराधी मैं, हीन मैं, दीन मैं, बताओ, मैं क्या नहीं हूँ ? किस रिझवार पापीसे कम हूँ ? आश्चर्य यही है, कि तुम अबतक मुझपर रीझे नहीं !

इससे या तो मैं पतित नहीं, या तुम पतितपावन नहीं। या तो मैं ग़रीब नहीं, या तुम ग़रीबनिवाज नहीं। हो सकता है, कि तुम पतित-पावन और ग़रीब-निवाज न हो, पर यह कभी सम्भव नहीं, कि मैं पतित और ग़रीब न होऊँ। मुझे अपने ऊपर अविश्वास या सन्देह हो ही नहीं सकता। तब तो नाथ, यही प्रतीत होता है, कि तुम्हारा विरद ही झूठा है। न तुम अब वैसे पतित-पावन ही रहे और न वह ग़रीबनिवाज ही। तो फिर क्यों ऐसे झूठे और निस्सार नाम रखा लिये हैं? क्या कहूँ, क्या न कहूँ!

> दीन-दयालु कहाइकैं धाइकैं, दीनन सों क्यों सनेह बढ़ायो?
> क्यों 'हरिचन्दजू' वेदनमें करुनानिधि नाम कहा क्यों गनायो?
> ऐसी रुखाई न चाहिए तापै कृपा करिकैं जेहिकों अपनायो?
> ऐसो ही जोपै स्वभाव रह्यो तौ 'गरीब-निवाज' क्यों नाम धरायो?

हे प्रभो! मेरी नीचता देखकर संकोच न करो। इस अपार भव-सरितसे पार कर दो—

> तारे तुम बहु पथिनकों, यह नद-धार अपार।
> पार करौ इहि दीनकों, पावन खेवनहार॥
> पावन खेवनहार तजौ जनि कूर कुबरनैं।
> बरनैं नहीं सुजान, प्रेम लखि लेहिं सुबरनैं॥
> बरनैं दीनदयाल, नाव गुन हाथ तिहारे।
> हारेको सब भाँति सु बनिहैं पार उतारे॥

मैं तुम्हारी सेवा-पूजा करना क्या जानूँ, भगवन् ! मैं एक दरजेका कामचोर तुम्हारी नौकरी कैसे बजा सकता हूँ। यदि पूछो, तो फिर तू जानता क्या है, तो जानता सिर्फ़ इतना हूँ, कि मैं तुम्हारा एक नमकहराम नौकर हूँ। सुना है, कि तुम मुझे बरख़ास्त कर रहे हो। ग़रीबपरवर, क्या यह सच है ? कहीं ऐसा काम सचमुच कर न बैठना, मेरे मालिक ! और चाहे जो सज़ा देदो, पर अपने चरण न छुड़ाओ, मेरे स्वामी ! तुम्हें छोड़ यहाँ मेरा और कौन है ? मेरे-जैसे तो तुम्हें सैकड़ों मिल जायँगे—

तुमकूँ हम-से बहुत हैं, हमकूँ तुम-से नाहिं ।
'दादू' कूँ जनि परिहरौ, रहु नित नैनन माहिं ॥

जो कहीं मुझे अपनी नौकरीसे अलग कर दिया, तो फिर मैं कहाँ मारा-मारा फिरूँगा ? लोग क्या कहेंगे, ज़रा ख़याल तो करो। मेरी नहीं, इससे तुम्हारी ही हँसी होगी, स्वामी !

दीन-दयालु सुने जबतें, तबतें मनमें कछु ऐसी बसी है ।
तेरो कहायकै जाऊँ कहाँ, तुम्हरे हितकी पट खैंचि कसी है ॥
तेरो ही आसरो एक'मलूक'नहीं प्रभु सो कोउ दूजो जसी है ।
एहो मुरारि, पुकारि कहौं अब, मेरी हँसी नहिं, तेरी हँसी है ॥

और तो नहीं, पर मेरे एक इस विषयकी तुम भलीभाँति परीक्षा ले सकते हो, कि धक्के-मुक्के खानेपर भी मैं तुम्हारे

द्वारसे हटता हूँ या नहीं। चाहो तो मेरे इस गुणको अपनी कसौटीपर अभी कस लो—

तू साहिब, मैं सेवक तेरा। भावै सिर दै सूली मेरा॥
भावै करवत सिरपर सारि। भावै लेकरि गरदन मारि॥
भावै चहुँ दिसि श्रागि लगाइ। भावै काल दसो दिसि खाइ॥
भावै गिरिवर गगन गिराइ। भावै दरिया माहिं बहाइ॥
भावै कनक-कसौटी देहु। 'दादू' सेवक कसि कसि लेहु॥

अब तो तुम भलीभाँति समझ गये होगे, कि मैं तुम्हारा सेवक तो निस्सन्देह हूँ, पर सेवा करना नहीं जानता, या जानकर करना नहीं चाहता। है भी यही बात। माफ़ करना, मुझे नमकहरामीमें ही मज़ा आता है। मुझे विश्वास नहीं होता, कि तुम मुझे नौकरीसे पृथक् कर दोगे। क्या सचमुच ही अपने चरणोंसे मुझे अलग कर दोगे? हाहा! नाथ, ऐसा न करना। तुम्हारे क़दमोंकी ग़ुलामी बड़े भाग्यसे मिली है। इस ग़ुलामी-को ही मैं आज़ादी समझता हूँ, और ऐसा समझना ही आज मेरे जीवनका सबसे बड़ा सत्य है। एक तो तुम मुझे निकालोगे नहीं, दूसरे, मान लो, निकाल भी दिया, तो मैं यह द्वार छोड़ कर कहीं जाऊँगा नहीं। जानेको कहीं कोई ठौर ठिकाना भी तो हो, प्रभो!

तुम जहाज, मैं काग तिहारो, तुम तजि श्रनत न जाउँ।
जो तुम प्रभु जू! मारि निकासो, श्रौर ठौर नहिं पाउँ॥

इससे, सरकार, मुझे बरख़ास्त कर देनेका विचार तो अब छोड़ ही दो।

नाथ! मुझे तो इसीका आज बड़ा अभिमान है, कि तुम मेरे स्वामी हो और मैं तुम्हारा सेवक हूँ। तुम चन्दन हो और मैं पानी हूँ। तुम श्यामघन हो और मैं तुम्हें देख-देखकर थिरकनेवाला मोर हूँ। प्यारे तुम पूर्ण चन्द्र हो और मैं तुम्हारा चाह-भरा चकोर हूँ। तुम दीपक हो और मैं तुम्हारे प्रेममें बलनेवाली बाती हूँ। तुम मोती हो और मैं धागा हूँ। और, प्रभो, तुम सुवर्ण हो और मैं तुमसे मिलनेवाला सुहागा हूँ। अपने इस अभिमानको, नाथ, मैं स्वप्नमें भी न छोड़ूँगा। अब सन्त रैदासजीकी विमल वाणीमें इस भक्ति-भावनाको सुनें—

अब कैसे छुटै नामरट लागी।

प्रभुजी, तुम चन्दन हम पानी। जाकी अँग-अँग बास समानी॥
प्रभुजी, तुम घन हम बनमोरा। जैसे चितवत चन्द चकोरा॥
प्रभुजी, तुम दीपक हम बाती। जाकी ज्योति बरै दिन राती॥
प्रभुजी, तुम मोती हम धागा। जैसे सोनहिँ मिलत सोहागा॥
प्रभुजी, तुम स्वामी हम दासा। ऐसी भक्ति करै रैदासा॥

तुम मेरे सेव्य हो और मैं तुम्हारा सेवक हूँ—बस, हम दोनोंमें यही एक सम्बन्ध अनन्तकाल-पर्यन्त अक्षुण्ण बना रहे। पूरी कर देनेको कहो तो दासकी एक अभिलाषा और है। वह यह है—

अहं हरे तवपादैकमूल
दासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेताऽसुपतेर्गुणानां
गृणीत वाक् कर्मकरोतु कायः॥

अर्थात्, हे भगवन्! मैं बार बार तुम्हारे चरणारविन्दोंके सेवकोंका ही दास होऊँ। हे प्राणेश्वर! मेरा मन तुम्हारे गुणोंका स्मरण करता रहे। मेरी वाणी तुम्हारा कीर्तन किया करे। और, मेरा शरीर सदा तुम्हारी सेवामें लगा रहे।

किसी भी योनिमें जन्म लूँ, 'त्वदीय' ही कहा जाऊँ, मुझे अपना कहीं और परिचय न देना पड़े। सेवकको इससे अधिक और क्या चाहिए। अन्तमें यही विनय है, नाथ!

अर्थ न धर्म न काम-रुचि, गति न चहौं निर्बान।
जन्म जन्म रति राम-पद यह बरदान न आन॥
परमानन्द कृपायतन, मन परिपूरन काम।
प्रेम-भगति अनपायिनी, देहु हमहिं श्रीराम॥

—तुलसी

क्यों नहीं कह देते, कि 'एवमस्तु!'

दास्य और सूरदास

स्य-प्रेमके कुशल कलाकारोंमें तुलसीके बाद सूरका ही स्थान है। जैसे वात्सल्य-प्रेममें सूरके बाद तुलसीका नाम लिया जाता है, वैसे ही दास्य-प्रेममें तुलसीके बाद सूरका नम्बर आता है। कहीं-कहीं तो वात्सल्यकी भाँति दास्यमें भी इन युगल महात्माओंका भाव-साम्य देखते ही बनता है। अन्तर केवल इतना ही है, कि तुलसीकी दास्य-रति विशुद्ध दास्य-रति है और सूरकी कुछ सख्य-रति मिश्रित। अस्तु, विनयकी दीनता, मानमर्षता आदि सप्त भूमिकाओंका भक्तवर सूरदासने भी सुचारु चित्रण किया है। दैन्य तो बड़ा ही भावमय है। सूरका यह दैन्य, देखिए कैसा हृदयस्पर्शी है! कहते हैं—

> नाथ जू, अबकै मोहिं उबारो।
> पतितनमें विख्यात पतित हौं, पावन नाम तुम्हारो॥
> बड़े पतित नाहिन पासङ्गहुँ, अजामेल को विचारो।
> भाजै नरक नाम सुनि मेरो, जमहु देय हठि तारो॥

नाथ! आज है तुम्हारी उद्धारिणी शक्तिकी कठिन परीक्षा। देखना है, आज मेरा तुम कैसे उद्धार करते हो। मैं कोई ऐसा-वैसा पापी तो हूँ नहीं। मैं एक प्रसिद्ध पातकी हूँ प्रसिद्ध।

असाधारण पापी हूँ। सचमुच, महाराज, मैं एक अनुपम अद्वितीय पतित हूँ। बड़े-से-बड़े पापी भी मेरे पापोंकी तोलमें पसंगा ठहरेंगे। वह बेचारा अजामेल, अरे, वह है ही क्या। मेरा ब्रह्माण्ड-विख्यात नाम सुनकर बड़ेसे भी बड़े नारकीय भयभीत हो भाग जाते हैं। और, यमराज अपने नरक-नगरके फाटकपर ताला लगा देता है! प्रभो, मैं ऐसा महान् पातकी हूँ। आज-तक जितने कुछ पापियोंका तुमने उद्धार किया है, उन सबका मैं सम्राट् हूँ। ऐसा कौन प्रतापी पातकी है, जो मेरी बराबरी कर सके। मैं समस्त पापियोंपर विजय प्राप्त कर चुका हूँ। अब भी नित्य नये-नये पाप करता हूँ। मेरी सवारीके साथ-साथ सहज भावसे ही पातकोंकी चतुरङ्गिणी सेना आगे आगे चलती है। और काम, क्रोधके रणवाद्य बजते जाते हैं। निन्दाका राजछत्र मेरे मस्तकपर लगा रहता है। मेरा दंभ-दुर्ग बड़ा दृढ़ है। उसके चारों ओर कपटका कोट बना हुआ है। मेरे उन दुर्जय दुर्ग-द्वारोंका किसे पता है? मेरा विश्वविजयी नाम सुनकर नरक भी थरथर काँपने लगता है। यमपुरमें तहलका मच जाता है। ऐसा हूँ मैं पापाधिराज!

प्रभु! मैं सब पतितन को राजा।
को कर सकत बराबरि मेरी, पाप किये तरताजा॥
सहज सुभाव चलै दल आगे, काम क्रोधकौ बाजा॥
निन्दा छत्र दुरै सिर ऊपर, कपट कोट दरवाजा।
नाम मोर सुनि नरकहु काँपै, यमपुर होत अवाजा॥

मेरा अटल अचल साम्राज्य तृष्णाके देशमें अवस्थित है। अनेक मनोरथ ही मेरे महारथी योद्धा हैं, जो इन्द्रियरूपी खड्गों-को लिये रहते हैं। काम मेरा महामन्त्री है और क्रोध है मेरा प्रतीहार। आज मैं अहंकाररूपी मत्त मातंगपर आरूढ़ होकर दिग्विजय करने निकला हूँ। देखो, मेरे गर्वोन्नत मस्तकपर लोभ-का विशाल छत्र तना हुआ है। असत्सङ्गतिकी मेरी कैसी अपार सेना है! मद, मोह और द्रोप ही मागध और वन्दीजन हैं, जो सदा मेरा गुण गान करते रहते हैं। मेरा अजेय पाप-गढ़ बड़ा ही सुदृढ़ है। किस योद्धामें ऐसी शक्ति है, जो उससे मेरे पाप गढ़का फाटक तोड़ सके?

पतितोद्धारक! तुम आज मेरी उपेक्षा करते हो! मुझे तारनेमें लापरवाही दिखाते हो! अच्छी बात है, किये जाओ उपेक्षा। देखता हूँ मैं आज तुम्हारी पतितपावनता। लो, होशयार हो जाओ—

आजु हौं एक एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कै तुमहीं माधव! अपुन भरोसे लरिहौं॥

यह मानी हुई बात है, कि अन्तमें पराजय तुम्हारी ही होगी। इससे अपने विरदकी लाज रखना चाहो तो अब भी कुछ बिगड़ा नहीं, अजामेल जैसे क्षुद्र पापियोंसे मुझे ऊँचा पातकी मानकर फौरन ही तारनेका फ़र्मान जारी कर दो। क्या कहा, कि कुछ सोच विचारकर हुक्म देंगे? यह ख़ूब रही! क्या आप अपनी क़ानूनकी किताब देखकर फैसला सुनाना

चाहते हैं ? शायद आप यह बार बार सोचते होंगे, कि मैं कैसा पापी हूँ । अजी, कोई मामूली पापी नहीं हूँ । पापियोंका एक शाहंशाह हूँ । छोड़ दो अपनी यह इंसाफ़की जिद, फेंक दो यह पुरानी सड़ी गली कानूनकी किताब । अब विचार क्या करते हो ? मेरे बारेमें सोचते सोचते थक जाओगे । माथेपर पसीना आ जायगा । यह क्या हठ करते हो, साहब ! सीधी तो बात है। अपने विरदकी ओर देखो । मुझे तुमने जो न तारा तो, हज़रत, तुम्हारा यह 'पतितपावनता' का विरद, लो,आज तुम्हारे हाथसे गया—

मेरी मुकुति विचारत हौं, प्रभु, पूछत पहर घरी ।
स्रमतें तुम्हैं पसीना ऐहै, कत यह जकनि करी ॥
'सूरदास' विनती कहा विनवै, दोषहिं देह भरी ।
अपनो विरद सँभारहुगे तब, यामें सब निनुरी ॥

बस, इसीमें मेरी तुम्हारी सदा निभ सकेगी । करना चाहो तो अब भी फैसला कर सकते हो; मौका अभी हाथसे निकला नहीं । बोलो, तारते हो या नहीं ?

× × × ×

नाथ ! तुम मुझे अपना मानो या न मानो, पर हूँ मैं तुम्हारा ही । भला हूँ तो तुम्हारा, और बुरा हूँ तो तुम्हारा। मेरी लाज तुम्हारे ही हाथ है। यह हो नहीं सकता, कि मैं तो कहा जाऊँ बुरा और तुम बने रहो भले । मैं[तो अब सब छोड़-छाड़कर तुम्हारी शरणमें आगया हूँ, तुम्हारे चरणोंको आज

पकड़ लिया है। सो, अब इस दासको अंगीकृत करो, इसपर अपनी छाप लगा दो। जैसे तुम रखोगे, वैसे रहूँगा। मैं तुम्हारी कोई ख़ास कृपा नहीं चाहता। तुमसे क्या छिपा है। घट-घटकी जानते हो। अपना सुख-दुःख इस मुँहसे क्या कहूँ। बस, यही विनय है—

कमलनयन, घनस्याम, मनोहर, अनुचर भयो रहौं।
'सूरदास' प्रभु भक्त-कृपानिधि ! तुम्हरे चरन गहौं॥

अंगीकारभर कर लो, नाथ, मैं तुम्हारी हर तरहकी रज़ामें राज़ी रहूँगा—

जैसहि राखौ तैसहि रहौं।
जानत हौ सुख-दुख सब जनके, मुख करि कहा कहौं॥

क्या इसलिए नहीं अपना रहे हो, कि मैं अवगुणोंका आगार हूँ? सो तो निस्सन्देह हूँ, नाथ! मेरे दोषोंका कुछ पार! पर तुम्हें इस सबसे क्या?

प्रभु, मेरे अवगुन न विचारो।
धरि जिय लाज सरन आयेकी रवि-सुत-त्रास निवारो॥
जो गिरि-पति मसि घोरि उदधिमें, लै सुरतरु निज हाथ।
ममकृत दोष लिखै वसुधा भरि, तऊ नहीं मिति नाथ॥

समुद्ररूपी दावातमें गिरि-राजकी स्याही घोलकर यदि पृथिवीरूपी पत्रपर मेरे किये हुए पापोंको लिखने बैठ जाओ, तो भी, प्रभो, तुम्हें उनकी मिति न मिलेगी। अतः मेरे दोषोंकी ओर देखना व्यर्थ है। तुम तो बस अपने 'पतितोद्धार'के प्रणको पूरा

करो। तुम्हारा नाम समदर्शी है। प्रभो, गुण और अवगुण तुम्हारी दृष्टिमें बराबर हैं। दासके दोष तभीतक दोष हैं, जबतक उसे स्वामीने अंगीकृत नहीं कर लिया—

प्रभु, मेरे औगुन चित न धरो।
समदरसी प्रभु, नाम तिहारो, अपने पनहिं करो॥
इक लोहा पूजामें राखत, इक घर बधिक परो।
यह दुविधा पारस नहि जानत, कंचन करत खरो॥
इक नदिया इक नार कहावत मैलो नीर भरो।
जब मिलिकैं दोउ एक बरन भये सुर-सरि नाम परो॥

दोषी, अपराधी, पातकी, नारकीय मैं तभीतक हूँ, जबतक मुझे तुमने अपनी अभयप्रद शरणमें नहीं ले लिया। यह तो मान चुका हूँ, कि मुझसे अगणित अपराध हुए, हो रहे हैं और होंगे, क्योंकि यह तो मेरा स्वभाव है। पर तुम्हें ऐसा न चाहिए। नाथ, तुम्हें मेरे अपराधोंको अपने वात्सल्य-पूर्ण हृदयमें स्थान न देना चाहिए। करुणासागर! दासको इतना कठोर दण्ड क्यों दे रहे हो?

माधवजू! जो जनतें बिगरै।
तउ कृपालु करुनामय केसव, प्रभु नहिं जीय धरै॥
जैसे जननि-जठर-अन्तरगत सुत अपराध करै।
तउ पुनि जतन करै अरु पोपै, निकसे अंक भरै॥
जद्यपि मलय-बृच्छ जड़ काटत, कर कुठार पकरै।
तऊ सुभाय सुगंध सुसीतल रिपु-तन-ताप हरै॥

करुनाकरन दयालु दयानिधि, निज भय दीन डरै ।
इहि कलिकाल-व्यालमुख-ग्रासित 'सूर' सरन उबरै ॥

बालक कितने ही अक्षम्य अपराध करे, माता-पिता उसे त्याग नहीं देते। तनिक सोचनेकी बात है,यदि वे ही उसे छोड़ दें, तो उस बेचारेका फिर पालन-पोषण कौन करेगा ? क्या मैं आज तुम्हारी गोदमें बैठनेका भी अधिकारी नहीं ? करुणालय, यह निष्ठुरता तुम्हें शोभा नहीं देती। न-जाने, तुम आज मेरे साथ कैसा कुछ व्यवहार कर रहे हो। तुम-सा स्वामी ऐसा व्यवहार करेगा, यह मुझे आशा न थी। तुम्हें छोड़ यह अनाथ अब किसके द्वारपर जाय? किसका होकर रहे ? प्रभो! सेवककी वेदना जाननेवाले एक तुम्ही हो। पर, न-जाने, आज तुम्हारी करुणा कहाँ चली गई! मेरी बार तुम ऐसे निठुर, न जाने क्यों, बन गये! क्या करूँ, कुछ समझमें ही नहीं आता। मुझे ही अपनानेमें आज यह हिचकिचाहट हो रही है। कहीं अपना विरद तो नहीं भूल गये ? यदि सचमुच भूल गये, तो फिर हो चुका! तब तो अब हम लोगोंका ख़ूब उद्धार होगा नाथ!

जो पै तुमहीं बिरद बिसारो ।
तौ कहौ, कहाँ जाउँ, करुनामय, कृपन करमकौ मारो॥
अगनित गुन हरि नाम तुम्हारे, आज अपन पन धारो।
'सूरदास' प्रभु, चितवत काहे न, करत-करत स्रम हारो॥

× × × ×

यह तो अब निश्चय हो गया है, कि अपने निज पुरुषार्थसे मैं कुछ न कर सकूँगा। उस दिन उन पापियोंकी देखा-देखी, बिना विचारे, मैं भी अघ-सागरमें तैरने लगा। वे सब अच्छे तैराक थे, सो तैर-तारकर पार लग गये। पर मुझे उन सबोंने बीचमें ही, बिना किसी सहारेके, बिल्कुल अकेला छोड़ दिया—

मो देखत सब हँसत परस्पर तारी दै-दै धीट।
कीनी कथा पाछिलनुकी-सी, गुर दिखाय दइ ईंट॥

अब क्या करूँ, नाथ! मेरा तो कोई भी कहीं आधार नहीं। तुम्हारे नामका अवलम्बन होता, तो क्यों इस तरह पाप-पयोधिमें डुबकियाँ खाता फिरता? लो, अब डूबा, बस अब डूबा—

तुम कृपालु करुनामय केसव, अब हौं बूड़त माहँ।
कहत 'सूर' चितवौ अब स्वामी, दौरि पकरि ल्यौ बाहँ॥

बचा लो, नाथ, बचा लो। क्यों व्यर्थ मेरी ही बार इतनी देरी लगा रहे हो?

कबहूँ नाहिन गहरु कियो।
सदा सुभाव-सुलभ सुमरन-बस, भगतनि अभय दियो॥
'सूरस्याम' सर्वग्य कृपा-निधि, करुना-मृदुल हियो।
काके सरन जाउँ जदुनन्दन! नाहिन और बियो॥

दूसरा ऐसा कौन शरणागत-पालक है, जिसके पैरोंको जाकर पकड़ूँ? कोई और मुझे अपनी शरणमें ले लेता, तो, हे अशरण-शरण, तुम्हें आज इतना कष्ट देता ही क्यों—

जो जग और बियो हौं पाऊँ।
तौ यह विनती बार-बारकी हौं कत तुमहिं सुनाऊँ?
सिव विरंचि सुर असुर नाग मुनि सुतौ जाँचि जन आयो।
भूल्यौं भ्रम्यौं तृपातुर मृग-लौं, काहू स्रम न गँवायो॥

सो, अब तो—

कीजै प्रभु ! अपने विरदकी लाज ।

मैं यह कब कहता हूँ, कि मेरे साथ न्याय किया जांय? लोग, बस, यही कहेंगे न, कि तुमने 'सूर'को तारकर अन्याय किया? थोड़ी-सी बदनामी ही होगी। सो, सह लेना। बात कैसी तुम्हारे दासकी रह जायगी। अपने सेवकके हितके लिए स्वामी क्या नहीं करता। तुम सब कर सकते हो। तुम स्याहसे सफ़ेद और सफ़ेदसे स्याह सब कर सकते हो। तुम्हारा किया हुआ अन्याय भी न्याय ही कहा जायगा। पर इसे अन्याय कहनेका साहस करेगा कौन? देखा जाय तो ऐसा अन्याय, वस्तुतः न्याय, तुमने बहुतोंके साथ किया है। सैकड़ों बार अपने सेवकोंका तुमने अनुचित पक्ष लिया है। यह कोई नई बात न होगी, ग़रीबपरवर!

लीजै पार उतारि सूरकों, महाराज ब्रजराज !
नई न करन कहत प्रभु तुमसों, सदा गरीबनिवाज॥

सरकार! मैं तुमसे वही करनेको कहता हूँ, जो तुम सदासे अपने जनोंके साथ करते आये हो। मैं यह नहीं कहता, कि तुमने कभी मेरे साथ कोई भलाई नहीं की; तुमने नाथ, मेरे साथ

अगणित उपकार किये और अब भी करते जा रहे हो। पर मैं ही मूढ़ हूँ। मैंने ही तुम्हारे दिये हुए अनुकूल अवसरोंसे कोई लाभ नहीं उठाया। मैंने भूलसे भी अपनी दुर्बलताओंको कभी स्वीकार नहीं किया। मैं बड़ा कृतघ्न हूँ, नाथ! न जाने, मेरी कौन गति होगी। हा!

कौन गति करिहौ मेरी,नाथ!
हौं तौ कुटिल कुचील कुदर्सन, रहत विषयके साथ ॥

यह जानकर भी, कि 'गरब गोविन्दहिं भावत नाहिं' मैं हमेशा अभिमानके ही नशेमें चूर रहा! यह सुन-समझकर भी, कि 'सब जंजाल सु इन्द्रजाल सम, ज्यों बाजीगर नटके' मैंने कभी विषय-वासनाओंसे मुख नहीं मोड़ा! अधिक क्या कहूँ अपनी मूढ़ता पर, करुणालय!

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो, ऐसो नौन-हरामी॥
भरि-भरि उदर विषय कों धावौं, जैसे सूकर ग्रामी।
हरि-जन छाँड़ि हरी-विमुखनकी, निसिदिन करत गुलामी॥
पापी कौन बड़ो है मोतें, सब पतितनमें नामी।
'सूर' पतितकों ठौर-कहाँ है, सुनिए श्रीपति-स्वामी॥

× × × ×

समझमें नहीं आ रहा है, कि यह हठी सूरदास अंगीकृत होनेको क्यों इतने उत्कण्ठित और अधीर हो रहे हैं। बात यह है न, कि—

जाकों मनमोहन अंग करै।
ताकौ केस खसै नहिँ सिरतें,जो जग बैर परै॥

अंगीकृतका कोई बाल भी तो बाँका नहीं कर सकता। दुष्ट कलि उसका क्या बिगाड़ सकता है? वह तो अनायास ही त्रिलोकमें अभय हो जाता है—

जाकों हरि अंगीकार कियो।
ताके कोटि विघ्न हरि हरिकैं अभय प्रताप दियो॥

बड़ा भारी अधिकार है हरि-जनोंका। अनन्त महिमा है हरि-दासोंकी। पर बेचारा वह अन्धा सूर किसी अधिकारका इच्छुक नहीँ है। वह तो प्रेम-पुलकित होकर केवल इतना ही चाहता है, कि उसका चाहसे भरा चित्त-चंचरीक श्रीकृष्णके चरण-कमलोंपर ही सदा मँडराता रहे, उसकी रसना-भ्रमरी निरन्तर नन्द-नन्दनकी ललित लीलाका मधु पीती रहे, और उसके हाथ नित्य ही श्यामसुन्दरको कमल-दलोंकी माला बना-बना कर पहनाया करें। यही, बस, उसकी एकमात्र हार्दिक कामना है—

ऐसो कब करिहौ, गोपाल!
मनसा-नाथ, मनोरथ-दाता, हौ प्रभु दीन-दयाल॥
चित्त निरन्तर चरननि-अनुरत, रसना चरति रसाल।
लोचन सजल प्रेम पुलकित तन,कर-कंजनदल-माल॥

इसीमें उस दीनकी गति है और इसीमें उसकी मुक्ति है। अन्धे सूरसे पिण्ड छुड़ाना चाहते हो तो उसकी यह अभिलाषा, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा, पूरी कर दो। यों वह तुम्हारे द्वारसे हटनेवाला नहीं। तुम्हारे लिए यह कोई बड़ी बात नहीं है। क्या मिलेगा तुम्हें कृपणतामें ? तुम्हें तो उदारता ही शोभा देती है। फिर तुमसे वह ऐसा माँग ही क्या रहा है ? बहुत हुआ; अब उसपर दया करो, दया-सागर !

तुम अनादि अविगत अनंत गुन, पूरन परमानन्द।
सूरदासपर कृपा करौ प्रभु, श्रीवृन्दावन-चन्द ॥

दास्य और तुलसीदास

अहो ! तुलसीका दास्य-भाव ! भक्तिका पूर्ण परिपाक भक्ति-भास्कर गोसाईंजीकी दास्य-रतिमें ही देखा जाता है। इसमें सन्देह नहीं, कि सेवक-सेव्य-सम्बन्धका जैसा चारु चित्रण तुलसीके भव्य भावना-भवनमें दृष्टिगोचर होता है, वैसा अन्यत्र नहीं। इस महामहिम महात्मा-का कितना ऊँचा दास्य-प्रेम है, कितना गहरा सेव्य-भाव है ! त्रिताप-संतप्त चिरपिपासाकुल परिश्रान्त पथिकोंके लिए तुलसीने, अहा ! पुण्यसलिला भक्ति-भागीरथीकी कैसी करुणामयी धारा बहाई है ! 'विनयपत्रिका' में वर्णित दास्यरति तो, वास्तवमें, विश्व-साहित्यमें एक है, अद्वितीय है। क्या दीनता, क्या भर्त्सना, क्या मान-मर्षता, क्या भय-दर्शना आदि सप्त भूमिकाओंमें विनयके पद अनुपमेय हैं, अतुलनीय हैं। 'सेवक-सेव्य-भाव बिनु भव न तरिय उरगारि' गोसाईंजीकी इस दृढ़ धारणाने उनकी रुचिर रचनाकी प्रत्येक पंक्तिमें दास्य-रतिका सजीव चित्र अङ्कित कर दिया है। उनकी सेव्य-सेवक-भावनाको देखकर एक बार तो नीरससे भी नीरस हृदय कह उठेगा, कि धन्य है तुलसीकी भक्ति-भारती ! अस्तु।

एक ही अभिलाषा है, एक ही लालसा है। वह यह है, कि—

ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु ! चरन-सरन पावै।

पर वह चरण-शरण मिले कैसे ? यह मन महान् मूढ़ है। इस मनकी कुछ ऐसी मूढ़ता है, कि—

परिहरि राम-भक्ति-सुर-सरिता आस करत ओस-कनकी !

राम-भक्ति-भागीरथीको छोड़ यह मूढ़ आज ओस-कणोंकी आशा कर रहा है ! इसकी मूढ़ताका कुछ पार ! भला, देखो तो—

महा मोह-सरिता अपार महँ संतत फिरत बह्यौ।

श्रीहरि-चरन-कमल-नौका तजि फिरि-फिरि फेन गह्यौ॥

कैसा निरंकुश है मेरा यह मन-मातंग ! यह दुर्जय कैसे जीता जाय—

हौं हारयौ करि जतन विविध विधि अतिसै प्रबल अजै।

हाँ, अब यही एक उपाय है, कि—

तुलसिदास, बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै।

वह लीलामय प्रेरक प्रभु ही कभी कृपाकर इसे अपने वशमें करा दें तो हो सकता है; नहीं, तो नहीं। पर इस ओर भला वह क्यों देखने चले ! वह तो मुझे, न जाने कबसे, भुला बैठे हैं। समझमें नहीं आता, कि क्यों ऐसा व्यवहार मेरे साथ किया गया—

काहे तें हरि मोहिं बिसारो ?

जानत निज महिमा, मेरे अघ, तदपि न नाथ सँभारो !

लो, कह तो दो आज साफ़-साफ़ अपने मनकी सारी बातें। आख़िर मुझे भुला क्यों दिया, मेरे मालिक? तुमने अपने सेवकोंके दोषोंपर न्याय्य विचार किया, तो हो चुका! पर ऐसा तुम करोगे नहीं, विचाराधीश! अपने दासोंके दोषोंको यदि तुम मनमें लाते होते, तो बड़े-बड़े धर्म-धुरन्धरोंको छोड़कर व्रजके गँवार ग्वालोंके बीच क्यों बसने जाते? अछूत भीलनीके जूठे बेर क्यों खाते? दासी-पुत्र विदुरके घरका साग-पात क्यों आरोगते? तुम्हारे सम्बन्धमें तो यही प्रसिद्ध है, कि—

निज प्रभुता बिसारि जनके बस होत, सदा, यह रीति।

देखो न—

जाकी माया-बस बिरंचि सिव नाचत पार न पायो।
करतल ताल बजाइ ग्वाल-जुवतिन्ह सोइ नाच नचायो॥

इससे तो अब यही जान पड़ता है, कि तुम्हें न तो कुलीन धनी ही प्यारे हैं, और न पंडित या ज्ञानी-ध्यानी ही। तुम्हें तो, नाथ, अपने दीन-दुर्बल दास ही प्यारे हैं। तुम्हारा नाम ही ग़रीबनिवाज है। पर मुझे ही क्यों अबतक नहीं अपनाया? मैं क्या कहींका धन्नासेठ हूँ? बात कुछ समझमें नहीं आती, कि तुम्हारी कैसी रीझ है। हाँ, इतना तो समझता हूँ, कि मैं तुम्हारा हूँ, और तुम्हारा ही मुझपर अखंड अधिकार होना चाहिए। मैं अपनी इस समझको भ्रान्ति कैसे मान लूँ? अच्छा, तुम्हारा नहीं, तो बताओ, फिर किसका हूँ? मुझे आज

तुम छोड़ रहे हो ! यह क्या कर रहे हो, प्रभो, ज़रा याद तो करो वे दिन—

छारतें सँवारि कै पहारहूतें भारी कियो,
गारो भयो पंचमें पुनीत पच्छ पाइ कै;
हौं तो जैसो जब तैसो अब, अधमाई कैकै
पेट भरौं, राम, रावरोई गुन गाइ कै।
आपने निवाजेकी पै कीजै लाज, महाराज !
मेरी ओर हेरि कै न बैठिए रिसाइ कै;
पालिकै कृपालु, ब्याल-बालहू न मारिये, औ
काटिये न, नाथ ! विषहू कौ रूख लाइ कै॥

तुम्हारे पालितकी आज यह दशा ! 'रामदास' होकर क्या मुझे अब 'कलिदास' होना पड़ेगा ? अपनी मुझे कोई चिन्ता नहीं। दुःख इतना ही है कि, नाथ, जिस हृदय-भवनमें तुम्हें रहना चाहिए, उसमें आज चोर और लुटेरे अपना अड्डा जमानेकी घात लगा रहे हैं ! क्या उनकी यह ज़्यादती तुम्हें सहन होगी ?

मम हृदय भवन, प्रभु, तोरा। तहँ बसे आइ, प्रभु, चोरा॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं विनय निहोरा॥
तम, मोह, लोभ, अहँकारा। मद, क्रोध, बोध-रिपु मारा॥
कह तुलसिदास, सुनु रामा। लूटहिं तसकर तव धामा॥
चिन्ता यह मोहि अपारा। अपजस नहिं होइ तुम्हारा॥

तनिक सोचो तो, चोर-लुटेरोंके हाथसे तुम्हारे घरका लुट जाना क्या कम बदनामीकी बात होगी ? मुझे, बस, इतनी ही चिन्ता है, कि कहीं संसारमें तुम्हारा अपयश न फैल जाय, तुम्हारी सारी बनी-बनाई बात न बिगड़ जाय। मैं तुम्हारे मकानकी यों कबतक रखवाली करता रहूँगा। अभी कुछ गया नहीं, आकर सँभालते बने तो सँभाल लो। पीछे फिर मैं तुम्हारे घरका जिम्मेवार नहीं। लो,फिर मुझे कोई दोष न देना।

× × × ×

इतने निठुर तुम पहले कब थे ? तुम्हारे स्वभावमें कहाँसे इतनी निठुराई आ गई, करुणासागर ? आश्चर्य है !

जद्यपि, नाथ, उचित न होत अस, प्रभुसों करौं ढिठाई।
तुलसिदास, सीदत निसिदिन देखत तुम्हारि निठुराई॥

यह जानता हूँ, कि स्वामीके साथ ढिठाई करना ठीक नहीं है; पर करूँ क्या ? आर्त हूँ, जो न करूँ सो थोड़ा। आज ढिठाई भी करनी पड़ी है। कहाँ तक चुप रहूँ ! कहोगे, कि आख़िर तू कहना क्या चाहता है, कैसी ढिठाई करेगा ? तो, सुनो; क्षमा करना, क्योंकि मैं जड़ हूँ। मुझे कहना ही क्या है, केवल यही कहना है कि 'तुम निठुर हो।' निठुर तो हो तुम, पर दुःख होता है मुझे ! बात यह है, कि मैं अपने स्वामीको नितान्त निर्दोष देखना चाहता हूँ। लोगोंका यह कहना, कि 'तुलसीका मालिक बड़ा निर्दय है,' मुझे कैसे सह्य हो सकता है ? तुम्हारी निठुराईका यह दोष

सुनकर कहीं क्रोध आ गया और किसीसे लड़-झगड़ बैठा तो तुम्हें और भी बुरा लगेगा। इसलिए और नहीं तो कमसे कम मेरा दुःख दूर करने या व्यर्थकी लड़ाई-झगड़ा बचानेके लिए ही निठुराईकी यह नयी आदत तो, सरकार, छोड़ ही दो। इसमें तुम्हारा बिगड़ता ही क्या है?

गोसाईंजीके कहनेका कैसा निराला ढंग है! इस ज़रासे इशारेमें ग़ज़बका ज़ोर भर दिया है। यों भी तो कहा जा सकता था, कि 'तुम बड़े निठुर हो, जो मुझे निहाल नहीं करते।' पर इसमें वह बात कहाँ, जो,

'तुलसिदास सीदत निसिदिन, देखत तुम्हारि निठुराई'

में है। इतनेपर भी क्या तुलसीके निठुर नाथ निठुर ही बने रहेंगे?

यह तो कह ही चुका हूँ, कि मैं आर्त्त हूँ, अतएव विवेकहीन हूँ। आर्त्तके कहनेका कोई बुरा नहीं मानता। अपनी जड़ताके वश होकर कभी-कभी तो मैं तुम्हारे किये सारे उपकारोंको भुला बैठता हूँ। पर क्या मैं सचमुच ही कृतघ्न हूँ? न, मैं कृतघ्न नहीं हूँ; स्वामिन्! तुम्हारे अगणित उपकारोंको, भला, मैं भूल सकता हूँ। नाथ, तुमने मुझे क्या नहीं दिया। पर अभी मेरी तृष्णा-पिपासा शान्त हुई नहीं। एक लालसा पूरी होनेको अभी और है। वह यह, कि—

विषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं, होत कबहुँ पल एक।
तातें सहौं बिपति अति दारुन, जनमत जोनि अनेक॥

कृपा-डोरि बनसी पद-अंकुस, परमप्रेम मृदु चारो ।
एहि विधि बेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो ॥

मेरा मनरूपी मीन विषयरूपी जलसे एक क्षण भी अलग नहीं होता। यह विषयी मन विषाक्त वासनाओंसे तनिक भी नहीं हटता। इसीसे मुझे जन्म-मरणका दारुण दुःख सहना पड़ रहा है। कबसे विविध योनियोंमें जन्म लेता और मरता हूँ। इस विपत्तिसे त्राण पानेका,बस,एक उपाय शेष रह गया है। वह यह है, कि अब अपनी कृपाकी तो बनाओ रस्सी और तुम्हारे चरणमें जो अंकुश (चिह्न) है, उसका बनाओ काँटा। उसमें परम प्रेमका कोमल चारा चपका दो। बस, फिर मन-मीनको छेदकर विषय-वारिसे बाहर निकाल लो, जिससे वह एकवृत्त होकर सदा तुम्हारा ही भजन करता रहे। मेरा दारुण दुःख एक इसी उपायसे दूर हो सकता है। यह 'मनोमत्स्य-वेध' नाथ, तुम्हारे लिए बड़ा कुतूहलजनक होगा।

इसके बाद मैं क्या करूँगा, सो सुनो—

जानकी-जीवनकी बलि जैहौं।
नातो नेह नाथ सों करि, सब नातो नेह बहैहौं ॥

क्योंकि तुम्हारे साथका नेह-नाता ही इस जीवनका एकमात्र सारभाग है। तुम्हारे बिना जीना, जीना नहीं। वह जीवन ही किस कामका, जिसमें तुम न हो, तुम्हारा प्रेम न हो—

तिनतें खर सूकर स्वान भले, जड़ता बस ते न कहैं कछुवै ।
'तुलसी' जेहि रामसों नेह नहीं, सो सही पसु पूँछ विषान न द्वै ॥

जननी कत भार-मुई दसमास, भई किन बाँझ, गई किन च्वै ?
जरि जाउ सो जीवन, जानकी-नाथ! जियै जगमें तुम्हरो बिन ह्वै॥

मैं तो मान चुका हूँ कि तुम मेरे स्वामी हो, पर तुमने भी, नाथ, स्वीकार कर लिया है या नहीं कि, 'तुलसी हमारा है ?' न किया हो तो अब कर लो। शायद तुम मेरी छोटाईसे डरकर मुझे अंगीकृत नहीं कर रहे हो। यह बड़ी आफ़त है। एक ओर 'दीनबन्धु' कहलानेका शौक़ और दूसरी ओर दीनोंके साथसे घिन! दोनों बातें एक साथ कैसे निभ सकती हैं। यदि तुम मेरी लघुतासे न डरो तो एक पंथ दो काज सध जायँ। मैं 'सनाथ' हो जाऊँ, और तुम्हें 'अनाथ-पति' की उपाधि मिल जाय। कहो, हो राजी ?

हौं सनाथ ह्वैहौं सही, तुमहुँ अनाथ-पति,
जो लघुतहि न भितैहौ।

लघुतासे डरना कैसा ? बड़ा—ख़्याल करनेकी बात है-छोटेसे क्यों डरने चला ? यह तो कुछ अजीब-सी बात है। नहीं, बात ठीक सीधी-सी है। बड़ेलोग बहुधा छोटोंसे डरा करते हैं। बात करना तो बहुत दूर है, वे उनके सामने भी नहीं जा सकते। उन्हें यही भय लगा रहता है, कि कहीं हम छोटेलोगोंके पास खड़े होगये, तो दुनियाँ क्या कहेगी, ज़रूर हमारे बड़प्पनमें कुछ धब्बा लग जायगा। इससे, वे बड़ेलोग छोटोंसे दूर ही रहते हैं। पर तुम ऐसा मत करो। मेरी लघुतासे भयभीत न होओ। अब तो, चाहे कुछ भी हो, इस दीनको अभी, अंगीकार कर

ही लो। नाथ, मुझे अपनाते हुए कभी अपना वह कर-सरोज मुझ अनाथके सिरपर रखोगे ? हाँ, वही अनंत कृपामय कर-कमल—

सीतल सुखद छाहँ जेहि करकी मेटति पाप ताप माया।
निसि-बासर तेहि कर-सरोजकी चाहत तुलसिदास छाया॥

चाहनेसे क्या होगा ! उस कर-सरोजकी छाया प्रेमलक्षणा पराभक्तिसे ही प्राप्त हो सकेगी। सो, वह बड़ी कठिन है; केवल कृपा-साध्य है—

कहत सुगम, करनी अपार, जानै सोइ जेहि बनि आई।

× × × ×

कितनी बार कहलाना चाहते हो, कि 'मैं केवल तुम्हारा ही हूँ ?' क्या तुम्हें मेरे इस कथनमें कुछ सन्देह है ? जो मैं यह कहूँ, कि मैं तुम्हारा नहीं, किसी औरका हूँ, तो मेरी यह जीभ गल-गलकर गिर जाय। मैं किसीका बनना भी चाहूँ, तो मुझे अंगीकार करेगा ही कौन ? मुझे तुम-सा अकारण हितू अन्यत्र कहाँ मिलेगा ? और, मुझ निठल्लेसे किस भले आदमीका कोई काम पूरा हो सकेगा ? न तो मुझे कोई अपनी सेवामें रखेगा, और न मैं किसीके द्वारपर जाऊँगा। मैं तो तुम्हारा हूँ और तुम्हारा ही होकर रहूँगा—

खेलवेको खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो, राम, ह्वै रहिहौं।
एहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं, या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं॥

जो कहो, कि जा, तुझे हमने अपना लिया, तो यों मैं माननेवाला नहीं। अंगीकृतके लक्षण ही कुछ और होते हैं, स्वामिन्!

तुम अपनायो तब जानिहौं, जब मन फिरि परिहै।
जेहि सुभाउ विषयनि लग्यौ, तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छंल करिहै॥
सुतकी प्रीति, प्रतीति मीतकी, नृप ज्यों डर डरिहै।
अपनो सो स्वारथ स्वामी सों चहुँविध चातक ज्यों एक टेक तें नहिं टरिहै॥
हरपिहै न अति आदरे, निदरे न जरि-मरिहै।
हानि-लाभ दुख-सुख सबै समचित, हित-अनहित, कलि-कुचाल परिहरिहै॥
प्रभु-गुन सुनि मन हरपिहै, नीर नैननि ढरिहै।
तुलसिदास भयो रामको, बिस्वास प्रेम लखि आनँद उमँगि उर भरिहै॥

सो, इस दशाका तो अभी यहाँ शतांश भी प्राप्त नहीं हुआ। अभी मेरा मन विषयोंकी ओरसे कहाँ फिरा है। अभी तो मैं कामदास ही हूँ, रामदास नहीं। यह मन जिस सहजभावसे विषयोंमें आसक्त हो रहा है, उसी भावसे, छल-कपट छोड़कर, जब यह तुमसे प्रेम करने लगेगा, तब जानूँगा, कि मैं अब अंगीकृत होगया। जिसे तुमने अपना लिया, वह तुम्हें चातककी चाहसे चाहेगा। न वह सम्मान-लाभसे प्रसन्न ही होगा और न तिरस्कृत होनेपर डाहसे जल ही मरेगा। हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि समस्त द्वन्द्वों-को वह एक-सा समझेगा। अभी मेरा विषयी मन न तो तुम्हारा गुण-गान सुनकर प्रफुल्लित ही होता है और न इन अभागिनी आँखोंसे प्रेमाश्रु-धारा ही बहती है। फिर मैं कैसे मान लूँ, कि

तुमने अपने अंगीकृत जनोंकी सूचीमें तुलसीका भी नाम लिख लिया है। मुझे भूल-भुलैयामें न छोड़ो, मेरे हृदय-सर्वस्व! अशरण-शरण, मुझे अंगीकृत करके ही तुम अपने विरदकी लाज रख सकोगे। तुम्हें रिझाने लायक और कोई गुण तो मेरे पास है नहीं; हाँ, एक निर्लज्जता निस्सन्देह है, आज उसीपर रीझ जाओ। तुम्हारी रीझ अनोखी तो है ही—

> खीझिबे लायक करतब कोटि-कोटि कटु,
>
> रीझिबे लायक तुलसीकी निलजई।

सच मानो, नाथ, तुम्हारे त्याग देनेपर मैं कहींका न रहूँगा। मेरा भला तुम्हारे ही हाथ होगा। सो जैसे बने तैसे अंगीकार कर लो। अधिक क्या कहूँ, तुम तो सब जानते हो। तुमसे छिपा ही क्या है! जीवनकी अवधि अब बहुत दूर नहीं है—

> 'तुलसिदास' अपनाइये, कीजै न ढील, अब जीवन-अवधि अति नेरे।

अपनी यह 'विनय पत्रिका' तुम्हारे दरबारमें भेजता हूँ। इतनी अर्ज़ और है, कि—

> विनय-पत्रिका दीनकी, बाप! आपही बाँचो।

राज-दरबारोंमें अकसर धाँधली हो जाया करती है। तुम्हारे दरबारमें भी, संभव है, यह पत्रिका किसी ऐसे मन्त्री या पेशकारके हाथमें पड़ जाय, जो तुम्हारी पेशीमें इसे कुछ घटा-बढ़ाकर पढ़ दे। इसलिए इसे 'आप ही बाँचो।' पिताजी, कृपाकर स्वयं ही इस दीनकी पत्री पढ़ लेना।

हिये हेरि तुलसी लिखी,सो सुभाय सही करि, बहुरि पूछिअहि पाँचो।

अपने सरल स्वभावसे इसपर 'सही' करके तब फिर पंचोंसे पूछना। पंचोंसे या दरबारी मुसाहबोंसे बेखटके पूछ सकते हो, उनकी राय भी इसपर ले सकते हो। मुझे कोई आपत्ति नहीं। पर, 'सही' उनसे बिना पूछे ही कर देना, भले ही यह बात क़ानूनके ख़िलाफ़ हो।

इस पदमें प्रयुक्त 'बाप' शब्द द्रष्टव्य है। गोसाईंजी पंचोंसे बिना पूछे ही'सही'लिखवा लेना चाहते हैं और स्वयं पढ़नेको भी कहते हैं। इसीलिए यहाँ, 'प्रभु महाराज देव' आदि ऐश्वर्य-सूचक संबोधनोंका प्रयोग नहीं किया गया है। 'बाप' के संबोधनसे आप घरू तौरपर बात कर रहे हैं। बापसे किसी तरहका कोई संकोच तो होता नहीं। 'सही' करा लेनेतक तो 'पिता-पुत्र' का सम्बन्ध है, और इसके आगे 'राजा-प्रजा' अथवा 'स्वामी-सेवक' का भाव आजाता है। अर्ज़ी पेश करनेका कैसा बढ़िया ढंग है! क्या अब भी राजाधिराज श्रीरामचन्द्र विनयी तुलसीकी विनय-पत्रिकापर 'सही' न करेंगे?

सेव्य-सेवक-भाव ही, गोसाईंजीके मतसे, प्रेमका सर्वोत्कृष्ट रूप है। बिना इस भाव-साधनाके भव-सागरसे तर जाना कठिन ही नहीं, असंभव है—

सेवक-सेव्य-भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम-पद-पंकज, अस सिद्धान्त बिचारि॥

उस जगन्नियन्ता स्वामीका सेवक होजाना ही जीवका परम पुरुषार्थ है। पर लाखमें किसी एकको मिलती है उस मालिककी ग़ुलामी। हम दुनियाँके कमीने ग़ुलामोंको कहाँ नसीब है वह ऊँची ग़ुलामी! ज़रा, देखो तो, अपना कैसा सुन्दर परिचय दिया है इस राम-ग़ुलामने। कहता है—

मेरे जाति-पाँति, न चहौं काहूकी जाति-पाँति,
मेरे कोऊ कामको, न हौं काहूके कामको।
लोक-परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसीके एक नामको॥
अति ही अयाने उपखानो नहिं बूझैं लोग,
'साह ही को गोत, गोत होत है गुलामको।'
साधु कै असाधु, कै भलो कै पोच, सोच कहा,
का काहूके द्वार परौं, जो हौं सो हौं रामको॥

कैसी आज़ादीकी ग़ुलामी है यह राम-ग़ुलामी! स्वामी और सेवकमें यहाँ अन्तर ही क्या है? दोनोंका एक ही कुल है, एक ही गोत्र है। क्या अच्छा कहा है—

साह ही को गोत, गोत होत है ग़ुलामको।

ऐसा कौन स्वातंत्र्य-प्रिय होगा, जो यह दासत्व स्वीकार न करेगा। किस अभागेके हृदयतलमें यह अभिलाषा न उठती होगी, कि—

जेहि-जेहि जोनि करम-बस भ्रमहीं। तहँ-तहँ ईसु देउ यह हमहीं॥
सेवक हम, स्वामी सिय-नाहू। होउ नात यह ओर निबाहू॥

सेव्य-सेवकभाव हँसी-खेल नहीं है। यह महाभाव योग-साधनसे भी अधिक अगम्य है। इस नातेका एकरस निभा लेजाना कितना कठिन है, कितना कष्टकर है। अतः यह दास्य-रति केवल हरि-कृपा-साध्य है।

× × × ×

गोसाईंजीकी दृष्टिमें अंगीकृत अनन्य दासकी कितनी ऊँची महिमा है, इसे नीचेके पद्यमें देखिए—

सो सुकृती, सुचिमंत, सुसंत, सुजान, सुसील, सिरोमनि स्वै।
सुर तीरथ तासु मनावत आवत, पावन होत हैं ता तन छ्वै॥
गुन-गेह सनेहको भाजन सो, सब ही सों उठाइ कहौं भुज द्वै।
सतिभाय सदा छल छाँड़ि सबै, तुलसी जो रहै रघुबीरको ह्वै॥

भक्तकी यह महती महिमा सुनकर कौन ऐसा अभागा होगा, जो श्रीरघुनाथजीका अंगीकृत दास होनेके लिए लालायित न होता होगा? दास्य-रतिका अनिर्वचनीय आनन्द लूटनेके अर्थ कौन मूढ़, गोसाईं तुलसीदासके स्वरमें अपना स्वर मिलाकर, भक्तिपूर्वक यह पुनीत प्रार्थना न करना चाहेगा?

मो सम दीन, न दीन-हित, तुम समान रघुबीर।
अस बिचारि, रघुबंस-मनि, हरहु बिषम भव-भीर॥
कामिहि नारि पियारि-जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि, रघुनाथ, निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि, राम॥

वात्सल्य

—⁂—

त्सल्य रसमें शान्त, दास्य और सख्य रसोंका भी मधुर आस्वादन प्रेमीको मिलता है। शान्तका गुण-गौरव, दास्यका सेवा-भाव और सख्यका असंकोच वात्सल्यस्नेहमें मिला रहता है। इसीसे यह महारस अमृतसे भी अधिक मधुर माना गया है। अवध-राज दशरथके वे सरयू-तीरपर चौगान खेलनेवाले चारों सुन्दर सुकुमार कुमार आज भी हमारे हृदय-पटलपर अंकित हो रहे हैं। कृष्ण-बलरामकी वह कालिन्दी-कछारोंपर ग्वालबालोंके साथ खेलनेवाली विश्व-विमोहिनी जोड़ी आज भी हमारी आँखोंमें समाई हुई है। परित्यक्ता शकुन्तलाका वह आश्रममें सिंह-शावकके साथ खेलता हुआ शिशु भरत आज भी हमें स्नेह-अधीर कर देता है।

धन्य है वह गोद, जो बालकोंके धूलि-धूसरित अंगोंसे मैली हुआ करती है! धन्य हैं वे श्रवण, जिनमें बालकोंकी तोतली बोलीकी सुधा-धारा बहा करती है! धन्य हैं वे नेत्र, जिनमें बच्चोंकी भोली-भाली बाल-छवि बसा करती है!

हाँसी बिन हेतु माहिं दीसति यतीसी कछू,
निकसी मनों है पाँति थोरी कलिकानकी ।
बोलन चहत बात निकसि जाति टूटी-सी,
लागति अनूठी मीठी बानी तुतलानकी ॥

गोदतें न प्यारि और भावै मन कोई ठौरि,
दौरि-दौरि बैठे छाँड़ि भूमि अँगनानिकी ।
धन्य धन्य वे हैं नर, मैले जे करत गात,
कनिया लगाय धूरि ऐसे सुवनानकी ॥

—लक्ष्मणसिंह

आज प्रथम बार बलरामके साथ बालकृष्ण गायें चराने जा रहे हैं। माता यशोदा बलदाऊके साथ नन्हे-से कृष्णको भेज तो रही हैं, पर हृदयमें फिर भी शङ्काएँ उठ रही हैं। दोनों भाई अभी बच्चे ही तो हैं। इसलिए आप गो-चारण-सम्बन्धी शिक्षा स्नेह-पूर्वक दोनोंको देने लगीं—

तनक-तनक बछरनको लैकैं तनक दूरि तुम जइयो ।
जो मैं दीनों, कान्ह ! कलेऊ बैठि जमुन-तट खइयो ॥

देखो, भैया बलराम, अपने छोटे भाईका, सयानेकी नाईं, खूब ध्यान रखना—

साथ लिये रहियो मेरेकों, तुम हौ तनक सयाने ।
न्यारो होन देहु नहिं कबहूँ, बन-बीथी नहिं जाने ॥
जानत नहीं कछू काहूकी, छलबल याहि न भावै ।
बारो भोरो तेरो भैया, भूलन कहूँ न पावै ॥

—बख्शी हंसराज

अस्तु, माताकी शिक्षा-दीक्षा ग्रहणकर सयाने दाऊ अपने बारे-भोरे भाईको गायें चराने वनको ले गये। साँझ होते ही यशोदा कृष्णके लिए अधीर हो उठी। आज अबतक वनसे लड़के नहीं लौटे! कब कृष्ण-बलराम आयें, और कब उन्हें छाती-से लगाकर अपनी आँखें ठंडी करूँ—

कबधौं तेल-फुलेल चुपरि-कैं, लाँबी चुटिया ओंछौं।
गो-रज लिपटि रही मुख ऊपर, आँचर आँगु अँगोछौं॥
बकत-खिजत भूखो 'मैया', कहि माँगत माखन-रोटी।
आवै धौं कब आज विपिन तें, लिये लकुटि कर छोटी॥

—बख्शी हंसराज

इस पद्यमें कविने मातृ-हृदयकी स्वाभाविक स्नेह-मयी कितनी ऊँची उत्कण्ठा व्यक्त की है! कृष्ण-बलरामको छातीसे लिपटा लेनेके लिए यशोदा कैसी अधीर हो रही है!

× × × ×

महाकवि देवने निम्नाङ्कित पद्यमें वात्सल्य रसकी कैसी दिव्य धारा बहाई है! नन्द-नन्दन गिरि-राजको उँगलीपर उठाये खड़े हैं। यशोदा अपने छोटे-से कन्हैया-का यह दुस्साहस देखकर घबरा रही है। कहाँ तो मेरे बच्चे की यह नन्हीसी बाँह और कहाँ यह गगन-चुम्बी गोवर्द्धन गिरि और तिसपर प्रलयंकर इन्द्रका कोप!

मेरे गिरिधारी गिरि धार्यौ धरि धीरजु,
अधीर जनि होहि अँगु लचकि लुरकि जाय;
लाड़िले कन्हैया, बलि गई बलि मैया,
बोलि ल्याऊँ बल भैया, आय उरपै उरकि जाय।
टेक रहि नेक ऊँगली हाथ न पिराय, देखि,
साथु सँगु रीते अँगुरीतें न थुरकि जाय;
पर्यौ ब्रज वैर वैरी वारिद-वाहन वारि,
वाहनके बोझ हरि-बाहँ न मुरकि जाय॥

बाहँके लचक या मुरक जानेमें सन्देह ही क्या है। पर यह कन्हैया किसीकी माने तब न? किया क्या जाय, बड़ा हठी है।

× × × ×

आज अक्रूरके साथ मथुरा जानेको राम और कृष्ण अधीर हो रहे हैं। अरे भाई, सभी तो वहाँ जा रहे हैं। फिर ये बच्चे हैं, इन्हें जानेका उमाह क्यों न हो? पर माता यशोदा कैसे जाने देंगी। अपने हृदय-दुलारे छोटे-से कान्हको वह कैसे अपनी आँखोंकी ओट करेंगी? उनका यह भी कहना है, कि मथुरा-जैसी विशाल नगरीमें मेरे ये छोटे-छोटे बालक जाकर करेंगे क्या! नागरिकता ये गँवार देहाती लड़के क्या जानें! इन्होंने तो अबतक गायें ही चराई हैं। यमुना और वृन्दावन ही इन्होंने देखा है। कहीं उस नगरीकी गलियोंमें ये भोले बच्चे भूल न जायँ। कुछ भी हो, मैं तो अपने कन्हैयाको वहाँ न भेजूँगी—

बारे बड़े उमड़े सब जैबे कों, हौं न तुम्हैं पठवौं, बलिहारी।
मेरे तौ जीवन 'देव' यही धन या ब्रज पाई मैं भीख तिहारी॥
जानै न रीति अथाइनकी, नित गाइनमें वन-भूमि निहारी।
याहि कोऊ पहिचानै कहा कछु जानै कहा मेरो कुंज-विहारी॥

पर, विलपती-कलपती मैयाको वह निठुर कन्हैया मूर्छित करके मथुरा चला ही गया। बड़ा जिद्दी है, मानता ही नहीं। कुछ दिनों बाद कृष्णको वहीं छोड़कर नन्द-बाबा अपने गाँवको लौट आये। माताको अपने प्यारे पूतको देखनेकी अबतक जो कुछ थोड़ी-बहुत आशा थी, सो उसका भी तार अब टूट गया। स्नेह-कातर हो बेचारी विलाप करने लगी। पतिदेव! बताओ, मेरे उस आँखोंके तारे प्यारे लालको तुम कहाँ छोड़ आये? अपने प्राण-प्रिय गोपालको छोड़कर तुम यहाँतक जीवित कैसे आये! कहाँ है वह—

प्रियपति, वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है?
दुख-जल-निधि डूबीका सहारा कहाँ है?
लख मुख जिसका मैं आजलौं जी सकी हूँ,
वह हृदय-दुलारा नैन-तारा कहाँ है?

पल-पल जिसके मैं पंथको देखती थी,
निशि-दिन जिसके ही ध्यानमें थी बिताती;
उरपर जिसके है सोहती मुक्तमाला।
वह नव-नलिनीसे नैनवाला कहाँ है?

सहकर कितने ही कष्ट औ सङ्कटोंका
यहु यजन कराके, पूजके निर्जरोंको,
यह भुवन मिला है जो मुझे यत्नद्वारा,
प्रियतम ! वह मेरा कृष्ण प्यारा कहाँ है ?

—हरिऔध

उस विश्व-विमोहन बालकृष्णका ध्यान पगली यशोदा कैसे भुला दे। वह बाल-छवि क्या भुला देनेकी वस्तु है। उस प्राण-प्यारे कान्हको कोई कैसे ध्यान-पथसे हटा सकेगा? मियाँ रसखानने कैसा साफ़ कहा है कि, भाई! खुशनसीब तो वही गिना जायगा, जिसने नन्द-नन्दनकी वह बचपनेकी भोली सूरत टुक निहार ली है। एक दिन धूलि-धूसरित बाल-गोविन्द अपने आँगनमें ठुमक-ठुमक खेल रहे थे। माखन-रोटी भी हाथमें लिये खाते फिरते थे। पैरोंमें पैजनियाँ रुनक-झुनक बज रही थीं। पीली कछोटी काछे हुए थे और झीनी झँगुलियाँ पहने थे। मौजमें खेल रहे थे। इतनेमें एक कौआ कहींसे उड़ता हुआ आया, और गोपालके हाथसे उनका माखन और रोटी छीनकर ले गया। आप, 'मैया! मेरी माखन-लोटी, ऊँ ऊँ ऊँ' करते हुए रोने लगे। उस कागके भाग्यकी सराहना कहाँतक की जाय! उस जूठी माखन-रोटीको छीन लेनेके लिए ऐसा कौन अभागा होगा, जो कौआ बननेको उत्कण्ठित और अधीर न होता होगा। अहा!

धूरिभरे अति सोभित स्यामजू, तैसी बनी सिर सुंदर चोटी ।
खेलत-खात फिरैं अँगना, पग पैजनी बाजतीं, पीरी कछोटी ॥
वा छवि कों 'रसखानि' विलोकत, वारत काम कलानिधि कोटी ।
कागके भाग कहा कहिए हरि हाथसों लै गयो माखन-रोटी ॥

भक्तवर भुशुण्डिने काक-योनिमें इसीलिए जन्म लेना स्वीकार किया था, कि दशरथ-कुमार राम जहाँ-जहाँ खेलते-खाते फिरेंगे तहाँ-तहाँ मैं भी उनके साथ-साथ उड़ता फिरूँगा और जो जूठन आँगनमें गिरेगी, उसे बड़े चावसे उठा-उठाकर खाऊँगा—

लरिकाई जहँ-जहँ फिरहिं, तहँ-तहँ संग उड़ाउँ ।
जूठन परइ अजिर महँ सोइ उठाइ करि खाउँ ॥

—तुलसी

अहोभाग्य ! अहोभाग्य !!

कागके भाग कहा कहिए, हरि-हाथसों लै गयो माखन-रोटी ।

× × × ×

आज कृष्ण-सखा उद्धव व्रज-वासियोंको उनके प्राण-प्रिय गोपालका प्रेम-सन्देश सुनाने व्रजमें आये हैं। वृद्ध नन्दबाबाकी दशा क्या कहें। दिन-रात बेचारे 'कन्हैया, कन्हैया!' की रट लगाये रहते हैं। नेत्रोंकी ज्योति रोते-रोते मन्द हो चली है। माता यशोदाकी अवस्था तो और भी शोचनीय है। आज उद्धवको देखकर उनके प्राण-पक्षी मानों फिर पिजँड़ेमें लौट आयें। आज मेरा बड़ा भाग्य जो, उस भाग्यवान्का दर्शन कर

रही हूँ, जिसकी आँखोंमें मेरे दुलारे गोपालकी छवि खचित हो रही है। स्नेह-कातरा यशोदा उद्धवके सिरपर हाथ फेरने लगी। उद्धव भी मैयाके पैरोंसे लिपटकर रोने लगे। प्रकृतिने उस समय एकबार फिर व्रज-भूमिपर वात्सल्य-रसकी पुनीत धारा बहा दी। कुशल-क्षेम पूछना भला वह भोली-भाली ग्वालिनी क्या जाने। बोली, भैया ऊधो!

मेरे प्यारे सकुशल सुखी और सानन्द तो हैं?
कोई चिन्ता मलिन उनको तो नहीं है बनाती,
ऊधो, छाती बदन पर है म्लानता भी नहीं तो?
हो जाती हैं हृदयतलमें तो नहीं वेदनाएँ?

संकोची है परम अति ही, धीर है लाल मेरा;
लज्जा होती अमित उसको माँगनेमें सदा थी;
जैसे लेके सरुचि सुतको अंकमें मैं खिलाती,
हा! वैसे ही नित खिला कौन वामा सकेगी!

जो पाती हूँ कुँवर-मुखके जोग मैं भोग प्यारा,
तो होती हैं हृदयतलमें वेदनाएँ बड़ी ही;
जो कोई भी सुफल सुतके योग्य मैं देखती हूँ,
हो जाती हूँ व्यथित अति ही, दग्ध होती महा हूँ।

प्यारा खाता रुचिर नवनीको बड़े चावसे था,
खाते-खाते पुलक पड़ता नाचता-कूदता था;

ये बातें हैं सरस नवनी देखते याद आतीं ,

हो जाता है मधुरतर औ स्निग्ध भी दुग्धकारी।

प्यारे ऊधो ! सुरत करता लाल मेरी कभी है ?

क्या होता है न अब उसको ध्यान बूढ़े पिताका ?

रो-रो होके विकल अपने वार जो हैं बिताते ,

हा वे सीधे सरल शिशु हैं क्या नहीं याद आते ?

ये, मर्म-स्पर्शी सरस पद्य आदरास्पद अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के करुण-रस-पूरित 'प्रिय-प्रवास' काव्यसे उद्धृत किये गये हैं। कविने किस प्रखर प्रतिभासे इन सुन्दर पद्योंमें वात्सल्यमयी करुणा-धारा बहाई है। इस धारामें निमज्जनकर किस सहृदयका हृदय भक्ति-भावसे उद्वेलित न हो जायगा।

× × × ×

माताका हृदय पिताके हृदयसे अधिक ममता-मय और वात्सल्य-पूर्ण होता है। उस ममतामें अगणित शंकाएँ भरी होती हैं। बच्चेको कहीं गये ज़रा-सी देर हो गई, कि सरला माताके मनमें अनेक शंकाएँ उठ खड़ी हुईं। कहीं गिर न पड़ा हो, किसीसे झगड़ा न हो गया हो, या, भगवान् न करे, कोई और अनिष्ट न हो गया हो। आज अकेला ही उस तालाबकी ओर गया है। तैरना तो उसे आता नहीं; कहीं डूब न गया हो। हे भगवन्! मेरा लाल सकुशल घर आजाय। ऐसी वात्सल्य-स्नेहमयी शंकाएँ माता-पिता

और गुरुजनोंके हृदयमें ही उठा करती हैं। जहाँ अधिक स्नेह होता है, वहाँ छोटीसे छोटी शंका भी भयावनी देख पड़ती है। महाकवि शेक्सपियरने लिखा है—

Where love is great, the littlest doubts are fears,
Where little fears grow great, great love is there.

यहाँ, एक प्रसंग याद आ गया है। महारानी कौशल्याने जबसे रामचन्द्र चित्रकूटसे चले गये तबसे उनका कोई कुशल-समाचार नहीं पाया। आप अपनी एक सखीसे चिन्तित हो कह रही हैं, कि न जाने आजकल मेरी आँखोंकी पुतली प्यारी सीता और हृदय-दुलारे राम और लक्ष्मण किस वनमें भूखे-प्यासे मारे-मारे फिरते होंगे! शायद ही समयपर उन्हें कन्दमूल या फल-फूल मिलते हों—

आली ! अब राम-लखन कित ह्वै हैं।
चित्रकूट तज्यौ तवतें न लही सुधि,
वधू-समेत कुशल सुत द्वै हैं॥
वारि बयार बिषम हिम आतप सहि,
बिनु बसन भूमितल स्वै हैं।
कन्दमूल फल फूल असन वन,
भोजन समय मिलत कैसे वै हैं॥
जिनहिं विलोकि सोचिहैं लता-द्रुम,
खग-मृग मुनि लोचन-जल च्वै हैं।
'तुलसीदास' तिनकी जननी हौं,
मो-सी निठुर चित औरहु कहु ह्वै हैं॥

यह है सन्तति-वियोगिनी माताका हृदय ! यह है वात्सल्य-रसका अद्भुत आकर्षण। यह पद गूढ़ स्नेह-भावका कैसा अच्छा द्योतक है । 'आली अब राम लखन कित ह्वै हैं ?' इन शब्दोंमें कैसा हृदयस्पर्शी करुण-संगीत भरा हुआ है ।

× × × ×

हम सब, वास्तवमें, उस देशके भूले-भटके पथिक हैं। पर मान कुछ और ही बैठे हैं। देखा जाय तो हम सभी किसी स्वर्गीय आँगनमें खेलनेवाले बालक हैं । हम अपने ही हाथों अपनी वात्सल्य-पात्रता खो बैठे हैं। दयाबाईकी इस साखीका आज हम अर्थ नहीं लगा सकते—

लाख चूक सुतसे परै, सो कछु तजि नहिं देह ।
पोषि चुचुकि लै गोदमें, दिन-दिन दूनों नेह ॥

जब हम खुद ही किसीके आज वात्सल्य-भाजन नहीं हैं, तब हमारा भी कोई स्नेह-पात्र क्यों होने चला ? इसीसे हम लोगोंका जीवन आज स्नेह-शून्य एवं शुष्क हो गया है। आनन्दका तो कहीं लेश भी नहीं है। जबतक हमारे हृदयमें वात्सल्य-प्रेमका संचार नहीं हुआ अथवा हम किसीके वात्सल्य-पात्र नहीं हो गये, तबतक स्वर्गका अमर राज्य हमें प्राप्त नहीं हो सकता। महात्मा ईसाकी तो यह दृढ़ धारणा थी, कि बालक ही उस परमपिताका एकमात्र उत्तराधिकारी है, बालक ही उस राज-राजेश्वरका एकमात्र युवराज है। भगवद्विभूति क्राइस्टका कथन है—

Verily I say unto you, except ye be converted and become as little Children, ye shall not enter into the kingdom of Heaven.

अर्थात्, मैं तुमसे सच कहता हूँ, कि जबतक तुमने अपने आपको छोटे-छोटे बच्चोंमें परिणत नहीं कर लिया, स्वयं तुम बालक नहीं हो गये, तबतक स्वर्गके राज्यमें प्रवेश न कर सकोगे।

एक प्रसंगपर फिर कहते हैं—

Suffer little children, and forbid them not to come unto me : for of such is the kingdom of Heaven.

बालकोंको मेरे पास आने दो, उन्हें मना न करो। क्योंकि स्वर्गका राज्य ऐसोंका ही है।

इसलिए, भाई! या तो हमें स्वयं ही परमपिता परमात्माकी प्रेममयी गोदमें बैठकर उसका अनन्त वात्सल्य-रस लूटनेको उद्यत हो जाना चाहिए, अथवा उसे ही अपना वात्सल्य-पात्र बना लेना चाहिए। प्रेमानन्द-प्राप्तिके यही दो राज-मार्ग हैं।

नीचे वात्सल्य-तरंगिणीकी दो धवल धाराएँ आप देखेंगे कहिए, अपने मलिन मनको आप किस धारामें पखारकर निर्मल करना चाहते हैं? पहली भावना-धारा यह है—

मैया, मेरी कबहिं बढ़ैगी चोटी!

किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी॥

और दूसरी भावना-धारा यह है—

चरु ए गोधन हरौ कंस सब, मोहिं बंदि लै मेलौ।
इतनो ही सुख कमलनैन मो अँखियन आगे खेलौ॥

कभी किसी जन्ममें अनुकूल अवसर मिला, तो यह अधम लेखक तो दूसरी ही भावना-धारामें अपना मलिन मन धोनेका प्रयत्न करेगा। अपना निर्णय आप स्वयं कर लें।

वात्सल्य और सूरदास
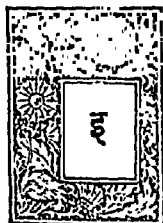
समें सन्देह ही क्या, कि 'तत्त्व-तत्त्व सूरा कही !' ग़ज़बकी थी उस अन्धेकी सूझ। शृङ्गार और वात्सल्य-रसकी जो विमल धाराएँ प्रेमावतार सूरने बहाईं, उनमें आज भी विश्व-भारती निमज्जन कर अपने सुख-सौभाग्यको सराहती है। वात्सल्य-वर्णन तो इनका इतना प्रगल्भ और काव्याङ्ग-पूर्ण है, कि अन्यान्य कवियोंकी सरस सूक्तियाँ सूरकी जूठी जान पड़ती हैं। सूर-जैसा वात्सल्य-स्नेहका भावुक चित्रकार न भूतो न भविष्यति—न हुआ है, न होगा। सूरने यदि वात्सल्यको अपनाया, तो वात्सल्यने भी सूरको अपना एकमात्र आश्रय-स्थान मान लिया। सूरका दूसरा नाम वात्सल्य है और वात्सल्यका दूसरा नाम सूर। सूर और वात्सल्यमें अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है।

अच्छा, आओ, अब उस बालगोपालकी सूर-वर्णित दो-चार बाल-लीलाएँ देखें। बलराम और कृष्ण माता यशोदाके आगे खेल रहे हैं। सहसा कृष्णकी दृष्टि बलदाऊकी चोटीपर गई। हैं! दाऊकी इतनी लम्बी चोटी और मेरी इतनी छोटी! दूध

पीते-पीते, अरी, कितने दिन हो गये, फिर भी यह उतनी ही छोटी है! मैया, तू तो कहा करती थी, कि दाऊकी चोटीकी तरह, कन्हैया! तेरी भी लम्बी और मोटी चोटी हो जायगी। पर वह कहाँ हुई, मेरी मैया! तू मुझे कच्चा दूध देती है, सो भी खिझा-खिझाकर। तू माखन-रोटी तो देती ही नहीं। अब तू ही बता, चोटी कैसे बढ़े? बाल-स्पर्धाका कैसा सुन्दर भाव है!

मैया, मेरी कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी॥
तू जो कहति बलकी बेनी ज्यों ह्वैहै लाँबी मोटी।
काढ़त गुहत न्हवावत ओछत, नागिनि-सी भुइँ लोटी॥
काचो दूध पियावति पचि-पचि, देति न माखन-रोटी।
सूरस्याम, चिरजीवौ दोउ भैया, हरि हलधरकी जोटी॥

यशोदाको तुरन्त एक सूझ उठ आई। बोली, 'भैया, ठीक तो कहती हूँ, दूध पीनेसे ही तो चोटी बढ़ेगी। पर कौन दूध? कजली गैयाका। सो तू उसका दूध कब पीता है। आजसे, कन्हैया, तू उसी गैयाका दूध पिया कर'—

कजरी कौ पय पियहु लाल, तब चोटी बाढ़ै।

ज़िद्दी लड़केका मन और कैसे बहलाया जाय। कन्हैया सचमुच बड़ा हठी है—

मेरो, माई! ऐसो हठी बाल गोविन्दा।
अपने कर गहि गगन बतावत खेलनकों माँगै चन्दा॥

बोलो, अब चन्दा कैसे मँगा दूँ उसे।

× × × ×

आज, लो, बलदाऊकी कुशल नहीं है। बालगोविन्दने उनपर मैयाके इजलास-ख़ासमें मान-हानिका दावा दायर कर दिया है। कन्हैया छोटा है, तो क्या हुआ। छोटा हो या बड़ा, लगनेवाली बात सबको लग जाती है। दाऊको ऐसा न कहना चाहिए। बड़े आये कहींके दाऊ। कहते हैं, कि कन्हैया, तू यशोदाका जाया हुआ पूत थोड़े ही है, तू तो मोलका लिया हुआ है! कभी माँका नाम पूछते हैं, तो कभी बापका! आप यह भी कहते हैं, कि गोरे मा-बापका लड़का भी गोरा ही होता है। तू तो काला-कलूटा है, कृष्ण! मैया, अब दाऊके साथ खेलनेको जी नहीं चाहता। उन्होंने लड़कोंको भी यही सिखा पढ़ा दिया है। वे भी सब चुटकी दे-देकर मेरी ओर हँसा करते हैं। यशोदासे बालकृष्णने ताना देकर कहा, अरी मैया! दाऊको तू क्यों मारेगी! मारना-पीटना तो मुझ गरीब-को ही तू जानती है। कुटना-पिटना मेरे ही भाग्यमें लिखा है। दाऊजी तो खिझाते ही हैं, ले तू भी मुझे खिझा ले—

मैया, मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।

मोसों कहतु मोल कौ लीनों, तोहिं जसुमति कब जायौ॥
कहा कहौं या रिस के मारे, खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहतु कौन तुव माता, कौन तिहारो तात॥

गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दै-दै हँसत, ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर॥
तू मोही कों मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन कौ मुख रिस-समेत लखि, जसुमति अति मन रीझै॥

बालकृष्णको न्यायाधीशने गोदमें बिठा लिया, और मुहँ चूमकर यह फैसला सुना दिया—

सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।
सूरस्याम, मोहि गो-धन की सौं, हौं माता तू पूत॥

यशोदा यह बात किसी और की शपथ खाकर कहतीं, तो कृष्णको शायद ही उनके कथनपर विश्वास आता। पर यह कसम गो-धनकी है। ग्वालिनीके लिये इस शपथसे बड़ी और कौन शपथ हो सकती है ? इन पंक्तियोंमें कविने कैसा स्वाभाविक वात्सल्य-स्नेह भर दिया है !

सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।
सूरस्याम, मोहि गो-धन की सौं, हौं माता तू पूत॥

पर वास्तवमें यह बात थी नहीं। बलभद्रको उदारहृदया यशोदा अपने सुतसे भी अधिक प्रेम करती थीं। बलरामने स्वयं गद्गद कंठसे एकबार यशोदा मैयाके वात्सल्य-स्नेहका इस भाँति परिचय दिया था—

एक दिवस हरि खेलत मोसों झगरो कीनों पेलि।
मोकों दौरि गोद करि लीनों, इनहिं दियो करि ठेलि॥

अपने दाऊको कृष्ण भी बहुत चाहते थे। शिकायत तो यों ही कभी-कभी कर दिया करते थे। अपने छोटे प्यारे भैयापर दाऊका भी तो असीम स्नेह था। गायें ख़ुद आप चराते और लाड़ले कृष्णको वनके फल तोड़-तोड़कर खिलाया करते। कृष्णपर बलरामका जो स्नेह था, उसे कृष्णका ही हृदय जानता था—

मैया री, मोहि दाऊ टेरत।

मोकों वन-फल तोरि देतु है, आपुन गैयन घेरत॥

× × × ×

किसीने क्या इस बातका भी कभी अनुसन्धान किया है, कि माताका हृदय विधाताने किन स्वर्गीय उपादानों और दिव्य वृत्तियोंको लेकर निर्मित किया है? स्नेहका वह कैसा विस्तीर्ण पयोनिधि है! कह नहीं सकते, कि उस दिव्य महासागरमें कितने अमूल्य भाव-रत्न पड़े हुए हैं। फिर यशोदा-सी माता और कृष्ण-सा पुत्र! इस वात्सल्य-वारिधिकी थाह कौन ला सकेगा?

यशोदाका हृदय स्वभावसे ही अत्यन्त स्निग्ध और कोमल है। प्यारा कन्हैया कबसे खेलने गया है। एँ! अबतक नहीं लौटा! साथमें आज उसका दाऊ भी नहीं है। गाँवके लड़के उस छोटे-से कान्हको दौड़ा-दौड़ाकर थका डालेंगे। उन ऊधमी लड़कोंके साथ वह भोला-भाला नन्हा-सा कृष्ण खेलना क्या जाने? कहीं गिर न पड़ा हो, किसीने मार-पीट न कर दी हो, या कोई

कहीं फुसलाकर न ले गया हो। बलराम भी नहीं देख पड़ता। किसे भेजूँ, क्या करूँ? न जाने, आज किसने मेरे लालको बहका लिया—

खेलनकों मेरो दूर गयौ।
संग-संग कहँ धावत हैहै, बहुत अबेर भयौ॥

ख़ैर, कहींसे खेलता-कूदता यशोदाका हृदय-दुलारा गोपाल आ गया। मातृ-स्नेहकी नदी उमड़ आई। दौड़कर लालको गोदमें उठा लिया। बार-बार मोहनका मुहँ चूमने लगी। भैया, आज कहाँ खेलने चले गये थे? तबके गये, मेरे लाल, अब आये! ये सब ग्वाल-बाल, न-जाने, तुम्हें कहाँ-कहाँ दौड़ाते फिरे होंगे। सुना है, कि आज बनमें एक 'हाऊ' आया है। तुम तो, भैया, नन्हे-से हो, कुछ जानते-समझते तो हो नहीं। लो, अपने इस सखासे ही पूछ लो, कि वह कैसा हाऊ है—

खेलन दूर जात कित कान्हा?
आजु सुन्यौ, बन हाऊ आयौ, तुम नहिं जानत नान्हा॥
यह लरिका अबहीं भजि आयौ, लेहु पूछि किन ताहि।
कान काटि वह लेतु सबनिके, लरिका जानत जाहि॥

मैं यों ही बक रही हूँ? कुछ सुनते हो नहीं! फिर वही ऊधम! क्यों, न मानोगे? अब रातको कहाँ चले? मेरा प्यारा बच्छा! साँझ हो गई है, अब अँधेरेमें दौड़ना अच्छा नहीं। देखो, मान जाओ, बच्चा! क्या खेलनेको फिर सबेरा न होगा—

साँझ भई, घर आवहु प्यारे !
दौरत कहाँ, चोट लगिहै कहुँ, फेरि खेलियो होत सकारे ॥

हलधर ! तुम्हारा भाई कैसा ढीठ होता जाता है । किसीकी सुनता तक नहीं । कितना ही रोको, मानता ही नहीं । अब तुम्हीं बुलाओ । तुम्हारे ही बुलानेसे आयगा । मैं भी देखूँ, तुम दोनों कैसे खेलते हो । मेरे राजा बेटा, आओ, दोनों भाई मेरी आँखोंके ही सामने कुछ देर यहीं खेलो । क्यों, आँखमिचौनी खेलोगे ? अच्छी बात है, वही खेलो—

बोलि लेहु हलधर, भैयाकों ।
मेरे आगे खेल करौ कछु, नैननि सुख दीजै मैयाकों ॥
हलधर कह्यो, आँख को मूँदै? हरि कह्यौ, जननि जसोदा ।
सूरस्याम, लै जननि खेलावति हर्पसहित मनमोदा ॥

× × × ×

सखी ! आज अपने यहाँ नन्द-नन्दन माखन-चोरी करने आये हैं । हम सबका आज अहोभाग्य ! देखो, कैसी चतुराईसे आप माखन ले-लेकर खा रहे हैं । श्रीदामाके कन्धेपर चढ़कर दहीकी मटकी भी आपने धीरेसे सींकेपरसे उतार ली है । श्यामसुन्दरकी यह छवि देखते ही बनती है, सखी ! धीरे-धीरे बात करो । कहीं गोपाललाल सुन न लें और पकड़ जानेके डरसे भाग जायँ । अरी ! ऐसे हृदयहारी चोरको कहीं घरसे भगाना होता है ? हे भगवन् ! नित्य ही यह प्यारा चोर हमारे घर माखन चुराने आया करे,

और इस नवनीत-प्रियकी यह अनुपम शोभा निहार-निहारकर हम अपनी आँखें सिराया करें—

गोपालहिं माखन खान दै ।
सुन री सखी कोऊ मति बोलै, बदन दही लपटान दै ॥

अरी, यह छवि बार-बार देखनेको तो मिलेगी नहीं। ओटमें हो, सखी, जी भरकर देख क्यों नहीं लेती, अहा !

गोपाल दुरे हैं माखन खात ।
देखि सखी, सोभा जु बनी है, स्याम मनोहर गात ॥
उठि अवलोकि, ओट ठाढ़ी ह्वै, क्यों न नयन-फल लेत ?
चकित चहूँ चितवतु लै माखन, औरसखनकों देत ॥

उस दिन खूब दही-माखन चुराया और खाया गया। फिर तो घर-घर यही लीला होने लगी। आज एक घरमें चोरी हुई, तो कल किसी दूसरेमें। अब तो यशोदारानीके पास नित्य-नये उलाहने भी पहुँचने लगे। पर उन्हें इन चोरियोंपर विश्वास न हुआ। पाँच-साढ़े पाँच वर्षका बालक कहीं चोरी कर सकता है ? यह सब बनाई हुई बातें हैं। कृष्णकी माखन-चोरीपर, लो, कैसे विश्वास किया जाय।

मेरो गोपाल तनिकसो,
कहा करि जानै दधिकी चोरी ।
हाथ नचावति आवति ग्वालिनि, जो यह करै सो थोरी ॥
कब सींके चढ़ि माखन खायो, कब दधि मटुकी फोरी ।
अँगुरिन करि कबहूँ नहिं चाखतु, घर ही भरी कमोरी ॥

ठीक है नन्द-रानी! ऐसा ही कहोगी! पर यह तो तुम जानती हो, कि जिसे चोरीकी चाट लग जाती है उसे फिर घरके हीरे-मोती भी नहीं भाते? तुम्हारा यह पाँच वर्षका तनिक-सा गोपाल बड़ा नटखट है। हमें तो तुमसे न्यायकी आशा थी। क्या यही तुम्हारा न्याय है? तुम सरासर अपने लालका पक्ष ले रही हो। यही बात रही, तो फिर हम सब तुम्हारा गाँव छोड़कर किसी दूसरे गाँवमें जा बसेंगी। क्या तुम्हारी ही छत्र-छायामें सारा सुख है?

यशोदासे अब तो सहन न हो सका। क्रोध आ ही गया। हाथ पकड़कर कृष्णसे पूछने लगीं—इस ग्वालिनीका दही-माखन क्या तूने चुराकर खाया है? अरे, अपने घरमें क्या कुछ कमी थी, रे? सच-सच बोल, नहीं तो मारे थप्पड़ोंके तेरे गाल लाल कर दूँगी। उलाहने कहाँ तक सुनूँ। एक-न-एक गूजरी नित्य उलाहना लिये आँगनमें खड़ी रहती है।

इसपर, अब, पाँच वर्षके बालकका जवाब सुनिए—

मैया मेरी, मैं नाहीं दधि खायौ।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि, मेरे मुख लपटायौ॥
देखि तुहीं, सींकेपर भाजन ऊँचे धर लटकायौ।
तुहीं निरखि, नान्हे कर अपने, मैं कैसे दधि पायौ॥

इसे कहते हैं चौर-चातुर्य!

मुख दधि पोंछि कहत नँद-नन्दन, दौना पीठि दुरायौ।

तोतली वाणीमें दिया हुआ यह विदग्धता-पूर्ण उत्तर काम कर गया। यशोदाका क्रोधसे भरा हृदय करुणार्द्र हो गया। उलाहना लानेवाली गोपियोंकी भी आँखें स्नेहसे डबडबा आईं। इतनेमें गोपालने ताली देकर हँस दिया। बस, फिर क्या—

डारि साँटि मुसुकाय तबै गहि सुतकों कण्ठ लगायौ ॥

अहोभाग्य! अहोभाग्य!! धन्य व्रज-वासियो!

बाल-विनोद मोद मन मोह्यौ, भक्ति-प्रताप देखायौ।
'सूरदास' प्रभु जसुमतिके सुख सिव बिरंचि बौरायौ ॥

× × × ×

एक दिन उस माखन-चोरपर बुरी बीती। ऊधमकी भी कोई हद होती है। लो, आज उस हठीले गोपालने सारा दही लुढ़का दिया, मथानीकी रस्सी तोड़ दी, छाछका मटका फोड़ डाला और माखन भी सब जूठा कर दिया! यशोदा बेचारी कहाँतक गम खाय। इतनी सब शैतानी करके आप मैयाको चिराते हुए लंबे भी हो गये। भागे तो बहुत, पर किसी तरह पकड़में आ गये। फिर क्या, बड़ी मार पड़ी। और ऊखलसे बाँध भी दिये गये। थप्पड़ोंसे गाल लाल हो गये, और कान भी उमेठे गये। बहुत रोये, बहुत चिल्लाये, पर माताको नेक भी दया न आई। जो नित्य उलाहना देने आती थीं, वे ही गोपियाँ आज यशोदासे कह रही हैं—

यशोदा, तेरो भलो हियो है माई !
कमलनयन माखनके कारन बाँधे ऊखल लाई ॥
जो संपदा देव-मुनि-दुर्लभ सपनेहुँ दे न देखाई ।
याही तें तूँ गरब-गुजानी घर बैठे निधि पाई ॥
सुत काहूको रोवत देखति दौरि लेति हिय लाई ।
अब अपने घरके लरिका पै इती कहा जड़ताई ॥

इतनेमें कहींसे माखन-चोरके दाऊ आ पहुँचे। उन्हें देख गोपाल और भी हिलक-हिलककर रोने लगे। हलधरने स्नेहसे भैयाको गलेसे तो लगा लिया, पर माताके डरसे बंधन न खोल सके। बलरामका गला भर आया, आँखें डबडबा आईं, बोले—

मैं बरज्यो कै बार कन्हैया,
भली करी, दोउ हाथ बँधाये ।

माताके चरणोंपर गिरकर बलराम हा-हा करने लगे—

स्यामहिं छोदि, मोहिं बरु बाँधै ।

मैया, मेरे भैयाको छोड़ दे। बदलेमें तू मुझे बाँध ले। मेरे छोटे-से कन्हैयाने तेरा कितना दूध-दही फैला दिया है, जो तू उसे इतनी डाँट-दपट बता रही है ? आज तेरा हृदय, री मैया, कैसा हो गया ! इस हृदय-दुलारे प्यारे गोपालको बाँधकर आज तूने यह किया क्या है ? अरी, तुझे माखन तो प्यारा हुआ और यह व्रजभरके प्राणोंका प्यारा, प्यारा न हुआ ? आज तू पगली तो नहीं हो गई है, मैया ? छोड़ दे मेरे प्यारे गोपालको, मैया !

बलरामका भी कितना ऊँचा वात्सल्य-प्रेम है! लोग तो यह कहते हैं, कि उस दिन यमलार्जुन, जिनसे श्रीकृष्ण बाँधे गये थे, शाप-मुक्त होकर आप ही गिर पड़े थे, पर मेरी समझमें तो यह आता है, कि बलरामके प्रबलतम स्नेहने ही उन वृक्षोंको गिराकर कृष्णको बन्धन-विमुक्त किया था। वात्सल्य-प्रेम जो न करे सो थोड़ा।

आज अक्रूर, वस्तुतः क्रूर, के साथ राम और कृष्ण मथुराको प्रयाण कर रहे हैं। जिसने कभी हरि-हलधरकी जोड़ी आँखोंकी ओट नहीं की, वह यशोदा आज उन्हें मथुराकी ओर जाते हुए देखेगी! माताकी छाती फट रही है, आँखोंके आगे अँधेरा-सा छा रहा है, गला भर-भर आता है। इस व्रजमें आज कोई ऐसा हितू है, जो मेरे बच्चोंको, मेरे हियेके हीरोंको मथुरा जानेसे रोक रखे?

> बरु ए गो-धन हरौ कंस सब, मोहिं बंदि लै मेलौ।
> इतनो ही सुख कमलनैन मो अँखियन आगे खेलौ॥
> बासर बदन बिलोकति जीवौं, निसि निज अंकम लाऊँ।
> तेहि बिछुरत जो जियौं कर्मबस, तौ हँसि काहि बुलाऊँ॥

पर वहाँ ऐसा कोई भी हितू न निकला। राम-कृष्णने जानेकी तैयारी कर दी। मातासे विदा लेने आये। वात्सल्य-नदीका बाँध टूट गया। दोनों प्यारे बच्चोंको यशोदाने छातीसे लिपटा लिया। बेचारी यह क्या जाने, कि विदा करते समय क्या कहना

होता है। माताकी ममता कैसी होती है, इसका पता चंचल कृष्णको आज ही चला। किसी तरह धीरज बाँधकर यशोदा, रोती हुई, बोली—

मोहन, मेरी इतनी चित धरिये।
जननी दुखित जानिकैं कबहूँ, मथुरा-गमन न करिये॥
यह अक्रूर क्रूर कृत रचिकैं तुमहिं लेन है आयौ।
तिरछे भये कर्मकृत मेरे, विधि यह ठाट बनायौ॥
बार-बार 'मैया' कहि मोसों माखन माँगत जौन।
'सूर' ताहि लैबेकों आयौ, करिहै सूनो भौन॥

पर निठुर राम और कृष्ण अपनी मैयाको वेसुध और भवनको सूना करके मथुराको प्रयाण कर ही गये।

गये तो थे चार दिनकी कहकर, पर हो गये कई महीने! सुध भी न ली। कहाँके बाबा, और कहाँकी मैया! कहाँ कौन कैसे है, कुछ याद भी न होगा। अब अपने सगे माता-पितासे भेंट हो गई है न! मैं तो उस निर्मोही गोपालकी एक धाय थी। उसने तो मुझे भुला दिया, पर मैं उस अपने लालको कैसे भूलूँ? यह पथिक उधर ही तो जा रहा है। इसके द्वारा क्यों न महारानी देवकीकी सेवामें कुछ सँदेसा भेज दूँ। शायद उन्हें कुछ दया आ जाय, हृदय पसीज उठे और मेरे दुलारे कृष्णको दस-पाँच दिनके लिए यहाँ भेज दें—

सँदेसो देवकीसों कहियो।
हौं तौ धाय तिहारे सुतकी, मया करत नित रहियो॥

तुम तौ टेव जानति ही ह्वैहौ, तऊ मोहि कहि आवै।
प्रातहि उठत तुम्हारे लालहिं माखनरोटी भावै॥
तेल उबटनो अरु तातो जल देखे ही भजि जाते।
जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती, क्रम-क्रम करि-करि न्हाते॥
'सूर' पथिक! सुनि मोहि रैनि-दिन बढ़ो रहतु जिय सोच।
मेरो अलक लड़ैतो लालन ह्वैहै करत सँकोच॥

मैं तो तुम्हारे पुत्रकी एक तुच्छ धाय हूँ। इस नातेसे मुझपर, आशा है, तुम दया-भाव ही रखोगी। है तो ढिठाई, पर, विश्वास है, तुम क्षमा कर दोगी। कृष्ण तुम्हारा जाया हुआ लड़का है। इससे उसका स्वभाव तो तुम जानती ही हो, तुमसे छिपा ही क्या है। पर उस गोपालका लड़कपन मेरी गोदमें बीता है। इससे मैं भी कुछ-कुछ उसकी प्रकृति पहचानती हूँ। मेरे—क्षमा करना मुझे 'मेरे' इस शब्द पर—मेरे लालको माखन-रोटी बहुत भाती है। सवेरे उठते ही वह मुझसे मचल-मचलकर :माखन-रोटी माँगाः करता था। वहाँ वह संकोच करता होगा। इसलिए बिना माँगे ही मेरे कन्हैयाको तुम माखन-रोटी दे दिया करो। एक बात और है। उबटन, गरम जल और तेल-फुलेल देखते ही वह भाग जाता है। मैं तो उसे जो-जो वह माँगता, वही-वही देकर बड़े लाड़-प्यारसे पुचकार-पुचकारकर नहला दिया करती थी। सबसे बड़ी चिन्ता तो उसकी मुझे दिन-रात यह रहती है, कि वह

तुम्हारे यहाँ बात-बातमें संकोच करता होगा। मेरा गोपाल सचमुच बड़ा संकोची है।

पथिक! इतना और तुम महारानी देवकीसे जाकर कह देना, कि—

तुम रानी बसुदेव-गिरहिनी, हम अहीर ब्रज-वासी।
पठै देहु मेरो लाल लड़ैतो, वारौं ऐसी हाँसी॥

और, कृपाकर मेरे कन्हैयाके पास मेरी आसीस पहुँचा देना। वह राज-दरबारमें बैठा हो, और शायद तुम्हें तुरन्त न मिल सके, इससे कभी अवसर पाकर इतना तो उसे सुना ही देना—

कहियो स्याम सों समुझाय।
वह नातो नहिं मानत मोहन, मनों तुम्हारी धाय॥
एक बार माखनके काजैं राख्यौ मैं अटकाय।
वाकौ बिलगु मानु मति मोहन, लागति मोहि बलाय॥
वारहि बार यहै लव लागी, कब लैहौं उर लाय।
'सूरदास' यह जननी कौ जिय राखौ बदन दिखाय॥

कहाँतक धीरज बाँधे रहूँ। लोग कितना ही समझायँ, कुछ समझमें आता नहीं। इस हत्यारे माखनको देखकर छातीमें एक शूल-सा उठता है। इसी माखनके पीछे इन हाथोंने—जल न गये ये दुष्ट हाथ—मेरे मोहनको, मेरे दुलारे गोपाललालको ऊखलसे कसकर बाँध दिया था! हाय! उस दिनकी मेरे

लालकी वे आँसुओंसे भरी हुई लाल-लाल आँखें आज भी इस अभागिनीकी अंधी आँखोंमें कसक रही हैं। कह देना, पथिक, कि, भैया! भूल जाओ अब उस दिनकी बात, और अपनी उस धायको अब भी एकबार अपना मुख-चन्द्र दिखाकर माफ कर आओ। हाय! अब उसे कौन वहाँ बिना माँगे माखन-रोटी देता होगा। कौन मेरे प्यारे कृष्णको अब वहाँ हृदयसे लगा-लगाकर प्यार करता होगा। मुझ-जैसी माताके होते हुए भी आज उन बच्चोंको परदेशमें कितना अधिक कष्ट होता होगा। पथिक! तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, राम और कृष्णको इतना तो कृपाकर सुना देना—

कहियो पथिक जाय, घर आवहु रामकृष्ण दोउ भैया।
'सूरदास' कत होत दुखारी, जिनकी मो-सी मैया॥

× × × ×

उधरसे भी एक पथिक नंदगाँवकी ओर जा रहा था। सो राम-कृष्णने उसके द्वारा नन्दबाबा और यशोदामैयाको अपनी ओरसे यह कहला भेजा कि, घबरानेकी कोई बात नहीं, हम दोनों भाई अवश्य आकर आपके श्रीचरणोंका दर्शन करेंगे। सूरकी ही करुणामयी वाणीमें उस सँदेसेको सुनिए—

पथिक, सँदेसो कहियो जाय।
आवैंगे हम दोनों भैया, मैया जनि अकुलाय॥

याकौ विलगु बहुत हम मान्यो, जो कहि पठयो 'धाय'।
कहँलौं कीर्ति मानिये तुम्हरी, बड़ो कियौ पय प्याय॥
कहियो जाय नन्दबाबा सों, अरु गहि पकरौ पाय।
दोऊ दुखी होन नहिं पावैं, धूमरि धौरी गाय॥
जद्यपि मथुरा विभव बहुत है, तुम बिनु कछु न सुहाय।
'सूरदास' ब्रज-बासी लोगनि भेंटत हृदय जुड़ाय॥

कहना कि, मैया, माता भी कहीं 'धाय' कही जाती है? यह तुमने कैसी अनुचित बात कहला भेजी है। इसका हमें सचमुच बड़ा बुरा लगा है। जिसने अपना दूध पिला-पिलाकर मुझे इतना बड़ा कर दिया, उस माताकी महिमा मैं कैसे कह सकता हूँ? उस यशोदा मैयाकी पवित्र स्मृति मैं कैसे भुला सकता हूँ? सच्ची माता तो मेरी, मैया, तुम्हीं हो। अपनेको 'धाय' कहकर क्यों मुझे पाप-भागी बना रही हो? मुझ-जैसा अभागा आज कौन होगा, जिसने अपने बाबा और मैयाकी कुछ भी सेवा न कर पाई? हा!

जा दिनतें हम तुमतें बिछुरे, काहु न कह्यौ 'कन्हैया'।
कबहूँ प्रात न कियौ कलेवा, साँझ न पीन्ही धैया॥

× × × ×

आज उद्धव ब्रजसे लौटकर आये हैं। श्रीकृष्णके आगे आपने तबके नहीं, अबके ब्रजका सजीव चित्र खींचकर रख दिया। नन्द-नन्दन अपने बचपनका घर देखनेको अधीर हो उठे। उद्धवने भी बूढ़े बाबा और पगली मैयाको एकबार देख आनेका

आग्रह किया। नन्द और यशोदाकी दशा क्या कहूँ, यदुराज! कहना चाहूँ तो कह भी नहीं सकता—

नन्द-जसोदा मारग जोवत नित उठि साँझ सवारे।
चहुँ दिसि 'कान्ह-कान्ह' करि टेरत अँसुवन बहत पनारे॥

बाबा और मैयाकी यह दशा सुनते ही श्रीकृष्ण 'मैया, मैया' की रट लगाकर रोने लगे। द्वारकाधीश आज 'कन्हैया' बन जानेको व्याकुल हो उठे। माताकी वात्सल्य-रस-धारामें कलोल करनेकी उत्कण्ठा पल-पलपर बढ़ने लगी। उद्धवसे अधीर हो कहने लगे—

ऊधो, मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
बृन्दावन गोकुल तन आवत सघन तृननकी छाहीं॥
प्रात-समय माता जसुमति अरु नन्द देखि सुख पावत।
माखन-रोटी-दह्यो सजायौ अति हित साथ खवावत॥

मित्र उद्धव! यशोदा मैयाकी वह अनन्त स्नेहमयी गोद क्या मुझे अब कभी बैठनेको मिलेगी? कहाँ गये वे दिन, जब मैं मचल-मचलकर अपनी मैयासे माखन माँगा करता था। सखा, आज मेरा मन व्रजकी ओर उड़-सा रहा है। ऐं! मुझे क्या हो गया है, मित्र! सँभालो, मुझे सँभालो। बाबा, मुझे वहीं बुला लो। मैया, मुझे अपनी गोदमें बिठा ले। नेक-सा माखन और दे, मेरी मैया! हा!

जा दिनतें हम तुमतें बिछुरे, काहु न कह्यौ 'कन्हैया'।

× × × ×

आज सूर्य-ग्रहण है। पुण्य-क्षेत्र कुरुक्षेत्रपर इधरसे सब यादवों-समेत बलराम और श्रीकृष्ण और उधरसे गोप-गोपियों सहित नन्दबाबा आये हैं। कैसा मणि-कांचन योग अनायास प्राप्त हुआ है! नन्द-यशोदाके सुख-सिन्धुकी थाह आज कौन ला सकता है। धन्य यह दिवस!

उमँग्यौ नेह-समुद्र दसहुँ दिसि, परमिति कही न जाय।
'सूरदास' यह सुख सो जानै, जाके हृदय समाय॥

कृष्ण-बलरामने बाबा और मैयाका चरण-स्पर्श किया। पगली यशोदासे आसीस भी न देते बनी। स्नेहाधिक्यसे मूर्च्छित हो मैया गिर पड़ी। बलिहारी!

तेरी यह जीवन-मूरि, मिलहि किन माई?
महाराज जदुनाथ कहावत, तेरो तौ वहि कुँवर कन्हाई॥

मैयाके गलेसे लिपटकर कुँवर कन्हाई भी रोने लगे। मेरी मैया, तूने मुझे पहचाना नहीं क्या? अरी, मैं तेरा वही लाल हूँ। तू मुझे, मैया; व्रजसे माखन-मिश्री लाई है? लाई तो होगी, पर खिझा-खिझाकर देगी। मैया, तू तो बोलती भी नहीं—

अब हँसि भेंटहु, कहि मोहि निज सुत,
'बाल तिहारो हौं' नन्द-दोहाई।

उस समयका वह मिलन-दृश्य जिस किसीने देखा होगा, उसके भाग्यका क्या कहना—

रोम पुलकि, गदगद सब तेहि छिन,
जल-धारा नैननि बरसाई।

प्रेम-मूर्ति ब्रज-वासी आनन्द-विह्वल हो कहने लगे—

हम तौ इतने हीं सुख पायौ।
सुन्दर स्याम कमल-दल-लोचन बहुरि सुदरस देखायौ॥
कहा भयौ जो लोग कहत हैं, कान्ह द्वारका छायौ।
महाराज ह्वै मात-पितहिं मिलि तऊ न ब्रज बिसरायौ॥

× × × ×

एकबार फिर यह दोहराना पड़ेगा, कि वात्सल्य-स्नेहका सूर-जैसा भावुक और सच्चा चित्रकार न हुआ है, न होगा। सूरका वात्सल्य-वर्णन पढ़कर, मैं तो दावेके साथ कहता हूँ, कि अत्यन्त नीरसहृदयमें भी स्नेह और करुणरसकी हिलोरें आन्दोलित होने लगेंगी। धन्य, सूर, धन्य! वास्तवमें 'तत्त्व तत्त्व सूरा कही।' संगीताचार्य तानसेनकी इस उक्तिमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है—

किधौं सूर कौ सर लग्यौ, किधौं सूरकी पीर।
किधौं सूर कौ पद लग्यौ, तन-मन धुनत सरीर॥

वात्सल्य और तुलसीदास

सूरकी तरह तुलसीने भी वात्सल्य रसका अलौकिक आस्वादन किया और कराया है। सूरके बाद इस महारसके वर्णन करनेमें तुलसीका ही स्थान आता है। कहीं-कहीं तो ये दोनों महात्मा इस क्षेत्रमें समकक्ष प्रतीत होते हैं। जो हो, तुलसीका भी वात्सल्य-वर्णन बहुत उच्च, मनोमुग्धकारी तथा हृदय-हारी हुआ है।

निम्नलिखित सुमधुर पद्य पढ़ या सुनकर किस सहृदयके दृग-मधुप श्रीरामललाका रूप-मकरन्द पान करनेके लिए लालायित न हो जायँगे—

पग नूपुर औ पहुँची कर-कंजनि, मंजु बनी मनि-माल हिये।
नवनील कलेवर पीत झँगा झलकैं, पुलकैं नृप गोद लिये॥
अरबिन्द-सो आनन, रूप-मरन्द अनन्दित लोचन भृङ्ग पिये।
मनमें न बस्यो अस बालक जो 'तुलसी' जगमें फल कौन जिये॥

बर दन्तकी पंगति कुन्द-कली, अधराधर-पल्लव खोलनकी।
चपला चमकै घन बीच, जगै छवि मोतिन माल अमोलनकी॥
घुँघरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुण्डल लोल कपोलनकी।
निवछावरि प्रान करै 'तुलसी,' बलि जाउँ, लला! इन बोलनकी॥

भक्तोंके मनोमन्दिरमें बसनेवाले इसी बाल-रूपका ध्यान भागवत-भूपण काकभुशुण्डि अहोरात्र किया करते हैं। विहग-श्रेष्ठ गरुड़के आगे आपने अपने इष्टदेवकी महिमा एकबार इस प्रकार गाई थी—

इष्टदेव मम बालक रामा। सोभा बपुष कोटिसत कामा॥
पीत झीनि झिगुली तन सोही। किलकनि चितवनि भावति मोही॥
रूप-रासि नृप-अजिर-बिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिम्ब निहारी॥
लरिकाई जहँ-जहँ फिरहिँ, तहँ-तहँ संग उड़ाउँ।
जूठनि परइ अजिर महँ, सोइ उठाइकरि खाउँ॥

ऐसे शिशुकी जूठन उठा-उठाकर खानेको किसका मन न ललचायगा। ललचाया करे, पर मिलेगा तो वह भुशुण्डि-जैसे किसी विरले ही भाग्यवान्‌को।

महारानी कौशल्या अपने छोटे-छोटे चारों बच्चोंको दुलार-प्यार कर रही हैं। कहती हैं—कब मेरे लाल बड़े होंगे। कब मैं इन्हें बालकोंके अनुरूप आभूषण और वस्त्र पहनाकर इनका शृंगार करूँगी। कब, मेरे भैया! इस अँगनामें तुम सब ठुमक-ठुमककर दौड़ते फिरोगे? कब बोलने लगोगे, लाल! और मुझे तुतला-तुतलाकर 'माँ' कब कहोगे? वह सोनेकी घड़ी कब आयगी, जब मेरी ये अभिलाषाएँ पूरी होंगी—

ह्वैहौ, लाल, कबहिं बड़े, बलि मैया।
राम लखन भावते भरत रिपु-दवन चारु चारयौ भैया॥

बाल-विभूषन-बसन मनोहर अंगनि बिरचि बनैहौं।
सोभा निरखि निछावरि करि उर लाइ वारने जैहौं॥
छगन-मगन अँगना खेलिहौ मिलि, ठुमक-ठुमक कब धैहौ?
कलबल बचन तोतरे मंजुल कहि 'माँ' मोहि बुलैहौ॥

कौशल्याकी मनोरथ-बेलि फूलने-फलने लगी। चारों राज-कुमार सरयू-तीरपर खेलने-कूदने जाने लगे। कभी छोटी-छोटी धनुहियाँ लेकर लक्ष्य-वेध करते, कभी चौगान खेलते और कभी जल-क्रीड़ा किया करते। धन्य वह बाल-लीला!

बिहरत अवध-बीथिन्ह राम।
संग अनुज अनेक सिसु, नवनील नीरद स्याम॥
तरुन अरुन सरोज पद बनी कनकमय पद-त्रान।
पीतपट कटितून वर, कर ललित लघु धनु-बान॥
लोचननि को लहत फल छबि निरखि पुर-नर-नारि।
बसत 'तुलसीदास'-उर अवधेसके सुत चारि॥

ऐसे हृदय-हारी बालक यदि मनमें न बसे, तो—
नर ते खर-सूकर-स्वान-समान, कहौ, जगमें फल कौन जिये?

कैसे बालक? सुनिए, ऐसे—
पद-पंकज मंजु बनी पनहीं, धनुहीं कर-पंकज बान लिये।
लरिका सँग खेलत-डोलत हैं सरजू-तट चौहट हाट हिये॥
'तुलसी' अस बालक सों नहिं नेह कहा,जप जोग समाधि किये।
नर ते खर-सूकर-स्वान-समान, कहौ, जगमें फल कौन जिये॥

× × × ×

माताका ज़रा स्नेह-प्लावित हृदय तो देखिए। राम अब शिशु या बालक नहीं हैं। युवावस्थामें प्रवेश कर चुके हैं। किन्तु माताके ममत्वपूर्ण नेत्रोंमें तो वह अब भी वही बालक हैं। वह यद्यपि भूख-प्यास साध सकते हैं, तथापि माताके स्नेह-भाव-भरित सरल हृदयमें खेलते हुए रामको प्रातःकाल ही कुछ कलेवा कर लेना चाहिए—

तात, जाउ, बलि, वेगि नहाहू। जो मन भाव, मधुर कछु खाहू॥
पितु-समीप तब जायहु, भैया। भइ बड़ि बार जाइ बलि मैया॥

विधाताकी वामगति कौशल्याके वात्सल्यको सहन न कर सकी। जिन रामको आज यौवराज्य दिया जा रहा था, वह मातासे अब वन-गमनकी आज्ञा लेने आये हैं! क्यासे क्या हो गया!

लिखत सुधाकर गा लिखि राहू!

प्रिय पुत्रका यह विनीत वचन सुनकर, कि—

बरष चारि-दस विपिन बसि, करि पितु-बचन प्रमान।
आय पाय पुनि देखिहउँ, मन जनि करसि मलान॥

कौशल्याकी जो दशा हुई उसे गोसाईंजीके ही हृदयस्पर्शी शब्दोंमें सुनिए—

बचन विनीत मधुर रघुबरके। सर सम लगे, मातु-उर करके॥
सहमि सूखि सुनि सीतलबानी। जिमि जवास परे पावस-पानी॥
कहि न जाइ कछु हृदय-बिषादू। मनहुँ मृगी सुनि केहरि-नादू॥
नयन सजल, तन थरथर काँपी। माँजहिं खाइ मीन जनु माँपी॥

पुत्र-वियोगके असह्य अवसरपर सूरने यशोदा और तुलसी-ने कौशल्याके मनोगत भावोंको, प्रायः एक ही मर्मस्पर्शिनी वाणीद्वारा,प्रकट करनेका सफल प्रयास किया है। सुनिए—प्यारे राम! बिना तुम्हारे इस सूने घरमें, कहो, मैं कैसे रहूँगी? अब किसे तो बार-बार छातीसे लगाऊँगी और किसे गोदमें बिठा-कर 'लाल' कहूँगी। जिस आँगनमें, मेरे वत्स! तुमने अपने सखाओंके साथ बाल-क्रीड़ा की, उसे देखकर और तुम्हारी बाल-क्रीड़ाका स्मरणकर, तुम्हीं बताओ, ये पापी प्राण इस शरीरमें कैसे रहेंगे? जिन कानोंसे तुम्हारी मीठी-मीठी बातें सुनकर फूली न समाती थी, उन्हीं कानोंसे आज यह सुन रही हूँ कि, 'माता! मैं चौदह वर्षको वन-वास करने जा रहा हूँ।' मुझसे भी बड़ी क्या कोई और अभागिनी होगी? भैया, तुम्हारे मुख-कमलको बिना देखे जिस जीवनका एक क्षण एक युगके समान कटता है, अब उसीको मुझे तुम्हारे वियोगमें, हा! वर्षों रखना पड़ेगा! बलिहारी, मेरी इस प्रीतिपर!

राम, हौं कौन जतन घर रहिहौं?
बार-बार भरि अंक गोद लै 'ललन' कौन सों कहिहौं॥
इहि आँगन बिहरत, मेरे बारे! तुम जो संग सिसु लीन्हे।
कैसे प्रान रहत सुमिरत सुत बहु विनोद तुम कीन्हे॥
जिन्ह स्रवननि कल बचन तिहारे, सुनि-सुनि हौं अनुरागी।
तिन्ह स्रवननि बन-गवन सुनति हौं, मोतें कौन अभागी॥

जुग-सम निमिष जाहिं, रघुनंदन, बदन-कमल बिनु देखे।
जौ तनु रहै बरष बीते, बलि, कहा प्रीति इहि लेखे॥

कुछ भी हो, होनहार होकर ही रही। अर्थात्—

सजि बन-साज समाज सब ', बनिता बंधु समेत।
बन्दि विप्र-गुरु-चरन प्रभु , चले करि सबहिं अचेत॥

× × × ×

और, महाराज दशरथका वात्सल्य-स्नेह ! क्या कहना, वह तो संसारमें अनुपम है, अद्वितीय है। वास्तवमें—

जियन-मरन-फल दसरथ पावा।

जो प्राण-प्रिय राम किसी दिन अपने धूलि-धूसरित अंगोंसे दशरथकी गोद मैली करते थे, उन्हींका यह संदेश लेकर आज मंत्री सुमंत्र अयोध्याको लौटा है—

करवि पाय परि बिनय बहोरी। तात, करिय जनि चिंता मोरी॥
बन-मग मंगल कुसल हमारे। कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे॥

जिन कानोंसे महाराज दशरथने कभी अपने प्यारे रमैयाके मीठे तोतले वचन सुने थे, उन्हीं कानोंसे उन्हें आज यह सुनना पड़ रहा है, कि—

होत प्रात बट-छीर मँगावा। जटा-मुकुट निज सीस बनावा॥

सो, दशरथने प्रीतिकी परम मर्यादाकी रक्षा अपने प्राण-त्यागसे ही की। उन्हें यह अनुभव हो गया, कि यदि

पुत्रविरहकी अवधि तक इन पापी प्राणोंको रखता हूँ, तो अवश्यमेव जगतीतलसे प्रीतिका नाम उठ जायगा और पवित्र वात्सल्य कलंकित हो जायगा—

ऐसे सुतके विरह, अवधि लौं, जौ राखौं तन प्रान।
तौ मिटि जाय प्रीतिकी परमिति, अजस सुनौं निज कान॥

अतएव, मेरे पुनीत प्रेमकी प्रामाणिकता मेरे एक प्राण-त्यागसे ही सिद्ध होगी। आपने किया भी वही। छटपटाते हुए, करवट बदलकर, बोले—

सो तनु राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेम-पनु मोर निबाहा॥
हा रघुनंदन प्रान-पिरीते। तुम्ह बिनु जियत बहुत दिन बीते॥

बस जो होना था वह होकर रहा। धन्य!

जियन-मरन-फल दसरथ पावा।

कैसा फल? ऐसा, कि—

जियत राम-बिधु-बदन निहारा। राम-बिरह करि मरन सँवारा॥

तथैव—

जीवन-मरन सुनाम, जैसे दसरथरायको।
जियत खिलाये राम, राम-बिरह तनु परिहरेउ॥

सूरदास भी कह गये हैं—

प्रगट प्रीति दसरथ प्रतिपाली प्रीतमके बनबास।

धन्य, दशरथ! धन्य है तुम्हारे वात्सल्य-स्नेहको!

× × × ×

प्रिय पुत्रकी बाल-स्मृतिने आज कौशल्याको उन्मादिनी बना दिया है। एकके बाद एक स्मरण उनके हृदय-सागरमें तरंगकी भाँति उठ रहा है। कभी अपने प्यारे रमैयाकी छोटी-सी धनुहियाँ उठाकर छातीसे लगा लेती हैं, तो कभी अपने कुँवर-की प्यारी पनहियाँ आँखोंसे लगाती हैं! कभी बड़े सबेरे खाली पलंगके पास जाकर, पहलेकी तरह, प्यारसे कहती हैं—'भैया, उठो, तुम्हारी माता तुम्हारे मुख-चन्द्रपर न्योछावर हो रही है। देखो, कबसे तुम्हारे साथ खेलनेको तुम्हारे छोटे भाई और सखा द्वारपर खड़े हैं।' और, कभी आपही-आप यह कहने लगती है, कि—'भैया, खेलते-खेलते तुम्हें कितनी देर हो गई है! अब पिताके पास जाओ, और अपने छोटे भाइयोंको बुला-कर जो अच्छा लगे सो सब साथ बैठकर कलेवा कर लो।' कैसे हृदयद्रावक करुण स्मरण हैं!

जननी निरखति बान-धनुहियाँ।

बार-बार उर नैननि लावति प्रभुजूकी ललित पनहियाँ॥
कबहुँ प्रथम ज्यों जाइ जगावति, कहि प्रिय बचन सबारे।
'उठहु तात, बलि मातु बदनपर, अनुज-सखा सब द्वारे॥'
कबहुँ कहति यों, 'बड़ी बार भइ, जाहु भूप पहँ भैया!
बन्धु बोलि जेंइय जो भावै, गई निछावर मैया॥

एक दिन, चित्रकूटकी ओर जाता हुआ एक पथिक मिल गया। बड़े स्नेहसे उसे पास बुलाकर महारानी कौशल्या

कहने लगीं, कि मेरे प्यारे रामसे और नहीं तो इतना तो कह ही देना, कि—

राघव, एक बार फिरि आवौ।

ए बर बाजि बिलोकि आपने बहुरो बनहिं सिधावौ॥

यहाँ सूर और तुलसीका भाव-साम्य देखिए। सूरका एक पद है—

ऊधो, इतनी कहियो जाय।

अति कृसगात भई हैं तुम बिनु बहुत दुखारी गाय॥

जल-समूह बरसत अँखियनतें, हूँकति लीनें नावँ

जहाँ-जहाँ गो-दोहन कीनों, ढूँढ़ति सोइ-सोइ ठावँ॥

सूरने गायोंकी पर्यायोक्तिद्वारा वात्सल्य-रतिको प्रकट किया है, तो तुलसी भी वही स्वाभाविक स्नेह, घोड़ोंका स्मरण कराकर, व्यक्त कर रहे हैं। यहाँ भी वही बात है—

जे पय प्याइ पोखि कर-पंकज बार-बार चुचुकारे।

क्यों जीवहिं मेरे राम लाड़िले! ते अब निपट बिसारे॥

इन दोनों महाकवियोंके वर्णनोंमें, यहाँ, कैसा सुन्दर भाव-सादृश्य हुआ है! एक और भाव-साम्य देखिए। सूरकी दो मर्म-भेदिनी पंक्तियाँ हैं—

प्रात समय उठि माखन-रोटी को बिनु माँगे दैहै?

को मेरे बालक कुँवर कान्ह को छन-छन आगो लैहै?

अब, तुलसीकी करुणामयी पंक्तियोंका इनसे मिलान करें—

को अब प्रात कलेऊ माँगत रूठि चलैगो, माई।
स्यामतामरस नैन स्रवत जल काहि लेउँ उर लाई॥

× × × ×

कौशल्या आदि माताओंकी वात्सल्य-रतिका एक सुन्दर दृश्य और देखते चलें। आज वन-वासकी वह लंबी अवधि समाप्त हुई है। लंकेश्वर-विजेता राघवोत्तम राम, वीर-श्रेष्ठ लक्ष्मण और मिथिलेश-नन्दिनी सीताका अयोध्यामें शुभागमन हुआ है। स्नेहोत्कण्ठिता माताओंकी मिलन-अधीरताका गोसाईंजीने जो चारु चित्राङ्कण किया है, वह कैसा स्वाभाविक और अनुपमेय हुआ है—

कौसल्यादि मातु सब धाईं। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाईं॥
जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह, चरन बन परबस गईं।
दिन-अंत पुर-रुख स्रवत थन हुंकार करि धावत भईं॥

गाय अभी हालहीमें विआनी है। बछड़ेपर उसकी कितनी ममता है इसे कौन कह सकता है। बेचारी उसे एक क्षणको भी नहीं छोड़ना चाहती है, पर उसका मालिक उसे घरसे ज़बरदस्ती वनमें चरनेको हाँक देता है। परवश चली जाती है। पर मनको बछड़ेके ही पास छोड़ देती है। ज्यों ही साँझ हुई, कि गाँवकी ओर हूँकती हुई दौड़ी। थनोंसे दूध चू रहा है। प्यारे बछड़ेको चूमने-चाटनेको अधीर हो रही है। सामने काँटे हैं या कुवाँ है, वह कुछ नहीं देखती। उसकी आँखोंमें

तो उसका प्यारा वत्स ही समाया हुआ है। कैसा स्वाभाविक भाव-चित्रण है!

> दिन-अन्त पुर-रुख स्रवत थन हुङ्कार करि धावत भईं।

माताओंने सोनेके थालोंसे लालोंकी आरती उतारीं। कौशल्याकी विचित्र दशा थी। बार-बार रणधीर रामकी बलैयाँ लेती थीं। और, बार-बार सोचती थीं, कि—मेरे इन अति सुकुमार कुमारोंने ब्रह्माण्ड-विजयी रावण और उसके उद्भट पराक्रमी योद्धाओंको लंकाकी उस भीषण रण-स्थलीपर कैसे मारा होगा!

> हृदय बिचारति बारहिं बारा। कवन भाँति लंकापति मारा॥
> अति सुकुमार जुगल मेरे बारे। निसिचर सुभट महा बल भारे॥

लड़का कितना ही बड़ा, कितना ही बली और कितना ही पराक्रमी क्यों न हो जाय, पर माताकी वात्सल्यमयी दृष्टिमें तो वह वैसा ही छोटा-सा बालक बना रहेगा। उसके सुकुमार लालने कैसा वीर्य और पराक्रम लंकाके विकट रणाङ्गणपर दिखाया है इसका उसे विधाता भी विश्वास नहीं करा सकता। वात्सल्य-स्नेह अतुलनीय और अकथनीय है।

× × × ×

केवल राम-वात्सल्यका ही गोसाईंजीने चारु चित्रण नहीं किया, उन्होंने नन्द-नन्दन कृष्णचन्द्रकी भी बाल-लीलाका

सुधा-रस हमें पिलाया है। उनकी 'कृष्ण-गीतावली' के वात्सल्य-प्रेम-पूरित पदोंको पढ़कर किसे सूरकी विमल वाणीका मधुर रसास्वादन न मिल जाता होगा।

गोपियाँ नन्द-रानी यशोदाको बालकृष्णकी माखन-चोरीका उपालम्भ देने आई हैं। पर जब चोरी की ही नहीं, तब मैया मेरा क्या करेगी? कन्हैयाकी तनिक तोतली बातें तो सुनें—

मोकों झूठेहु दोष लगावैं।
मैया, इन्हैं बानि परगृह की, नाना जुगुति बनावैं॥

मैया, ये सब झूठा ही दोष लगा रही हैं। तू ही बता, भला, मैं माखन चुराऊँगा? इन सबको दूसरोंके घर जाकर उलाहना देनेकी कुछ आदत-सी पड़ गई है। अनेक युक्तियाँ बना-बनाकर, मैया! ये तेरे आगे मेरी चोरी सिद्ध कर रही हैं। मैं इनके मोहल्ले-में खेलनेतक तो जाता नहीं। फिर भी इनसे नहीं बचने पाता हूँ। स्वयं अपने हाथसे मटुकियाँ फोड़-फोड़कर और दूधमें हाथ बोर-बोरकर ये उलाहना देने आई हैं। आप ही तो अपने लड़कोंको रुला देती हैं और नाम मेरा लगाती हैं! किसी भी बहानेसे, मैया, इन्हें मेरे यहाँ आना चाहिए। करती तो आप हैं और मढ़ देती हैं मेरे मत्थे! इनसे बातोंमें भला कौन जीत सकता है? ये गोपियाँ एक बार ब्रह्माको भी अपनी वचन-चातुरीसे हरा देंगी। अच्छा, दाऊसे तू पूछ ले, कि मेरा कैसा स्वभाव है। अरी, मैं ऊधमी होता, तो भला, दाऊ मुझे अपने साथ

खिलाते ! जो लड़के किसीके साथ कोई अन्याय करते हैं, वे मुझे खुद अच्छे नहीं लगते। उनके साथ मैं भूलकर भी नहीं खेलता। सो, मैया ! ये सब बिल्कुल झूठ कहती हैं। मैंने कभी इनका माखन नहीं चुराया—

इनके लिए खेलिबो छाँड्यौ, तऊ न उबरन पावैं।
भाजन फोरि, बोरि कर गोरस देन उरहनो आवैं॥
कबहुँ बाल रोवाइ, पानि गहि, मिस करि उठि-उठि धावैं।
करैं आपु सिर धरैं आन के बचन बिरंचि हरावैं॥
मेरी टेव बूझि हलधरकौं, संतत संग खिलावैं।
जे अन्याय करैं काहू कौ, ते सिसु मोहि न भावैं॥
सुनि-सुनि बचन-चातुरी ग्वालिनि हँसि-हँसि बदन दुरावैं।
बाल-गोपाल-केलि-कलकीरति 'तुलसिदास' मुनि गावैं॥

सख्य

परमात्माके प्रति सखा-भावका भी प्रेम धन्य है। सख्य-रसमें शान्त और दास्य दोनों रसोंका समावेश हो जाता है। भक्तके अन्तस्तलमें भगवान्के असीम गौरव और उनकी अनन्त कृपाका जो भाव उदित होता है वह शान्त रसको प्रकट करता है और जो सेवाकी भावना उसके हृदयतलमें उद्वेलित होती है उससे दास्य-रस व्यक्त होता है। और, विश्वासका तो सख्यमें प्राधान्य है ही। सख्यका पर्याय हृदयैक्य है। सखा, सखासे कोई भेद छिपा नहीं रखता। एक दूसरेसे परदा नहीं रखता। जिसको तन-मन और सर्वस्व सौंप दिया, जिसे अपने हृदयमें बसा लिया, उससे फिर किस बातका परदा रखा जाय? कहा भी है—

> जेहि 'रहीम' तन मन दियौ, कियौ हिये बिच भौन।
> तासों सुख-दुख कहनकी रही बात अब कौन?

सहृदय सखासे अपने दोष और पाप कह देनेसे जी हलका हो जाता है। पर दिलकी सफ़ाई वहीं देनी चाहिए, जहाँ कोई दुविधा न हो। जबतक भेद-बुद्धि है, तबतक विश्वास कहाँ,

और जहाँ विश्वास नहीं, वहाँ सुख-शान्ति कहाँ? अतः सख्य-भावमें विश्वास या अभेदत्व ही मुख्य है। भगवान् भी अपने अभिन्न मित्रसे कोई भेद छिपा नहीं रखते। मित्रके आगे आप गूढ़से-भी-गूढ़ रहस्य खोलकर रख देते हैं। मित्रवर अर्जुनसे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

> स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
> भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

हे पार्थ! यह वही प्राचीनतम योग मैंने तुमसे कहा है; क्योंकि तुम मेरे भक्त और सखा हो। यही योग-शास्त्रका उत्तम रहस्य है। कैसा ही गोपनीय रहस्य हो, अभिन्नहृदय सखाको तो वह बताना ही पड़ेगा। भला, उससे कोई बात छिपी रह सकेगी?

× × × ×

मित्रतामें ढिठाई न हो तो वह मित्रता ही क्या? पर ढिठाई तो हम लोग आपसमें ही कर सकते हैं, परमप्रभु परमात्माके साथ ढिठाईका व्यवहार कैसे कर सकेंगे? क्यों न कर सकेंगे? जब उसे अपना एकमात्र मित्र मान लिया, जब उसके आगे अपना हृदय खोलकर रख दिया, तब संकोच या डर किस बातका रहा? भले ही दूसरोंके लिए वह अखिल ब्रह्माण्ड-नायक हो, हम प्रेमियोंकी दृष्टिमें तो वह हमारा एक सखा ही है। वह हज़रत तो हमारे साथ ख़ूब ढिठाई किया करें,

और हम उनके आगे सदा भीगी बिल्ली ही बने रहें? वाह! तो फिर ख़ूब दोस्ती हुई! वह हमें छकाते रहें और हम उन्हें न छकायँ—यह भी कोई बात है? उस दिन शूरवर सूरदासने अच्छा ललकारा था—

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै हमहीं, कै तुमहीं, माधव! अपुन भरोसे लरिहौं॥
हौं तो पतित सात पीढ़िन कौ, पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हैं बिरद बिनु करिहौं॥

सूरदासजी पहलेसे ज़रा चिढ़े हुए थे। एक दिन बेचारे उस अन्धेकी आँखोंमें धूल डालकर आप चंपत हो गये थे न! इसीको तो बहादुरी और मर्दानगी कहते हैं। सूरने ख़ूब सुनाई थी। उस दिन कहा था—

बाहँ छुड़ाये जात हौ, निबल जानिकैं मोहिं।
हिरदै तें जब जाहुगे, मर्द बदौंगो तोहिं॥

भक्तवर प्रेम-चक्षु बिल्वमंगलने भी इन वीर-शिरोमणि कृष्ण महाराजको ठीक ऐसी ही चुनौती दी थी। उस ग़रीबको भी आपने अपने स्वभाव-सिद्ध कौशलसे एक दिन धोखा दिया था। भक्त कहता है—

हस्तावुत्क्षिप्य निर्यासि, बलात् कृष्ण, किमद्भुतम्?
हृदयाद् यदि निर्यासि, पौरुषं गणयामि ते॥

हे कृष्ण! इसमें आश्चर्य ही क्या है, जो तुम बलपूर्वक

हाथ छुड़ाकर मुझसे परे चले गये। हाँ, यदि मेरे हृदयसे निकल जाओ, तो मैं तुम्हारी वीरता जानूँ। सुकवि देव भी समर्थन कर रहे हैं—

या तनतें बिछुरे तौ कहा, मनतें अनतें जु बसौ तब जानौं।

पर उनमें हृदयसे भाग जानेकी सामर्थ्य कहाँ है। प्रेमियोंके हृदय-भवनसे प्यारे कृष्णका निकल जाना कोई खेल नहीं है। दिल कोई मामूली क़ैदख़ाना तो है नहीं। प्रियतमको बाँध ले आनेके लिए तो प्रेमका एक कच्चा धागा ही काफ़ी होता है।

× × × ×

गोपाल कृष्ण एक दिन गोप-कुमारोंके साथ यमुनाके तटपर गेंद खेल रहे थे। खेलते-खेलते कृष्ण हार गये और श्रीदामा नामका एक बालसखा जीत गया। लो, हारते ही नन्द-नन्दनको रिस आ गई, और यमुनामें उसकी गेंद फेंककर उसे गालियाँ बकने लगे। कुछ भी हो जाय, मैं इसे हार तो न दूँगा। हैं! एक मामूली ग्वालेका लड़का मुझसे हार लेगा! पर श्रीदामा यों माननेवाला न था। पकड़ लिया कन्हैयाका फेंटा और बोला—भैया हो! अब भाग न पाओगे। लाओ मेरी गेंद। मैं तो अपनी वही गेंद लूँगा, और तुम्हें देनी पड़ेगी। क्या हुआ जो तुम एक जागीरदारके लड़के हो। तुम अपने घरके राजा हो, तो हम भी अपने घरके राजा हैं। तुम्हारी छायामें तो हम कुछ बसते नहीं। क्या इसीसे बड़ा अधिकार

जता रहे हो, कि तुम्हारे घरमें हमारे यहाँसे कुछ अधिक गायें हैं? बड़े बने फिरते हो कहींके राज-कुमार! ख़बरदार, जो यहाँसे विना गेंद और हार दिये आगे बढ़े। आँखें दिखाते हैं, वाह! हाँ, सच तो कहते हैं, खेलमें कौन किसका स्वामी और कौन किसका सेवक?

खेलतमें को काकौ गोसैयाँ?
तुम हारे हरि, हम जीते तौ बरबस ही कत करत रिसैयाँ ॥
जाति-पाँति कछु हमतें नाहिँ, न बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें, अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ ॥

श्रीदामा गहि फेंट कह्यौ, हम तुम इक जोटा।
कहा भयौ, जो नंद बड़े तुम तिनके ढोटा ॥
खेलतमें कहा छोट बड़, हमहु महरके पूत।
गेंद दिये ही पै बनै, छाँड़ि देहु मद धूत ॥

मुझे तुम कोई और सखा तो समझ न लेना, मैं श्रीदामा हूँ, श्रीदामा! समझे? मुझसे तुम पार न पाओगे। गेंद-की-गेंद फेंक दी और ऊपरसे आप गरम पड़ते हैं! बातों-बातों झगड़ा बहुत बढ़ गया। कृष्णने श्रीदामाको एकके बदले दो गेंदें तक देनी चाहीं, पर वह न माना। अपनी ही गेंद लेनेपर अड़ गया। आखिर यह हुआ, कि—

रिस करि लीनीं फेंट छुड़ाई।
सखा सबै देखत हैं ठाढ़े, आपुन चढ़े कदँबपर धाई ॥

तारी दै-दै हँसत सबै मिलि , स्याम गये तुम भाजि डराई।
रोवत चल्यौ श्रीदामा घरकों , जसुमति आगे कहिहौं जाई॥

यह बुरी बीती। मैयासे इस दुष्टने अब की शिकायत! श्रीदामा! भैया श्रीदामा! लौट आओ, मैं तुम्हारी वही गेंद उठाये लाता हूँ। मैयासे न कहो, श्रीदामा!

'सखा, सखा!' कहि स्याम पुकारयौ, गेंद आपुनी लेहु न आई।
'सूरस्याम' पीताम्बर काछे, कूदि परे दहमें भहराई॥

लो, श्रीदामा, अब तो हो गई तुम्हारे मनकी! कृष्णको कालीदहमें कुदाकर ही माने! अब क्यों घबराते हो? तुमने न कुछ गेंदके लिए अपने प्यारे गोपालको अथाह यमुनामें कुदा दिया। यह दुःखद समाचार फैलते ही हाहाकार मच गया। यशोदा और नन्द मूर्च्छित हो गिर पड़े। पर बलरामने धैर्य न छोड़ा। सबको आप खड़े-खड़े सान्त्वना देते रहे।

आश्चर्य! यह क्या! कालीदहसे इस महाविकराल सर्पको नाथे हुए यह कौन ऊपर आ रहा है? अरे, यह तो हमारे प्यारे कृष्ण हैं। सहस्रों कमल-पुष्प भी यह उसी सर्पके मस्तकपर लाद लाये हैं। श्रीदामा सखाकी गेंद भी ढूँढ़-ढाँढ़कर ला रहे हैं। धन्य यह नटवर वेश!

आवत उरग नाथे स्याम।
नन्द-जसुदा गोपि-गोपनि कहत हैं बलराम॥
मोर-मुकुट बिसाल लोचन, श्रवन कुंडल लोल।
पीतपट कटि, भेप नटवर, नृतत फनप्रति डोल॥

देव दिवि दुन्दुभि बजावत सुमन-गन बरसाय।
'सूरस्याम' विलोकि ब्रजजन मात-पितु सुख पाय॥

× × × ×

आज यहाँ दौड़ होगी। देखें, कौन आजकी 'रेस' में बाजी मारता है। बलराम, कृष्ण, सुबल और सुदामाने होड़ लगाई है। तीन तो काफ़ी मज़बूत हैं, पर बलरामकी रायमें एक कृष्ण ही कमज़ोर हैं। सो, अपने छोटे भाईसे दाऊ बोले-भैया, तुम बैठ जाओ, तुम कहीं गिर पड़े और चोट लग गई तो ठीक न होगा। लोग हमींको नाम धरेंगे। पर गोपालकृष्ण यों कब माननेवाले? यह कैसे हो सकता है, कि और तो सब दौड़ें और मैं यहीं बैठा देखता रहूँ? मुझे कमज़ोर कैसे मान लिया? दाऊ, मैं किसीसे कम बलवान् नहीं हूँ। मैं दौड़ूँगा और सुदामासे बाजी मारूँगा—

तब कह्यौ, मैं दौरि जानत, बहुत बल मो गात।
मोरी जोरी है सुदामा, हाथ मारे जात॥

ख़ैर, सुदामाके हाथपर हाथ मारकर आप दौड़ दौड़े। आगे हुए हरि और पीछे हुआ सुदामा। पकड़ लिया ललकारकर उस बहादुरने कृष्णको। कहो, और दौड़ोगे? बोले, वाह! मैं तो ख़ुद ही खड़ा हो गया। फिर भी तुम मुझे छूते हो! यह भी कोई छूना है? इसमें भी कोई वीरता है? भाईकी यह चतुराई-भरी बात सुनकर हलधरको भी हँसी आ गई—

बीचहिं बोलि उठे हलधर तब, इनके माय न बाप।
हारि-जीति कछु नैक न जानत, लरिकन लावत पाप॥

छोटे भाई साहब हैं! जो न करें सो थोड़ा। बेचारे बड़े सीधे हैं न! इतना भी तो नहीं जानते, कि क्या तो हार है और क्या जीत! इन्हें अपने माँ-बाप तकका तो पता है नहीं। अपनी इस सिधाईके ही कारण तो लड़कोंके मत्थे दोष मढ़ रहे हैं। बलिहारी, भैया, बलिहारी!

दाऊके ये व्यंग्य-भरे वचन गोपालके हृदयमें बाणके समान चुभ गये। रोते हुए वहाँसे आप चल दिये। सखाओंके बहुत लौटानेपर भी न लौटे। आकर मैयासे दाऊकी उलटी-सीधी शिकायत जड़ ही तो दी—

मैया, मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत, 'मोलको लीनों, तोहिं जसुमति कब जायो!'

सो, मैया, अब मैं घरहीमें बैठा रहा करूँगा। मुझे ग़रीब और अनाथ समझकर, मैया, सभी खिझाते हैं। वात्सल्य-स्नेह-मग्ना यशोदाकी आँखें आँसुओंसे भर आईं। अपने दुलारे कन्हैयाको छातीसे लगाकर बोलीं—मेरे प्यारे भैया!

सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत।
'सूरस्याम' मोहिं गो-धनकी सौं, हौं माता तू पूत॥

! लाल, जाओ खेलो। बलरामको मैं समझा दूँगी। तुम्हारे वे दाऊ हैं। तुम्हें यों ही चिढ़ाते होंगे। तुम्हें वे प्यार भी तो खूब करते हैं।

× × × ×

दो पहर बीत गये। अब तो भूखके मारे रहा नहीं जाता। यशोदा मैया आज कैसी निठुर हो गई है! अबतक छाक नहीं भेजी। दाऊ, मेरे तो गायें चराते-चराते पैर पिराने लगे हैं। चलो, हम सब इन कदम्बोंकी छायामें घड़ीभर बैठकर सुस्ता लें। अहा! कैसी घनी छाया है! क्या कहा, सुबल, कि छाक लेकर कोई आ रहा है? हाँ, आ तो रहा है। अरे भैया, चलो, पहले छाकपर हाथ दे लें, पीछे टेंटियोंको तोड़ें। लो, इन कमलके पत्तोंकी तो बना लें पत्तलें और ढाकके पत्तोंके दोने। तुम सबके बीचमें, श्रीदामा भैया, मैं बैठूँगा। ठीक है न?

'आई छाक,' बुलाये स्याम।
यह सुनि सखा सबै जुरि आये, सुबल सुदामा अरु श्रीदाम॥
कमल-पत्र, दोना पलासके, सब आगे धरि परसत जात।
ग्वाल-मंडली मध्य स्यामघन, सब मिलि भोजन रुचिकरि खात॥
ऐसी भूख माँझ यह भोजन, पठै दियो करि जसुमति मात।
'सूरस्याम' अपनो नहिं जेंवत, ग्वालन-कर तें लै-लै खात॥

कृष्ण, तू बड़ा जुठैला है। देखो, दाऊ, तुम्हारा भैया अपनी छाक तो खाता नहीं, मेरे मुहँसे छीन-छीनकर जूठी खा रहा है। और, यह देखो, अब मुहँ बनाता है—

ग्वालन करतें कौर छुँड़ावत।
जूठो लेत सबनके मुख कौ, अपने मुख लै नावत॥

षटरसके पकवान धरे सब, तिनमें नहिं रुचि पावत।
हा हा करि-करि माँगि लेत हैं, कहत, मोहिं अति भावत॥

सुबल भैया, नेक अपनी दही तो दे। तेरे दोनेका दही बड़ा मीठा है, सखा! हा हा! मधुमंगल, तनिक महेरी और दे। ले, तू मेरी माखन-रोटी ले ले और मुझे अपनी महेरी दे दे।

कैसा मनोरम दृश्य है। तनिक ध्यान तो करो—

बिभ्रद्वेणुं जठरपटयोः शृंगवेत्रे च कक्षे,
वामे पाणौ मसृण-कवलं तत्फलान्यंगुलीषु।
तिष्ठन्मध्ये स्वपरसुहृदो हासयन्नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग्बालकेलिः॥

कमरपर कसे हुए पीताम्बरमें बाँसुरी खोंसे, बाईं बगलमें सींग और दाहिनी बगलमें बेंत दबाये, बाएँ हाथमें माखन-भातका कौर और अंगुलियोंके बीचमें टेंटीके फलोंको लिये नन्दनन्दन कृष्णचन्द्र, यज्ञ-भागके भोक्ता होनेपर भी, बालसखाओंके बीचमें बैठे स्वयं हँसते और उन्हें हँसाते हुए भोजन कर रहे हैं। और, इस सहभोज-लीलाको स्वर्गलोकके देवगण विस्मयपूर्वक देख रहे हैं। धन्य व्रज-वासियो, धन्य!

व्रज-वासी-पटतर कोउ नाहिं।
ब्रह्म सनक सिव ध्यान न पावत, इनकी जूठनि लै-लै खाहिं॥
हलधर कह्यौ, छाक जेंवत सँग, मीठो लगत सराहत जाहिं
'सूरदास' प्रभु जो विश्वम्भर, सो ग्वालनके कौर अघाहिं॥

× × × ×

कौन कह सकता है, कि इस सुन्दर सख्य-रसमें कितना माधुर्य भरा हुआ है? इस रसको पीते ही भक्त ईश्वरकी ईश्वरताको भूलकर उसके साथ ढिठाईका व्यवहार करने लग जाता है। प्रभुको मित्र कहकर पुकारने लगता है। कविवर रवीन्द्रने क्या अच्छा कहा है—

Drunk with the joy of singing, I forget myself and call Thee friend, who art my Lord !

नाथ! तेरे संगीतका आनन्द-रस पीकर मैं अपने आपको भूल जाता हूँ, और तुझे, जो मेरा स्वामी है, 'मित्र' कहकर पुकारने लगता हूँ!

अपने अनन्य सखा कृष्णके विराट्रूपसे भय-भीत बेचारे अर्जुनने तो अपनी विगत धृष्टताओंके लिए उनसे क्षमा-याचना तक की थी—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण! हे यादव! हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥

आपको अपना केवल एक मित्र समझकर 'अरे कृष्ण! ओ यादव! हे सखा!' इत्यादि भूलसे या प्यारसे, आपकी इस महामहिमाको बिना जाने, जो कुछ कह डाला हो; अथवा यदि मैंने हँसने-हँसानेके लिए कभी खेलमें, शय्यापर, बैठनेमें या भोजन करनेमें, हे अच्युत! आपके प्रति कोई अशिष्टतापूर्ण व्यवहार अकेलेमें अथवा अपने मित्रोंके सामने किया हो, हे अप्रमेय! उसके लिए आप कृपाकर मुझे क्षमा प्रदान करें।

ख़ैर, अर्जुनने माफ़ी माँग तो ली, पर श्रीकृष्णके अतुल ऐश्वर्यमें उसका प्रेमी मन रमा नहीं। उनका अत्यन्त उग्ररूप देख और उनके प्रलयंकर मुखसे 'कालोऽस्मि' सुनकर बेचारा घबरा-सा गया। उसके हृदयकी वह सख्य-रसोत्पन्न शान्ति न जाने कहाँ चली गई। भयसे काँपता हुआ, अन्तमें, बोला—

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन,
सहस्रबाहो, भव विश्वमूर्ते!

हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ते! आप तो अब अपना वही सुचारु चतुर्भुज रूप फिर धारण कर लें। मेरा चंचल चित्त तो आपके उसी सुन्दर रूपमें रमता है। अर्जुनके मनकी बात पूरी हो गई। विश्वमूर्ति परमात्मा चतुर्भुज श्यामसुन्दर कृष्णमें परिणत हो गया। भयातुर सखाका तब कहीं जीमें जी आया।

ऐश्वर्य-गिरिसे उतरकर अर्जुन फिर माधुर्य-सरोवरमें अतृप्त अवगाहन करने लगा। बोला, वाह, यार, खूब छकाया! मित्र,

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन!
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥

हे जनार्दन, तुम्हारा यह सुन्दर सरल मानवरूप देखकर अब कहीं मैं होशमें आया हूँ। महिमामय, तुम्हारी वह भी एक लीला थी, और यह भी एक लीला है। पर मैं तो, लीलामय, तुम्हारे इस माधुर्य-पूरित सख्य-रसका ही चिर पिपासु हूँ। मुझे तो 'भैया कृष्ण' कहनेमें जो अलौकिक आनन्द मिलता है, वह 'विश्वमूर्त्ति' कहनेमें प्राप्त नहीं होता। कुछ समझे, मेरे प्यारे सारथी?

शान्त भाव
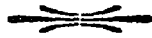
ना विवेकके शान्ति कहाँ और विना शान्तिके प्रेम कहाँ ! विरक्ति-रहित अनुरक्ति अपूर्ण है और अनुरक्ति-हीन विरक्ति निस्सार है। हम देहात्म-वादियोंका जीवन तबतक कैसे प्रेमपूर्ण और आनन्दमय हो सकता है, जबतक हमने यह नहीं जान लिया, कि क्या तो सत् है और क्या असत् ! साधारणतया हम लोगोंकी आसक्ति 'असत्'के ही साथ होती है। यही कारण है, कि हम प्रेमके नामपर मोहको ख़रीद बैठते हैं। सत्के प्रति हमारा अनुराग होता ही कब है ? हमारी विवेक-हीनता तो देखो—मोहमूलक आसक्तिको हमने प्रेम मान लिया है ! कहो, अब हमारे जर्जरीभूत हृदयमें शान्ति कहाँसे आय, उस मरुस्थलीपर प्रेम-धारा कैसे बहे। हमें अपनी मूढ़तापर कभी पश्चात्ताप भी नहीं होता ! नित्य ही सुनते हैं, कि—

> 'मैं मैं' बड़ी बलाय है, सको तो निकसो भागि।
> कह कबीर, कबलगि रहै, रुई-लपेटी आगि ॥

फिर भी अहंताकी अशान्तिमें सुख मान रहे हैं, खुदीकी आगमें कूद-कूदकर खेल रहे हैं! कैसे भूले हुए हैं हम इस अनन्त काम-काननमें! यद्यपि कोई हमारे कानमें यह कह रहा है, कि—

सुनहु, पथिक! भारी, कुंज लागी दवारी।
जहँ-तहँ मृग भागे, देखिए जात आगे॥
फिरत कित भुलाने, पाय ह्वैहैं पिराने।
सुगम सुपथ जाहू, बूझिए क्यों न काहू॥

—दीनदयाल गिरि

तो भी हम किसी जानकारसे उधर—उस प्रेम-नगरीकी ओर—जानेका मार्ग नहीं पूछते! कैसे प्रवीण पथिक हैं हम! अजी, मिल जायगा किसी दिन उधर जानेका कोई सीधा-सा रास्ता। ऐसी क्या जल्दी पड़ी है। अजर-अमर हैं न हम! हाँ, यह सुना जरूर है—

काल्ह करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब।
पलमें परलै होइगी, बहुरि करैगा कब्ब॥
झूठे सुखको सुख कहै, मानत है मन मोद।
जगत चबेना कालका, कुछ मुखमें, कुछ गोद॥

—कबीर

अहो! प्रकृतिका यह प्रलयंकर परिवर्तन!

आज गर्वोन्नत हर्म्य अपार,
रत्न-दीपावलि मंत्रोच्चार;

उलूकोंके कल भग्न विहार,
झिल्लियोंकी झनकार!
दिवस-निसिका यह विश्व विशाल,
मेघ मारुतका माया-जाल।

—सुमित्रानंदन पंत

ओह! क्यासे क्या हो गया है! हाय!
जिनके महलोंमें हज़ारों रंगके फ़ानूस थे,
झाड़ उनकी क़ब्रपर हैं औं निशां कुछ भी नहीं!

हम-जैसे समझदार इन चोटीली चेतावनियोंपर क्यों ध्यान देने चले! सुनो, फिर कोई चेता रहा है—

था कौन-सा नख़्ल जिसने देखी न ख़िज़ां;
वह कौन-से गुल खिले, जो मुरझा न गये?

—अनीस

और सुनो—

पानी महँ जस बुल्ला, तस यह जग उतराइ।
एकहि आवत देखिए, एक है जात बिलाइ॥

—जायसी

हाँ, यह तो प्रत्यक्ष सत्य है। तो अब क्या करें? ओह! पश्चात्तापकी यह भीषणाकृति मूर्ति!

आछे दिन पाछे गये, हरिसे किया न हेत।
अब पछताये होत क्या, चिड़ियाँ चुग गईं खेत॥

—कबीर

यह निराशा क्यों ? अब भी कुछ समय है। प्रेम-पुरी तक हम अब भी पहुँच सकते हैं। उस 'सत्'को, उस आत्म-प्यारेको हम अब भी खोज सकते हैं। पर हमें मरजीवा होना पड़ेगा। क्योंकि उसे खोज निकालना हँसी-खेल नहीं। प्रेमी जायसीने कहा है—

> कठु है पियकर खोज, जो पावा सो मरजिया ।
> तहँ नहिं हँसी न रोज, 'मुहमद' ऐसे ठावँ वह ॥

ऐसा है उस प्यारे मालिकका मुकाम। न वहाँ हँसी है, न रोना; न जीना है, न मरना। कौन जाने, उसकी वह नगरी कैसी है। वह ऐसी कुछ बहुत दूर भी नहीं है। इस दिलके अन्दर ही तो है। मौजमें मारो तो ज़रा एक गोता—

> 'सुन्दर' अन्दर पैठि करि, दिलमें गोता मार ।
> तो दिलहीमें पाइये साईं सिरजनहार ॥
> सखुन हमारा मानिये, मन खोजै कहुँ दूर ।
> साईं सीने बीच है 'सुन्दर' सदा हुज़ूर ॥

एँ ! यह बात है ! पढ़ा-सुना तो हमने कुछ और ही था। बड़े धोकेमें रहे ! इल्मसे कुछ भी हासिल न कर सके। यह ख़ूब रहा ! वाह !

> हम जानते थे, इल्मसे कुछ जानेंगे ;
> जाना तो यह जाना, कि न जाना कुछ भी ।
>
> —ज़ौक़

× × × ×

यह देखो, हमारा हृदय-हारी राम रोम-रोममें रम रहा है। क्या ख़ूब बहार है उसकी ललित लीलामें। आँखें बन्दकर तनिक देखो तो उस खिलाड़ीका नूर। अहा!

दूध माँझ जस घीव है, समुद माँझ जस मोति।
नैन मींचि जौ देखहु, चमकि उठै तस जोति॥

—जायसी

यह है वह ज्योति, यह है वह प्रकाश, जिसमें आत्म-स्वरूपका दर्शन होता है। इसी प्रेम-दीपकके उँजेलेमें ब्रह्म-जीवके बीचमें पड़ी हुई जुगोंकी गाँठ खोली जा सकती है। क्या ही दिव्य प्रकाश है हमारे हृदय-रमण रामके प्रेमका! इस प्रेम-ज्योति-पर क्या न्योछावर कर दें! बोलो, इस प्यारे रामके चरणोंपर क्या भेंट चढ़ा दें! अरे, चढ़ानेको बचा ही क्या है। यहाँ तो अपने आपका भी पता नहीं है। ख़ूब खोजा और ख़ूब पाया! हाँ, और क्या कहें अब—

बहुत ढूँढ़ा उसे फिर भी न पाया,
अगर पाया, पता अपना न पाया।

—मीर

अकसर हम मौजमें कहा करते थे, कि—

है इश्क़ वह शोला कि फुका जाता है तन मन,
इस आगको भड़काके ख़ुदी मेरी जला दो।

—आसी

सो उस प्यारेने अपने प्रेमकी आग सचमुच ऐसी भड़का दी, कि हमारा जितना कुछ 'असत्' था, वह सब जलकर ख़ाक हो गया, हमारे 'मैं' तकका आज निशान न रहा। चलो, अच्छा हुआ। यही तो चाहते थे। अब निश्चिन्त हो ख़ूब मौजमें रहेंगे। प्रेमका पखावज बजायँगे, हृदयकी वीणा छेड़ेंगे और अपने मस्ताने मनको नचायँगे —

करै पखावज प्रेमका, हृदै बजावै तार।
मनै नचावै मगन ह्वै, तिसका मता अपार॥

—मलूकदास

यह महाविषयी मन आज आत्मानन्द-सिन्धुमें कैसा निमग्न हो रहा है। बड़े मस्त हो रहे हैं आप। दिलके अन्दर यह उँजेला और यह रिमझिम फुही देख-देखकर मस्तरामको अरे, आज यह क्या हो गया है—

बिन दामिनि उँजियार अति, बिन घन परत फुहार।
मगन भयो मनुवाँ तहाँ, रूप निहार-निहार॥

—दयाबाई

प्यारेकी प्रेम-नगरीमें जाकर यह हज़रत मस्त हो नाचेंगे नहीं, तो करेंगे क्या? वह मुक़ाम ही ऐसा है। वह धाम ही ऐसा है।

यह तो हम कह ही चुके हैं, कि आज हमें अपने आपका भी पता नहीं है। प्रेमकी आगने हमारा सब कुछ जलाकर ख़ाक

कर दिया है। न वह तन है, न वह मन है, और न मेरा वह 'मैं' है। लोग पूछेंगे, तो फिर पहचाने कैसे जाते हो? पहचान तो हमारी साफ़ है। जिसने हमें लापता कर दिया है, हमें खो दिया है, उसी किसीके नामसे हम पहचान लिये जाते हैं—

तुम्हारे नामसे सब लोग मुझको जान जाते हैं।
मैं वह खोई हुई इक चीज़ हूँ, जिसका पता 'तुम' हो॥

सिवा इसके हम अपना पता और क्या बता सकते हैं? हम-जैसे मस्तरामोंका पता और क्या हो सकता है, भाई! 'गोकुल गाँवको पैंडो ही न्यारो' है। आत्मदर्शी सुंदरदासजीने क्या अच्छा कहा है—

द्वन्द बिना बिचरैं बसुधा पर, है घट आतम-ज्ञान अपारो।
काम न क्रोध, न लोभ न मोह, न राग न द्वेष, न म्हारु न थारो॥
जोग न भोग, न त्याग न संग्रह, देह-दसा न ढँक्यौ न उघारो।
'सुंदर' कोउ इक जानि सकै, यह गोकुलगांवको पैंडोहि न्यारो॥

प्रेम-मस्तको हज़ारोंमें कोई एक पहचान सकेगा।

× × × ×

बिना सच्ची लगनके यह जीव इस दशाको नहीं पहुँच पाता है। स्वरूप-दर्शन और प्रियतम-मिलन प्रेम-साधनासे ही संभव है। पर होनी चाहिए वह लगन सीधी और सच्ची। तीर वह जो वारसे पार हो जाय। जायसीने, अखरावटमें, कहा है—

प्रेम-तंतु तस लाग रहु, करहु ध्यान चित बाँधि।
पारधि जैस अहेर कहँ, लाग रहै सर साधि॥

शिकारी जैसे कमानपर तीर चढ़ाकर अपने शिकारपर नजर बाँधे बैठा रहता है, वैसे ही लौ लगाकर अपने प्रियतमका ध्यान करो। अचूक लगनसे उसे अपनी ओर खींच लो। ऐसी ही लगन विरही जीवको प्रेममयी शान्तिसे मिला सकती है। सदा एकरस रहनेवाली लौ ही हमें उस प्राण-प्यारेका दर्शन करा सकती है, मायाका परदा हटाकर आनन्दमयी आत्मासे मिला सकती है। पर लौ लगाई जाय, तब न? मर तो रहे हैं हम काँचकी किरचोंपर और चाहते हैं उस अनमोल कोहनूरको! झूठी चीज़ोंसे जब विछोह हो जाता है, तब सिर मार-मारकर रोने लगते हैं! कैसे भ्रममें पड़ रही है हमारी मंद बुद्धि! यह बुद्धि-रूपी चकई उस सरोवरको तो जाती नहीं, जहाँ प्रिय-वियोगका नाम भी नहीं है। राँड यहाँ रोती फिरती है!

चल चकई, वा सर-विपय, जहँ नहिं रैनि-बिछोह।
रहत एकरस दिवस ही, सुहृद-हंस-संदोह॥
सुहृद-हंस-संदोह, कोह अरु क्रोध न जाके।
भोगत सुख-अंबोह, मोह-दुख होय न ताके॥
बरनै 'दीनदयाल', भाग्य बिन जाय न सकई।
प्रिय-मिलाप नित रहै, ताहि सर चलि तू चकई॥

महात्मा सूरदास भी अपनी बुद्धि-चकईको कुछ ऐसा ही उपदेश दे रहे हैं—

चकई री! चलि चरन-सरोवर, जहाँ न प्रेम-वियोग।
निसिदिन 'राम-राम'की वर्षा, भय रुज नहिं दुख-सोग॥

वह आत्मानन्दका सुन्दर सरोवर है। उसमें भगवान्के

चरण-कमल सदा विकसित रहते हैं। वियोगकी रात्रि वहाँ कभी होती ही नहीं। सदैव प्रेमका प्रकाश रहता है। न वहाँ भय है, न रोग। न दुःख है, न शोक। प्यारेके प्रेमरसकी सदा ही वर्षा हुआ करती है। अमृतकी नहर उसी सरोवरसे निकली है। सो, चकई! तू तो उसी सरोवरको चल। धन्य वह सरोवर!

> जेहि सर सुभग मुक्ति-मुक्ताफल, सुकृत-अमृत-रस पीजै।
> सो सर छाँड़ि कुबुद्धि, विहङ्गम! यहाँ कहा रहि कीजै॥

आत्म-शान्ति ही जीवनका एकमात्र साध्य है। केवल कर्म अथवा केवल ज्ञानके द्वारा इस 'स्वाराज्य-सुख'की प्राप्ति संभव नहीं। प्रेममूलक सक्रिय ज्ञानके द्वारा ही हमें आत्म-शान्ति-का लाभ होगा। शान्त रसात्मक प्रेम ही बिछुड़ी हुई आत्माको परमात्मासे मिलायगा। असत्से सत्की ओर हमें शान्तरति ही ले जायगी। सो, भैया! अब होशयार हो जाओ। कुछ खबर है, कबके पड़े सो रहे हो? जागो, जागो, अपने ख़ास धनकी चोरी न करा लो, प्यारे राहगीर!

> राही! सोवत इत कितै, चोर लगैं चहुँ पास।
> तो निज धनके लेनकों, गिनैं नींदकी स्वास॥
> गिनैं नींदकी स्वास, वास बसि तेरे डेरे।
> लिए जात बनि मीत माल ये साँझ-सबेरे॥
> बरनै 'दीनदयाल' न चीन्हत है तू ताही।
> जाग, जाग, रे, जाग, इतै कित सोवत, राही॥

मधुर रति

मधुर रतिके सम्बन्धमें क्या तो कहा जाय और क्या लिखा जाय। हम-जैसे विषयी और पामर जीव इस परमरसके अधिकारी नहीं। सुना है, कि प्रेम-रसका पूर्ण परिपाक मधुर रतिमें ही हुआ है। इसे सर्व प्रेम-रतियोंका समन्वय कहा है। 'भक्तियोग' में लिखा है, कि जिस प्रकार आकाशादि महाभूतोंके गुण क्रमसे, अर्थात् अन्य भूतोंमें उत्तरोत्तर बढ़कर एक, दो, तीन क्रमसे, पृथिवीमें पाँचों भूतोंके गुण हैं, उसी प्रकार मधुर रसमें भी सब रस आकर मिल जाते हैं। जीवात्मा और परमात्माका रस-सम्बन्ध इस परमरतिमें पराकाष्ठाको पहुँच जाता है। जीव-ब्रह्मका यह दिव्य दाम्पत्य-भाव हमारे अन्यतम अनुभवका विषय है। सत्य, शिव और सुन्दरका साक्षात्कार इसी रति-भावके द्वारा होता है। आत्माकी वह कितनी मधुमयी और रसमयी अवस्था होगी, प्यारे! जिसमें 'रसो वै सः' की प्रत्यक्षानुभूति हो जाती होगी! प्रेमी और प्रिय, भक्त और भगवान्‌का नित्य सम्मिलन, सतत संयोग कितना मधुर और कितना आनन्द-प्रद न होगा! अहा!

वह नित्य विहार! वह मधुर मधु! वह परम रस! वहाँ तृप्ति कैसी और अतृप्ति कैसी!

'धरनी' पलक परै नहीं, पियकी झलक सुहाय।
पुनि-पुनि पीवत परमरस, तबहूँ प्यास न जाय॥

उस 'पिय' की झलक जिसे मिल गई, उसके सुहागका कुछ पार! प्रियमें अनन्य भावका पूर्ण अनुभव प्राप्त कर लेना क्या कोई साधारण साधन है? जब उस प्यारेकी प्रीति किसी तरह अन्तस्तलमें बिधकर पैठ जाती है, तब फिर वही-वही चराचर जगत्में रमा हुआ दिखाई देता है—

प्रीति जो मेरे पीवकी पैठी पिंजर माहिं।
रोम-रोम पिव-पिव करै, 'दादू' दूसर नाहिं॥

उस 'एकमेवाद्वितीयम्' प्यारेके नव मिलनमें द्वैतकी कल्पना कैसे हो सकती है? प्रेमकी इस परमावस्थामें ही जीवात्माको पतिव्रता सतीकी उपमा दी जाती है। संतोंने उसे सुहागिल भी कहा है। ऐसी जीवात्मा ही प्राणेश्वर प्रियतमकी लाड़ली है—

सोइ सुहागिन नारि, पिया-मन भावई।
अपने पियको छोड़, न पर-घर जावई॥
नवधा-वस्तर पहिरि, दया-रँग लाल है।
प्रेमके भूषन धारि, बिचित्तर बाल है॥
मंदिर दीपक बारि, बिन बाती पीवकी।
सुघर नेह-गुन रासि लाड़ली पीवकी॥

कैसा सुन्दर शृङ्गार किया है इस विचित्र बालाने ! क्यों न वह अपने पियाकी प्राणप्यारी हो। कितना भारी अंतर है इस जीवात्म-कान्तामें और लहँगा-साड़ी पहननेवाले सखी-भावके स्त्रीरूपी ज़नखेमें ! दिव्य कान्त-कान्ता-भावकी ओटमें सांसारिक शृंगारियोंने कैसा मलिन और विकारी विषय-भाव व्यक्त किया है। हमारे प्रेम-साहित्यका अधिकांश, दुर्भाग्यसे, चुम्बन-आलिंगनकी रहःकेलियोंसे ही भरा पड़ा है। क्या कहलाना चाहते हो उस भ्रान्त भावनाके सम्बन्धमें। उधरकी ओर हमारी विचार-धारा प्रवाहित ही न हो, भगवन् ! कहाँ तो यह साधारण बाह्य शृंगार-भाव और कहाँ वह असाधारण दिव्य मधुरतम प्रेम ! कहाँ यह तुम्हारा काम-विलासमय नायक-नायिका-निरूपण और कहाँ उस घट-घट-विहारी रमण और उसकी अन्तस्तल-विहारिणी रमणीका नित्य विहार ! संतवर सुन्दरदासने एक साखीमें कहा है--

जो पिय को व्रत लै रहै, कन्त-पियारी सोइ।
अंजन-मंजन दूरि करि 'सुन्दर' सनमुख होइ॥

धन्य है उस सुहागिनी सतीको !

जरै पियाके साथ, सोइ है नारि सयानी।
रहै चरनचित लाय एकसे, और न जानी॥
जगत करै उपहास, पियाका संग न छोड़ै।
प्रेमकी सेज बिछाय, मेहरकी चादर ओढ़ै॥

ऐसी रहनी रहै, तजै जग-भोग-बिलासा।
मारै भूख पियास, याद सँग चलती स्वासा॥
रैन-दिवस बेहोस, पियाके रँगमें राती।
तनकी सुधि है नहीं, पिया सँग बोलत जाती॥
'पलटू' गुरुकी दयातें, किया पिया निज हाथ।
सोई सती सराहिए, जरै पियाके साथ॥

प्यारेकी लगनकी आगमें जो अपनी खुदीको जला देती है, जिसकी लौ उसी एकके चरणोंमें लगी रहती है, वही पतिव्रता है, वही सुहागिनी है, वही सती है। दुनियाँ उसका मज़ाक उड़ाती है, पर वह उसपर कोई ध्यान नहीं देती। कुछ भी हो, वह अपने प्रियतमका साथ छोड़नेवाली नहीं। प्रेमकी सेज सजाकर वह लगनकी लहरसे अपने साईंको सदा रिझाती रहती है। उसकी रहनीका क्या पूछते हो। तुम्हारे संसारी भोग-विलासों-से उसे क्या मतलब है। वहाँ कहाँकी भूख और कहाँकी प्यास। उसकी साँस भी तभीतक जानो, जबतक उसे अपने प्राणेश्वरकी याद है। वह दिनरात मौजकी मस्तीमें डूबी रहती है। प्यारेके रंगमें रँगी रहती है। उससे पूछते क्या हो—उसे अपनी देहतककी तो सुध है नहीं। वह कुछ न कहेगी। बोलेगी भी, तो अपने प्यारेके ही बुलानेपर बोलेगी। ऐसी परमानुरागिनी सती क्यों न उस प्रियतमको अपने हाथमें कर ले?

× × × ×

ज़रा उस विरहिणी सतीकी अपने स्वामीसे मिलनेकी तड़प तो देखो—

> विरहिनि रहै अकेलि, सो कैसे कै जीवै हो।
> जेकरे अमी कै चाह, जहर कस पीवै हो॥
> अभरन देहु वहाय, वसन दै फारो हो।
> पिय विन कोन सिँगार, सीस दै मारों हो॥
> भूख न लागै नींद, विरह हिय करकै हो।
> माँग सेँदुर मसि पोंछु, नैन जल ढरकै हो॥
> कापर करै सिँगार, सो काहि दिखावै हो।
> जेकर पिय परदेस, सो काहि रिझावै हो॥
> रहै चरन चित लाय, सोइ धन आगर हो।
> 'पलटुदास' कै सबद विरह के सागर हो॥

जिसके घायल कलेजेमें वार-वार प्रेमकी हूक उठ रही हो, विरहकी चोट कड़क रही हो, वह सती विना अपने जीवन-धनके कैसे जीवित रह सकती है? उसके लिए कहाँके तो भूषण-वसन और कहाँका सुहाग-सिंगार। यह सब तो उसकी नज़रमें ज़हर है। प्रेम-पीयूषकी प्यास, भला, भोग-विलासोंके विषसे शान्त हो सकती है? धन्य है उस सतीको, जो सदा अपने स्वामीके चरणोंमें ही लौ लगाये रहती है, उससे मिलनेको, मछलीकी तरह, तड़पा करती है।

मधुर-रति-उन्मादिनी जीवात्मा कहती है, कि मेरा प्रियतम मुझसे दूर नहीं है, जो सँदेसा भेजकर उसे बुलाती फिरूँ।

यह विरहोन्माद तो मेरी लगनका एक रंग है, मेरी मस्तीकी एक लहर है—

प्रीतमको पतियाँ लिखूँ, जो कहुँ होय बिदेस।
तनमें, मनमें, नैनमें, ताको कहा सँदेस॥

—कबीर

कवीन्द्र रवीन्द्रके शब्दोंमें वह विरहिणी कहती है—

Come to my heart and see
His face in tears of my eyes.

अर्थात्—

'हिय घुसि ताकौ रूप बिलोकौ छलकत अँसुअन मेरे,
जीवन-धन मम प्रान-पियारो सदा बसतु हिय मेरे।

वह कहती है, कि मैं उसे बुलाने नहीं जाती, वही मुझे बुला रहा है। पर मैं कैसे जाऊँ! कैसे उस प्यारेके पैर जा पकड़ूँ!

यार बुलावै भावसों, मोपै गया न जाय।
धन मैली पिउ ऊजला, लागि न सकूँ पाय॥

—कबीर

यह सच है, कि वह मेरे हृदय-मन्दिरमें रम रहा है, मेरी आँखोंमें नाच रहा है, पर उससे मिलना बड़ा कठिन है। कैसे मिलूँ अपने प्यारे रामसे?

नैहर वास बसा पीहरमें, लाज तजी नहिं जाय।
अधर भूमि जहँ महल पियाका, हम पै चढ़ा न जाय॥

—कबीर

तेरे पास मेरा पहुँचना कठिन है, इससे अब तू ही यहाँ आ जा। तनका यह मैल तेरे ही नूरमें दूर होगा। बलिहारी, प्यारे, बलिहारी !

तेज तुम्हारा कहिए, निर्मल काहे न लहिए।
'दादू' बलि-बलि तेरे, आव पिया तू मेरे॥

जिस प्रकार यह सती उस प्रियतमसे मिलनेको अत्यन्त अधीर है, उसी प्रकार वह भी इसे प्रेमपूर्वक भेंटनेको अत्यन्त आतुर हो रहा है। पारस्परिक प्रेमका कैसा सुन्दर चित्रण है। दोनों एक दूसरेपर बलि हो रहे हैं। यह उसकी तसवीर है और वह इसकी तसवीर है। ख़ूब !

उठ गया परदा दुईका, दरम्याँसे देख ले,
अब तेरी तसवीर मैं हूँ, तू मेरी तसवीर है।

—अहमदी

कभी यह दीपक है और वह पतंगा, तो कभी वह दीपक है और यह पतंगा—

मैं कभी हूँ शमा, परवाना है तू,
तू कभी है शमा, परवाना हूँ मैं।

—अहमदी

× × × ×

बोलो, तुम्हें क्या कहके पुकारूँ ? और, अपना भी आज क्या नाम रख लूँ ? क्या तुम मेरे इस पागलपनेके प्रलापको पसंद करोगे, प्रियतम ? क्या ? यही, कि—

तुम मृदु मानसके भाव और मैं मनोरंजिनी भाषा।
तुम नन्दन-वन-घन-विटप, और मैं सुख-शीतल तरु शाखा॥
तुम प्राण और मैं काया।
तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म, मैं मनोमोहिनी माया॥
तुम प्रेममयीके कंठहार, मैं वेणी काली नागिनी।
तुम कर-पल्लव-झंकृत सितार, मैं व्याकुल विरह-रागिनी॥
तुम पथ हो, मैं हूँ रेणु।
तुम हो राधाके मन-मोहन, मैं उन अधरोंकी वेणु॥
तुम पथिक दूरके श्रान्त, और मैं बाट-जोहती आशा।
तुम भव-सागर दुस्तार, पार जानेकी मैं अभिलाषा॥
तुम नभ हो, मैं नीलिमा।
तुम शरद-सुधाकर-कला-हास, मैं हूँ निशीथ-मधुरिमा॥
तुम गंध-कुसुम-कोमल-पराग, मैं मृदुगतिमलय समीर।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्तपुरुष, मैं प्रकृति-प्रेम-जंजीर॥
तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति।
तुम रघुकुल-गौरव रामचन्द्र, मैं सीता अचला भक्ति॥

—सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

× × × ×

उस विश्व-रमणकी हृदय-वल्लभा रमणी प्रेमोन्मत्त हो जब यह मधुमय गीत गाती है, तब समस्त प्रकृति मधुर रसके अगाध सागरमें डूब जाती है। उस समय नित्यविहारका यह मधुर संगीत जगत्के अणु-परमाणुमें व्याप्त हो जाता है—

खुटै आत्म-सरवसु, उमँगै तहँ प्रेम-पयोधि अपार।
जल थल नभ मधुमय ह्वै जावै, झरै सुधाकर-सार॥

ब्रह्म और जीवात्माका यह सरस विहार ही नित्य है और सब अनित्य है। सभी कुछ नाशवान् है, केवल यह मधुर मिलन ही अविनश्वर है—

चन्द्र घटै, सूरज घटै, घटै त्रिगुन-विस्तार।
दृढ़व्रत हित हरिवंसको घटै न नित्यविहार॥

इस विहारकी अनन्य अधिकारिणी तो, बस, व्रजाङ्गनाएँ ही थीं। क्षमा करें बाह्य शृङ्गारोपासक सहृदय सज्जन-वृन्द, मैं प्रेममूर्ति गोपिकाओंकी मधुरा रतिको किसी और ही प्रकाशमें देखता हूँ। मेरा उन रसिकोंसे गहरा मत-भेद है। किस चित्र-कारमें सामर्थ्य है, जो व्रज-गोपियोंके अलौकिक प्रेमका यथार्थ चित्र खींच सके। धन्य है उनके प्रेम-व्रत साधनको!

जो व्रत मुनिवर ध्यावहीं, पै पावहिं नहिं पार।
सो व्रत साध्यौ गोपिका, छाँड़ि विषय-विस्तार॥

—सूर

तभी तो रसखानिने उनकी प्रीतिकी यहाँतक सराहना की है—

जदपि जसोदा नंद अरु, ग्वाल-बाल सब धन्य।
पै या जगमें प्रेमकों गोपी भईं अनन्य॥

नन्ददासजीने भी खूब कहा है—

नाद अमृत को पंथ रँगीलो सूच्छम भारी।
तेहि मग ब्रज-तिय चलैं, आन कोउ नहिं अधिकारी॥
सुद्ध प्रेममय रूप, पंचभूतनतें न्यारी।
तिन्हैं कहा कोउ कहै, ज्योति-सी जगत-उज्यारी॥

हरिश्चन्द्रने भी गोपिका-महिमा गाकर अपनी सरसा रसना कृतार्थ की है—

गोपिनकी सरि कोउ नाहीं
जिन तृन-सम कुल-लाज-निगड़ सब तोरयो हरि-रस माहीं॥
जिन निजबस कीनें नँदनंदन, बिहरीं दै गलबाहीं।
सब संतन के सीस रहौ उन चरन-छत्र की छाहीं॥

पगली, परदेको तोड़ दे। पियाको देखना चाहती है तो घूँघटका पट खोल दे। अहंकारका आवरण हटा दे। खुदीका कुर्ता फाड़कर फेंक दे। सुन—

तोकों पीव मिलैंगे घूँघटका पट खोल, री।
जोग-जुगुति सों रङ्गमहलमें पिय पायो अनमोल, री॥

—कबीर

तेरे हाथमें आज अनायास ही अनमोल हीरा आ गया है। उसे यों ही न खो दे, पगली! तू कहा करती थी न, कि—

जो अब प्रीतम मिलै, करूँ मैं निमिष न न्यारा।

सो वह प्राण-प्यारा अब मिल तो गया। पर उससे तू परदा क्यों कर रही है? वह तुझे अपना दीदार दे तो रहा है। बे,खुदी-

की मस्तीमें डूबकर उसे भेंट क्यों नहीं लेती ? क्यों सो रही है अबतक ? देखती नहीं, तेरा प्राण-प्यारा स्वामी कबसे तेरे पास खड़ा है ?

तू मति सोवै, री परी, कहौं तोहि मैं टेरि।
सजि सुभ भूषन बसन, अब पिया-मिलनकी बेरि॥
पिया-मिलनकी बेरि, छाँड़ि अजहूँ लरिकापन।
सूधे दृगसों हेरि, फेरि मुख ना, दै तन मन॥
बरनै 'दीनदयाल' छमैगो चूकन हूँ पति।
जागि चरनमें लागि, सुहागिन! सोवै तू मति॥

तुझे क्या ख़बर, कि वह तुझे कितना प्यार करता है! क्यों नहीं लूट लेती उसके मधुर प्रेमका ख़जाना ? वह लुटा तो रहा है। न जाने तेरी नींद कब जायगी, और कब अपने प्रियतम-के दीदारका मीठा-मीठा रस पियेगी। हाय, हाय!

तू सुख सूती नींद भरि, जागै तेरा पीव।
क्यों करि मेला होइगा, जागै नाहीं जीव॥

—दादूदयाल

इससे, एकबार फिर तुझे चेतावनी दी जाती है—

जागि चरनमें लागि, सुहागिन! सोवै तू मति।

अव्यक्त प्रेम

हिरदै भीतर दव बलै, धुवाँ न परगट होय।
जाके लागी सो लखै, की जिन लाई सोय॥

—कबीर

गनकी आगका धुवाँ कौन देख सकता है। उसे या तो वह देखता है, जिसके अन्दर वह जल रही है, या फिर वह देखता है, जिसने वह आग सुलगाई है। भाई, प्रेम तो वही जो प्रकट न किया जाय। सीनेके अन्दर ही एक आग-सी सुलगती रहे, उसका धुवाँ बाहर न निकले। प्रीति प्रकाशमें न लाई जाय। यह दूसरी बात है, कि कोई दिलवाला जौहरी उस प्रेम-रत्नके जौहरको किसी तरह जान जाय। वही तो सच्ची लगन है जो गलकर, घुलकर हृदयके भीतर पैठ जाय; प्यारेका नाम मुहँसे न निकलने पाय, रोम-रोमसे उसका स्मरण किया जाय। कबीरदासकी एक साखी है—

प्रीति जो लागी घुल गई, पैठि गई मनमाहिं।
रोम-रोम पिउ-पिउ करै, मुखकी सरधा नाहिं॥

प्रेम-रसके गोपनमें ही पवित्रता है। जो प्रेम प्रकट हो

चुका, बाज़ारमें जिसका विज्ञापन कर दिया गया, उसमें पवित्रता कहाँ रही ? वह तो फिर मोल-तोलकी चीज़ हो गई। कोविद-वर कारलाइल कहता है—

Love unexpressed is sacred.

अर्थात्, अव्यक्त प्रेम ही पवित्र होता है। जिसके जिगरमें कोई कसक है, वह दुनियामें गली-गली चिल्लाता नहीं फिरता। जहाँ-तहाँ पुकारते तो वे ही फिरा करते हैं, जिनके दिलमें प्रेमकी वह रस-भरी हूक नहीं उठा करती। ऐसे बने हुए प्रेमियोंको प्रेम-देवका दर्शन कैसे हो सकता है ? महात्मा दादूदयाल कहते हैं—

अन्दर पीर न ऊभरै, बाहर करै पुकार।
'दादू' सो क्योंकरि लहै, साहिब का दीदार॥

किसीको यह सुनानेसे क्या लाभ, कि मैं तुम्हें चाहता हूँ, तुमपर मेरा प्रेम है ? सच्चे प्रेमियोंको ऐसी विज्ञापनबाज़ी-से क्या मिलेगा ? तुम्हारा यदि किसीपर प्रेम है, तो उसे अपनी हृदय-वाटिकामें ही अंकुरित, पल्लवित, प्रफुल्लित और परिफलित होने दो। जितना ही तुम अपने प्रियको छिपाओगे, उतना ही वह प्रगल्भ और पवित्र होता जायगा। बाहरका दरवाज़ा बन्द करके तुम तो भीतरका द्वार खोल दो। तुम्हारा प्यारा तुम्हारे प्रेमको जानता हो तो अच्छा, और उससे बेख़बर हो तो भी अच्छा। तुम्हारे बाहरके शोरगुलको वह कभी पसन्द न करेगा। तुम तो दिलका दरवाज़ा खोलकर बेख़बर हो बैठ जाओ। तुम्हारा प्यारा राम ज़रूर तुम्हें मिलेगा—

सुमिरन सुरत लगाइकै, मुखतें कछू न बोल।
बाहरके पट देइकै, अंतरके पट खोल॥

—कबीर

प्रीतिका ढिंढोरा पीटनेसे कोई लाभ ?

जो तेरे घट प्रेम है, तौ कहि-कहि न सुनाव।
अन्तरजामी जानिहैं, अन्तरगतका भाव॥

—मलूकदास

तुम तो प्रेमको इस भाँति छिपा लो, जैसे माता अपने गर्भस्थ बालकको बड़े यत्नसे छिपाये रहती है, ज़रा भी उसे ठेस लगी कि वह क्षीण हुआ—

जैसे माता गर्भको राखै जतन बनाइ।
ठेस लगै तौ छीन हो, ऐसे प्रेम दुराइ॥

—गरीबदास

प्रेमका वास्तविक रूप तुम प्रकाशित भी तो नहीं कर सकते। हाँ, उसे किस प्रकार प्रकाशमें लाओगे ? प्रेम तो गूँगा होता है। इश्क़को बे-ज़ुबान ही पाओगे। ऊँचे प्रेमियोंकी तो मस्तानी आँखें बोलती हैं, ज़ुबान नहीं। कहा भी है—

Love's tongue is in the eyes.

अर्थात्, प्रेमकी जिह्वा नेत्रोंमें होती है। क्या रघूत्तम रामका विदेह-नन्दिनीपर कुछ कम प्रेम था ? क्या वे मारुतिके द्वारा जनकतनयाको यह प्रेमाकुल सन्देश न भेज सकते थे, कि 'प्राण-

प्रिये! तुम्हारे असह्य वियोगमें मेरे प्राण-पक्षी अब ठहरेंगे नहीं; हृदयेश्वरी! तुम्हारे विरहने मुझे आज प्राण-हीन-सा कर दिया है!' क्या वे आज-कलके विरह-विह्वल नवल नायककी भाँति दस-पाँच लम्बे-चौड़े प्रेम-पत्र अपनी प्रेयसीको न भेज सकते थे? सब कुछ कर सकते थे, पर उनका प्रेम दिखाऊ तो था नहीं। उन्हें क्या पड़ी थी जो प्रेमका रोना रोते फिरते! उनकी प्रीति तो एक सत्य, अनन्त और अव्यक्त प्रीति थी, हृदयमें धधकती हुई प्रीतिकी एक ज्वाला थी। इससे उनका सँदेसा तो इतनेमें ही समाप्त हो गया कि—

तत्व प्रेमकर मम अरु तोरा। जानत, प्रिया, एक मन मोरा॥
सो मन रहत सदा तोहि पाहीं। जानि प्रीति-रस इतनेहि माहीं॥

—तुलसी

इस 'इतनेमें' ही उतना सब भरा हुआ है, जितनेका कि किसी प्रीति-रसके चखनेहारेको अपने अन्तस्तलमें अनुभव हो सकता है। सो, बस—

जानि प्रीति-रस इतनेहि माहीं।

प्रीतिकी गीति कौन गाता है, प्रेमका बाजा कहाँ बजता है और कौन सुनता है, इन सब भेदोंको या तो अपना चाह-भरा चित्त जानता है या फिर अपना वह प्रियतम। इस रहस्यको और कौन जानेगा?

सब रग ताँत, रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै, कै साईं कै चित्त॥

—कबीर

जायसीने भी ख़ूब कहा है—

हाड़ भये सब किंगरी, नसें भईं सब ताँति।
रोम-रोम तें धुनि उठै, कहौं बिथा केहि भाँति॥

प्रेम-गोपनपर किसी संस्कृत कविकी एक सूक्ति है—

प्रेमा द्वयो रसिकयोरपि दीप एव
हृद्व्योम भासयति निश्चलमेव भाति।
द्वारादयं वदनतस्तु बहिर्गतश्चेत्
निर्वाति दीपमथवा लघुतामुपैति॥

दो प्रेमियोंका प्रेम तभीतक निश्चल समझो, जबतक वह उनके हृदयके भीतर है। ज्योंही वह मुखद्वारसे बाहर हुआ, अर्थात् यह कहा गया कि 'मैं तुम्हें प्यार करता हूँ' त्यों ही वह या तो नष्ट हो गया या क्षीण ही हो गया। दीपक गृहके भीतर ही निष्कम्प और निश्चल रहता है। द्वारके बाहर आनेपर या तो वह क्षीण-ज्योति हो जाता है या बुझ ही जाता है। वास्तवमें, पवित्र प्रेम एक दीपकके समान है। इसलिए चिराग़ेइश्क़को, भाई, जिगरके अन्दर ही जलने दो। उस अँधेरे घरमें ही तो आज उँजेलेकी ज़रूरत है।

उस प्रियतमको पलकोंके भीतर क्यों नहीं छुपा लेते? एक बार धीरेसे यह कहकर उसे, भला, बुलाओ तो—

आओ प्यारे मोहना! पलक झाँपि तोहि लेउँ।
ना मैं देखौं और कों, ना तोहि देखन देउँ॥

आँखोंकी तो बनाओ एक सुन्दर कोठरी और पुतलियोंका बिछा दो वहाँ पलंग। द्वारपर पलकोंकी चिक भी डाल देना। इतनेपर भी क्या वह हठीले हज़रत न रीझेंगे? क्यों न रीझेंगे—

नैनोंकी करि कोठरी, पुतली-पलँग बिछाय।
पलकोंकी चिक डारिके, छिनमें लिया रिझाय॥

—कबीर

जब वह प्यारा दिलबर इस तरह तुम्हारे दर्द-भरे दिलके अंदर अपना घर बना लेगा, तब तुम्हें न तो उसे कहीं खोजना ही होगा और न चिल्ला चिल्लाकर अपने प्रेमका ढिंढोरा ही पीटना होगा। तब उस हृदय-विहारीके प्रति तुम्हारा प्रेम नीरव होगा। वह तुम्हारी मतवाली आँखोंकी प्यारी-प्यारी पुतलियोंमें जब छुपे-छुपे अपना डेरा जमा लेगा, तब उसका प्यारा दीदार तुम्हें ज़र्रे-ज़र्रेमें मिलेगा। घट-घटमें उसकी झलक दिखाई देगी। प्रेमोन्मत्त कवीन्द्र रवीन्द्र, सुनो, क्या गा रहे हैं—

My beloved is ever in my heart
That is why I see him everywhere.
He is in the pupils of my eyes
That is why I see him everywhere.

अर्थात्—

जीवन-धन मम प्रान-पियारो सदा बसतु हिय मेरे,
जहाँ बिलोकैं, ताकैं ताकों कहा दूरि कह नेरे।

आँखिनकी पुतरिनमें सोई सदा रहै छवि घेरे,
जहाँ बिलोकैं, ताकैं ताकों कहा दूरि कह नेरे॥

—कृष्णविहारी मिश्र

अपने चित्तको चुरानेवालेका ध्यान तुम भी एक चोरकी ही तरह दिलके भीतर किया करो। चोरकी चोरके ही साथ बना करती है। जैसेके साथ तैसा ही बनना पड़ता है। कविवर विहारीका एक दोहा है—

करौ कुयत जगु, कुटिलता तजौं न, दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय बसत, त्रिभंगी लाल॥

संसार निन्दा करता है तो किया करे, पर मैं अपनी कुटिलता तो न छोड़ूँगा। अपने हृदयको सरल न बनाऊँगा, क्योंकि हे त्रिभंगी लाल! तुम सरल (सीधे) हृदयमें बसते हुए कष्ट पाओगे। टेढ़ी वस्तु सीधी वस्तुके भीतर कैसे रह सकती है? सीधे मियानमें कहीं टेढ़ी तलवार रह सकती है? मैं सीधा हो गया तो तीन टेढ़वाले तुम मुझमें कैसे बसोगे? इससे मैं अब कुटिल ही अच्छा! हाँ, तो अपनी प्रेम-साधनाका या अपने प्यारेके ध्यानका कभी किसीको पता भी न चलने दो, यहाँकी बात ज़ाहिर कर दो, यहाँके पट खोल दो; पर वहाँका सब कुछ गुप्त ही रहने दो, वहाँके पट बंद ही किये रहो। यह दूसरी बात है, कि तुम्हारी ये लाचार आँखें किसीके आगे वहाँ-का कभी कोई भेद खोलकर रख दें।

प्रेमको प्रकट कर देनेसे क्षुद्र अहंकार और भी अधिक फूलने-फलने लगता है। 'मैं प्रेमी हूँ'—बस, इतना ही तो अहंकार चाहता है। 'मैं तुम्हें चाहता हूँ'—बस, यही ख़ुदी तो प्रेमका मीठा मज़ा नहीं लूटने देती। ब्रह्मात्मैक्यके पूर्ण अनुभवीको 'सोऽहं, सोऽहं' की रट लगानेसे कोई लाभ? महाकवि ग़ालिबने क्या अच्छा कहा है—

क़तरा अपना भी हक़ीक़तमें है दरिया, लेकिन
हमको तक़लीदे तुनक ज़र्फ़िये मंसूर नहीं।

मैं भी बूँद नहीं हूँ, समुद्र ही हूँ—जीव नहीं, ब्रह्म ही हूँ—पर मुझे मंसूरके ऐसा हलकापन पसन्द नहीं। मैं 'अनलहक़' कह-कहकर अपना और ईश्वरका अभेदत्व प्रकट नहीं करना चाहता। जो हूँ सो हूँ, कहनेसे क्या लाभ। सच बात तो यह है, कि सच्चा प्रेम प्रकट किया ही नहीं जा सकता। जिसने उस प्यारेको देख लिया वह कुछ कहता नहीं, और जो उसके बारेमें कहता फिरता है, समझ लो, उसे उसका दर्शन अभी मिला ही नहीं। कबीरकी एक साखी है—

जो देखै सो कहै नहिं, कहै सो देखै नाहिं।
सुनै सो समझावै नहीं, रसना दृग श्रुति काहिं॥

इसलिए प्रेम तो, प्यारे, गोपनीय ही है।

मातृ-भक्ति

मेरे कुछ आदरणीय मित्रोंकी शायद ऐसी धारणा है, कि प्रेमके इस अनुपमेय अंगपर मैं अपने कुछ निजी विचार प्रकट कर सकता हूँ। क्षमा करें मेरे सहृदय सुहृद्वर, मेरे विषयमें उनका यह सबसे भारी भ्रम सिद्ध होगा। इस कृतघ्नता-पूर्ण नीरस हृदयमें मातृ-भक्तिके लिए कदाचित् ही किञ्चित् स्थान हो। हाँ, यह जाननेकी चेष्टा मैं अवश्य कर रहा हूँ, कि क्या मातृ-भक्ति ही प्रेम-रसकी मुख्य निर्झरी है। एक धुँधली-सी याद आती तो है उन चरणोंकी, पर कहूँ क्या, लिखूँ क्या! यह तो प्रायः स्पष्ट है, कि उन श्रीचरणोंका ध्यान-चित्र इस जीवनमें तो अङ्कित न हो सकेगा। मेरे मित्र मुझसे उस चित्राङ्कणकी आशा कृपा कर न करें तो अच्छा। इस पतित पामरसे वह पवित्र साधना किसी प्रकार न सध सकेगी।

हाँ, एक दिन, अनजानमें, ये शब्द अवश्य मुखसे निकल गये थे—

प्रकृति पुरुषकी एकता, माता गुरू अभेद।
जाके मन यह भावना, जानत सोइ सत वेद॥

जन-वत्सलता, कृपा, श्री, पराप्रकृति मम मात ।
ज्ञान, विवेक, स्वरूप हरि, सतगुरु जग-विख्यात ॥

माता ही प्रकृति है और गुरु ही पुरुष है । जन-वत्सलता भी माताका एक पवित्र नाम है, जैसे ज्ञान या सद्विवेक गुरुका एक सुन्दर नाम है । माताकी प्रत्यक्षानुभूति भगवत्कृपाके सात्त्विकरूपमें उसी प्रकार हो सकती है, जिस प्रकार गुरुका प्रत्यक्ष दर्शन आत्माके शुद्धरूपमें किया जा सकता है । इसी प्रकार माताको हम श्री कहेंगे, और गुरुको हरि । माता पराप्रकृति है, और गुरु परमपुरुष । जैसे, अन्तमें प्रकृति और पुरुषमें कोई भेद नहीं रह जाता, वैसे ही माता और गुरुमें भी 'अभेदत्व' स्थापित हो जाता है । ऐसा कुछ अनुभवमें आता है, कि यह अभेदत्व ही 'कैवल्य' है । कहना चाहो, तो कह लो इस आयँ-बायँ-सायँको हम-जैसे पागलोंका सांख्यदर्शन ।

एक बार फिर कहूँगा, कि माता ही हरि-कृपा है, और हरि-कृपा ही माता है । गोसाईं तुलसीदासजी भी तो इस सिद्धान्तका समर्थन कर रहे हैं—

कबहुँक, अंब ! अवसर पाइ ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुन-कथा चलाइ ॥

माँ ! कभी मौका मिले तो मेरी भी श्रीरामचन्द्रजीको याद दिला देना । पहले कोई करुणाका प्रसंग छेड़ देना; बस, फिर सब बात बन जायगी । एक तो यों ही माता अनन्त करुणामयी

होती है, तिसपर 'अम्ब' का सरल सम्बोधन और 'कछु करुन-कथा चलाइ' इन शब्दोंकी वेगवती करुणा-तरङ्गिणी! क्या अब भी प्रभुका हृदय द्रवीभूत न होगा ? क्या अब भी कृपा न करेंगे श्रीजानकी-जीवन ?

× × × ×

धन्य है वह हृदय, जिसमें श्रद्धा-जलसे सिञ्चित मातृ-भक्तिकी लता सदैव लहलही रहती है! धन्य हैं वे नेत्र, जो नित्यप्रति माताके आराध्य चरणोंपर अश्रु-मुक्ताओंकी माला चढ़ाया करते हैं! उस करुणामयीके और भी तो अनेक सुन्दर नाम हैं, पर उसके बच्चोंको तो 'माँ' नाम ही अधिक आह्लाददायी है। वैसे तो वर्णमालाका प्रत्येक अक्षर उस आनन्दमयी अम्बाका नाम है, किन्तु 'माँ' शब्दकी दिव्य मधुरिमाकी समता कौन कर सकेगा ? 'माँ! तू हमारी माँ है'—केवल इस भावनामें ही कितनी अधिक पवित्रता है, कितनी ऊँची दिव्यता है, कितनी गहरी करुणा है! अन्यत्र सर्वत्र भय है, केवल माँकी गोद ही निर्भय है। अनन्य मातृ-भक्त रामप्रसादका कैसा सुन्दर प्रलाप है—'किसका भय है? मैं तो सदा उस आनन्दमयी माँकी गोदमें खेलता रहता हूँ।' माँकी उस वात्सल्यमयी गोदको कौन अभागा भुला सकेगा? माँसे बिछुड़कर उस स्नेहमयी गोदकी किसे याद न आती होगी। देखो, श्रीकृष्ण अपनी मैया यशोदाकी गोदमें पुनः खेलने और 'कन्हैया' कहलानेको कैसे अधीर हो रहे हैं—

जा दिनतें हम तुमतें बिछुरे, काहु न कह्यौ कन्हैया।
कबहूँ प्रात न कियो कलेवा, साँझ न पीन्ही धैया ॥

—सूर

× × × ×

माँ! तू ही भारती है, तू ही कमला है और तू ही काली है। माँ! तू ही शक्ति है, तू ही भुक्ति है और तू ही मुक्ति है। तू ही जयदा है और तू ही वरदा है। तू ही क्षीरदा है और तू ही अन्नदा है। तेरी भूखी-प्यासी संतान सदा तेरा ही स्मरण करेगी—

क्षुधा-तृषार्त्ता जननीं स्मरन्ति।

किसीको तू नील निचोल धारण करके दर्शन देती है, तो किसीके ध्यान-पथपर श्वेत साड़ी पहनकर आ जाती है। पर, माँ! हमें तो तू आज रक्ताम्बर धारण करके ही दर्शन दे। अग्नि-वीणा बजानेवालेके ज्वलन्त नेत्रोंमें तू लाल साड़ी पहनकर ही तो ताण्डव किया करती है। वही ताण्डवनृत्य दिखा दे, पगली माँ! हम तेरी साधना करना क्या जानें। जननि! साधक तो तेरा लाड़ला पुत्र रामकृष्ण परमहंस था। हम लोग तो अभीतक तेरी आज्ञाका रहस्य ही नहीं समझ पाये। हम तो कुपुत्र हैं, माँ! कुपुत्र। क्षमा कर करुणामयि!

पृथिव्यां पुत्रास्ते जननि बहवः सन्ति सरलाः,
परं तेषां मध्ये विरलतरलोऽहं तव सुतः।

मदीयोऽयं त्यागः समुचितमिदं नो तव शिवे !
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ।।
—शंकराचार्य

माँ ! तू मुझे छोड़ रही है ? क्या यह त्याग तुझे शोभा देगा ? मुझे तो विश्वास नहीं होता, कि तू मेरा वस्तुतः परित्याग कर ही देगी। क्या हुआ जो मैं कुपुत्र हूँ। यह कोई अनोखी वा अनहोनी बात नहीं है। कुपुत्र तो हो सकता है, और होता ही है पर क्या कहीं कुमाता भी होती सुनी है ? तू यों ही धमका रही है, मुझे छोड़ेगी नहीं। मैं मानता हूँ, कि मैं तेरी किसी भी आज्ञाका पालन नहीं कर रहा हूँ। अवश्य ही मैं एक महान् अपराधी हूँ। पर अपराधी हूँ तो तेरा और अनाज्ञाकारी हूँ तो तेरा। हूँ मैं सर्वथा तेरा ही। तेरा स्वभाव तो, माँ! प्यार करनेका ही है न ? सरले, तू तो प्यार-दुलार करना ही जानती है न ? तो फिर यह संतति-त्याग तुझे शोभा देगा ? अच्छा, थोड़ी देरको तू अब छोड़ ही देख। तू ऐसा कर न सकेगी। तेरे लिये, माँ, यह असंभव है—

कियौ दुलार-प्यार निसि-बासर जाहि प्रान ज्यों राख्यौ ;
पलहूँ पलकओट नहिं कीनों, सतत छेम अभिलाख्यौ ।
पाल्यौ पुलकि जाहि, पालत है कोऊ ममता जैसे ;
अरी बावरी जननि ! ताहि तू त्यागि सकैगी कैसे ?

पर कुछ वश न चला। उस दिन उस पगली माँने इस अधम कुपुत्रका परित्याग कर ही दिया। न जाने रुष्ट होकर वह गुरु-स्वरूपिणी माता कहाँ चली गई। रुष्ट कैसे कहूँ। शिव!

शिव ! मेरी माँ मुझपर कभी रुष्ट हो सकती है ? वह दयामयी, वह करुणामयी माँ !

हौं सठ हठि नित करी ढिठाई, कबहुँ न आज्ञा मानी ;
दिये दुःख-ही-दुख कछु ऐसी हृदय दुष्टता ठानी।
माँ, मेरो यह दोष-नीर-निधि जदपि अपार अगाध ,
तऊ कृपा करि दियो अकथ सुख भूलि अमित अपराध ॥

उन चरणोंकी छाप इस कलुपित मस्तकपर अब भी लगी है, यही आश्चर्य है ! उस कर-कमलकी इस अनाथपर आज भी छाया पड़ रही है। अहोभाग्य मेरा, अहोभाग्य !

अधम अज्ञ अघरूप पतित यह अपनायौ करि प्यार।
नेह-नगरकी डगर धराई, जहँ न विषम भव-धार ॥

पर, दयामयि ! तू निर्दय नहीं है ऐसा कैसे कहूँ ! तू निर्दय है और बड़ी निर्दय है। तूने, देख, कबसे मुझे दर्शन नहीं दिया है, माँ ! हाँ, प्रत्यक्ष दर्शन तूने तबसे कब दिया ? माँ ! एक ही बार तेरा दर्शन चाहता हूँ; दयाकर दे दे—

बिन तेरो दरसन भये, यह जीवन भू-भार।
मैया, झलक दिखाय दै, टुक अपनी इकबार ॥

पर मैं क्या मुहँ लेकर तुझसे यह भीख माँगूँ। कहाँ मेरी कृतघ्नता और कहाँ तेरी दयालुता !

रटत न कबहूँ नाम ढीठ तव 'हरी' हठीलो ;
घुमत रहत चित-चक्र, परत बंधन नहिं ढीलो।
राखि तदपि निज छाहँ,बाहँ, बलि, थामि लेति तूँ ;
जब-कब सपने अजहुँ, अम्ब ! अवलम्ब देति तूँ ॥

प्रकृतिमें ईश्वर-प्रेम

ण्य प्रभात, सरला सन्ध्या, सुचारु चन्द्रोदय, शीतल मन्द सुरभित समीर, पद्मपूर्ण सरोवर, निर्मल निर्झर कामोद्दीपक वसन्त-वैभव आदि प्राकृतिक दृश्योंकी माधुरीमय मनोरमतापर अगणित साहित्यिक सूक्तियों और अनोखी सूझोंका हमारे सुकवियोंने एक अनुपम भारती-भाण्डार भर रखा है। निस्सन्देह उन कुशल काव्य-कलाकारोंने कमालका प्रकृति चित्राङ्कण किया है। गज़बकी हैं उनकी सूझें। बरबस मुँहसे 'वाह वाह' निकल पड़ती है। ख़ासा मनोरञ्जन हो जाता है। कौन ऐसा अभागा होगा, जो उस नवरसमयी प्रकृति-वर्णनाका असीम आनन्द न लूटना चाहेगा? किसी सूक्तिमें शृङ्गारकी मधुर मादकता मिलेगी, तो किसीमें आपको शान्तरसकी स्वर्गीय सुधा प्राप्त हो जायगी। तात्पर्य यह है, कि उन सुकवियोंका काव्य-कौशल देखते ही बनता है। पर खेद है, कि हमारा प्रस्तुत विषय, एक प्रकारसे, उन मनोरंजिनी सूक्तियोंके प्रति उदासीन ही रहेगा। हमारी दृष्टिमें तो प्रकृति एक दर्पण है, जिसमें हम सुन्दरतम प्रेमका प्रतिबिम्ब देखा करते हैं। नेचर वह आईना है, जिसमें हमें अपनी रूहानी मस्तीकी प्यारी सूरत नज़र आती है।

इस दशामें प्रकृति में 'मैं' को और 'मैं' में प्रकृतिकी प्यारी झलक देखनेको मिला करती है, प्रेमका सागर लहराने लगता है—

नशेमें जवानीके माशूक़ नेचर
है लपटी हुई 'राम' से मस्त होकर।
जिधर देखता हूँ, जहाँ देखता हूँ
मैं अपनी ही ताब औ शाँ देखता हूँ।

प्रकृति रानीने यह सारा सुहाग-सिंगार मेरे प्रेमको रिझानेके लिए ही सँवारा है। जहाँ देखता हूँ, तहाँ मेरा प्रेम-ही-प्रेम है। प्रकृतिके रूपमें यह मेरा प्यारा प्रेम ही जहाँ-तहाँ दिखाई दे रहा है। प्यारी छबीली नेचर मेरे प्यारे प्रेमपर जान दे रही है। मस्त स्वामी राम झूम-झूमकर कैसा गा रहा है—

ये पर्वतकी छाती पे बादलका फिरना,
वो दमभरमें अब्रोंसे पर्वतका घिरना।
गरजना, चमकना, कड़कना, निखरना,
छमाछम छमाछम ये बूँदोंका गिरना।
उसे फ़लकका ये हँसना ये रोना,
मेरे ही लिए ही फ़क़त जान खोना।

और यह अठिलाती हुई हरी-भरी नौजवान फुलवाड़ी! ये रंग-रंगके मतवाले फूल। यह सब मेरे प्रेमकी ही रंगत है, मेरे प्रेमकी ही बू है!

ये मेरी ही रंगत है, मेरी ही बू है!

मेरी प्रेमात्माका बारहमासी वसन्त इन लहलही फुलवाड़ियोंको छातीसे लगाये फूला नहीं समाता। मेरे प्रेमकी मस्ती प्रकृतिके साथ कैसी अठखेलियाँ कर रही है! कैसी निखरी हुई सुन्दरता है प्यारी प्रकृति रानीकी। इसका चाँद-सा मुखड़ा देखकर किसका दिल प्रेमसे भरकर न नाचने लगेगा। क्या रंग है, क्या मौज है, वाह!

स्वामी रामतीर्थ यह क्या देखकर यहाँ ऐसे आनन्दमग्न हो रहे हैं। कहते हैं—

"पानी इतना तो गहरा, लेकिन शफ़्फ़ाफ़ ऐसा, कि प्यारी गंगी याद आती है। गोपियाँ अगर यहाँ नहातीं तो गोकुलचाँदको कभी ज़रूरत न पड़ती, कि इनको बरहना तन (नग्न) देखनेके लिए पानीसे बाहर निकालनेकी तकलीफ़ देता। यह झलकते-झलकते ऊँचे आबशार चाँदीके कमन्द और रस्से मालूम देते हैं कि जिनको पकड़कर आलम उलवी (स्वर्ग) को चढ़ जायें। या यह हीरेकी गातवाली कंचनियाँ (चादरें) हैं जो सरके बल रफ्सकुना (नाचती हुई) ज़मीन ख़िदमत चूम रही हैं और निहायत सुरीली आवाज़से रामकी महिमाके गीत गाती जाती हैं।"

प्रेममयी प्रकृतिको हृदय-हारिणी शोभाको देखकर प्रेमीका दीवाना दिल मस्त हो बाँसों ऊँचा उछलने लगता है। उस समय वह मानो सारी नेचरको अपनी छातीसे चिपटा

लेता है। जो कुछ भी उस हालतमें कह डालता है, वह असली कविताके रंगमें रँगा होता है।

जरा, मतवाले रामका यह प्रिय-तल्लीनतासे पूर्ण प्रकृति-गान तो सुनो—

बाँकी अदाएँ देखो, चन्दा-सा मुखड़ा पेखो।
बादलमें बहते जलमें, वायूमें तेरी लटकें;
तारोंकी नाजुनीमें, मोरोंमें तेरी मटकें।
चलना ठुमक-ठुमककर, लालनका रूप धरकर;
घूँघट-अबर उलटकर, हँसना ये बिजली बनकर।
शबनम गुल और सूरज, चाकर हैं तेरे पदके;
यह आनबान सजधज, ऐ राम! तेरे सदके।

प्रकृति-रमणके इस सुन्दरतम रूपपर किसका मन न्योछावर होनेको अधीर न हो जायगा?

× × × ×

बलिहारी उस विश्व-विमोहनकी बाँकी छविपर। यह सब उस कृष्णको ही देखनेकी तो तैयारी है। दूधके सागरमें नहा-नहाकर ये सब उसे देखनेको खड़े हैं। प्यारी प्रकृतिने अपने अंग-अंगको दूधसे पखारा है। पृथिवीसे आकाशतक दूध-ही-दूध देख पड़ता है। ये मोतियोंकी कनियाँ बिखरी पड़ी हैं या कपूरका चूर बिछा हुआ है? यह सब पारेकी प्रभा तो नहीं है? क्या रजत-राशि है? नहीं, भाई! चाँदनीकी चादर ओढ़कर यह तो निर्गुण ब्रह्मकी ज्योति इन कलित कुंजोंमें प्यारे

वृन्दावन-चन्द्रका सगुण स्वरूप देखने आई है। रसिक-वर नागरीदासजी कहते हैं—

पूरन-सरद-ससि उदित प्रकासमान,
कैसी छबि छाई देखौ बिमल जुन्हाई है।

अवनि अकास गिरि कानन यौ जल थल
व्यापक भई सो जिय लागति सुहाई है॥

मुकता, कपूर-चूर, पारद, रजत आदि-
उपमा ये उज्जल पै 'नागर' न भाई है।

वृन्दावन-चन्द चारु सगुन विलोकिवेकों
निरगुन ज्योति मानौं कुंजनमें आई है॥

यह चाँदनी नहीं है, यह तो ज्ञानकी गंगा प्रेमके सागरसे मिलने-भेंटने आई है। निर्गुण ब्रह्मकी ज्योति सगुण श्यामके चेहरेपर झिलमिला रही है। प्रकृतिकी प्रेम-धारामें उछल-उछलकर नहाना क्या उस प्यारे कृष्णको रिझाना नहीं है? अहा! उस मोहनकी मधुर मुसकान प्रकृतिके इस निखरे हुए रूपमें हमारे मनको कैसा मोह रही है!

खोल चन्द्रकी खिड़की जब तू स्वर्ग-सदनसे हँसता है,
पृथिवीपर नवीन जीवनका नया विकास विकसता है।
जीमें आता है, किरनोंमें घुलकर केवल पलभरमें,
बरस पड़ूँ मैं इस पृथिवीपर विस्तृत शोभा-सागरमें।

—रामनरेश त्रिपाठी

उस दूध-जैसी मुसकानकी प्यालीमें यदि हम अपने जीवनको मिश्रीकी डलीकी तरह घोलकर एकरस कर दें, तो

हमारी सारी प्रकृति उसी क्षण सौन्दर्य-सागरमें कलोल करने लगे। यह अभिलाषा ही कितनी मधुर है! हमारी यह प्रकृति-अभिलाषा जितनी ही जल्दी प्रेम-धारामें डूब जाय उतना ही अच्छा।

× × × ×

कैसी विशद व्यापकता है उस सुन्दरतमके सौन्दर्यकी! अखिल ब्रह्माण्डमें सौन्दर्य और माधुर्यको छोड़ और है ही क्या? उसने अपने सौन्दर्यके बाणोंसे प्यारी प्रकृतिका रोम-रोम वेध डाला है। कैसा अलौकिक आखेटक है वह प्यारा पुरुषोत्तम!

उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा॥
गगन नखत जो जाहिं न गने। वै सब बान ओहिके हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी॥
रोवँ-रोवँ मानुस-तन ठाढ़े। सूतहि सूत बेधि अस गाढ़े॥
बरुनि बान अस ओ पहँ, बेधे रन बन-ढाँख।
सौजहिं तन सब रोवाँ, पंखिहिं तन सब पाँख॥

—जायसी

उस अनोखे शिकारीने अपने अचूक तीरोंसे सभीको बेध दिया है, किसीको अछूता नहीं छोड़ा। प्रकृतिका प्रत्येक अणु-परमाणु सौन्दर्य-बाणोंसे आहत होकर तड़प रहा है। सभी उसी तीर चलानेवालेकी खोजमें हैं। प्रकृति उस सुन्दरतमके पूर्ण सौन्दर्य-को देखनेके लिए न जाने कबसे विरहाकुल है। उस लौसे लिपट जानेको दुनियाभरके प्रेमी पतंगे प्रयत्न करते रहते हैं, पर उनकी

अवशेष अहंभावना उन्हें वहाँतक पहुँचने नहीं देती, और उनकी साध पूरी नहीं हो पाती। न सूरज ही उस अलबेले तीरंदाज़के पासतक पहुँच पाया और न चाँद ही। न पवनने ही अभीतक उस प्यारेका मधुमय स्पर्श कर पाया और न जलने ही अबतक उसके पैर पखार पाये हैं। वियोगिनी आग भी निराश होकर तभीसे आहें भर रही है—

चाँद सुरुज औ नखत तराइं। तेहि डर अँतरिख फिरहिं सबाई॥
पवन जाइ तहँ पहुँचै चहा। मारा तैस लोटि भुइँ रहा॥
अगिनि उठी, जरि-बुझी निआना। धुआँ उठा, उठि बीच बिलाना॥
पानि उठा, उठि जाइ न छूआ। बहुरा रोइ आइ भुइँ चूआ॥

—जायसी

सौन्दर्य-शरोंसे बिधी हुई प्रकृतिके आहत अंगोंकी परम प्रेम ही अबतक रक्षा किये हुए है। प्रेमकी धवलधाराने ही इन सारे घायलोंको प्रिय-मिलनकी आशा दे रखी है। प्रकृतिका महान् उपकार किया है इस प्रेम-धाराने। धन्य!

ओस तृण-लता-कुसुम-विटप-पल्लव-सिंचन-रत।
बहु तरु चन्दन-करी सुरभि मलयाद्रि-अंकगत॥
विविध दिव्य मणि जनित ज्योति उज्ज्वल उपकारी।
बहु औषधी-प्रसूत शक्ति जीवन-संचारी॥
जगत-जीव-प्रतिपालिका, पय धारा उरजों भरी।
क्या हैं? नाना मूर्तिधर 'प्रेम-धार' ही अवतरी॥

—हरिऔध

दीनोंपर प्रेम

हम नामके ही आस्तिक हैं। हर बातमें ईश्वरका तिरस्कार करके ही हमने 'आस्तिक' की ऊँची उपाधि पाई है। ईश्वरका एक नाम 'दीनबन्धु' है। यदि हम वास्तवमें आस्तिक हैं, ईश्वर-भक्त हैं तो हमारा यह पहला धर्म है, कि दीनोंको प्रेमसे गले लगायँ, उनकी सहायता करें, उनकी सेवा करें, उनकी शुश्रूषा करें। तभी न दीनबन्धु ईश्वर हम-पर प्रसन्न होगा? पर ऐसा हम कब करते हैं? हम तो दीन-दुर्बलोंको ठुकरा-ठुकराकर ही आस्तिक या दीनबन्धु भगवान्के भक्त आज बने बैठे हैं। दीनबन्धुकी ओटमें हम दीनोंका खासा शिकार खेल रहे हैं। कैसे अद्वितीय आस्तिक हैं हम! न जाने क्या समझकर हम अपने कल्पित ईश्वरका नाम दीनबन्धु रखे हुए हैं, क्यों इस रद्दी नामसे उस लक्ष्मी-कान्तका स्मरण करते हैं—

दीननि देखि घिनात जे, नहिँ दीननि सों काम।
कहा जानि ते लेत हैं, दीनबन्धु कौ नाम॥

यह हमने सुना अवश्य है, कि त्रिलोकेश्वर श्रीकृष्णकी मित्रता और प्रीति सुदामा नामके एक दीन-दुर्बल ब्राह्मणसे

थी। यह भी सुना है, कि भगवान् यदुराजने महाराज दुर्योधनका अतुल आतिथ्य अस्वीकार कर बड़े प्रेमसे ग़रीब विदुरके यहाँ साग-भाजीका भोग लगाया था। पर यह बातें चित्तपर कुछ बैठती नहीं हैं। रहा हो कभी ईश्वरका दीनबन्धु नाम, पुरानी सनातनी बात है, कौन काटे। पर हमारा भगवान्, दीनोंका भगवान् नहीं है। हरे हरे! वह उन घिनौनी कुटियोंमें रहने जायगा? वह रत्न-जटित स्वर्ण-सिंहासनपर विराजनेवाला ईश्वर उन भुक्खड़ कंगलोंके फटे-कटे कम्बलोंपर बैठने जायगा? वह मालपुआ और मोहनभोग आरोगनेवाला भगवान् उन भिखारियोंकी रूखी-सूखी रोटी खाने जायगा? कभी नहीं हो सकता। हम अपने बनवाये हुए विशाल राज-मन्दिरोंमें उन दीन-दुर्बलोंको आने भी न देंगे। उन पतितों और अछूतोंकी छाया तक हम अपने खरीदे हुए ख़ास ईश्वरपर न पड़ने देंगे। दीन-दुर्बल भी कहीं ईश्वरभक्त होते सुने हैं? ठहरो, ठहरो, यह कौन गा रहा है? ठहरो, ज़रा सुनो। वाह! तब यह खूब रहा!

मैं ढूँढ़ता तुझे था जब कुंज और वनमें,
तू खोजता मुझे था तब दीनके वतनमें।
तू आह बन किसीकी मुझको पुकारता था,
मैं था तुझे बुलाता संगीतमें, भजनमें।

तो क्या हमारे श्रीलक्ष्मीनारायणजी "दरिद्र-नारायण" हैं? इस फ़क़ीरकी सदासे तो यही मालूम हो रहा है। तो क्या हम भ्रममें थे? अच्छा, अमीरोंके शाही महलोंमें वह पैर भी नहीं रखता!

मेरे लिए खड़ा था दुखियोंके द्वारपर तू,
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमनमें।
हज़रत खड़े भी कहाँ होने गये!
बेवस गिरे हुओंके तू बीचमें खड़ा था,
मैं स्वर्ग देखता था, झुकता कहाँ चरनमें!

—रामनरेश त्रिपाठी

तो क्या उस दीन-बन्धुको अब यही मंज़ूर है, कि हम अमीर लोग, धन-दौलतको लात मारकर उसकी खोजमें दीन-हीनोंकी झोपड़ियोंकी ख़ाक छानते फिरें?

× × × ×

दीन-दुर्बलोंको अपने असह्य अत्याचारोंकी चक्कीमें पीसनेवाला धनी परमात्माके चरणों तक कैसे पहुँच सकता है। धनान्धको स्वर्गका द्वार दीखेगा ही नहीं। महात्मा ईसाका यह वचन क्या असत्य है—

If thou wilt be perfect, go and sell that thou hast and give to the poor, and thou shalt have treasure in heaven; and come and follow me. Verily I say unto you, that a rich man shall hardly enter into the kingdom of heaven. And again I say unto you, it is easier for a camil to go through the eye of a needle than for a rich man to enter into the kingdom of God.

अर्थात्, यदि तू सिद्ध पुरुष होना चाहता है, तो, जा, जो

कुछ धन-दौलत तेरे पास हो, वह सब बेचकर कंगालों को दे दे। तुझे अपना ख़ज़ाना स्वर्गमें सुरक्षित रखा मिलेगा। तब, आ और मेरा अनुयायी हो जा। मैं तुमसे सच कहता हूँ, कि धनवान्के स्वर्गके राज्यमें प्रवेश करनेकी अपेक्षा ऊँटका सुईके छेदमेंसे निकल जाना कहीं आसान है। सहजोबाई भी यही बात कह रही हैं—

बड़ा न जानै पाइहै साहिबके दरबार।
द्वारे ही सूँ लागिहै 'सहजो' मोटी मार॥

वह ग़रीबोंकी गाँठका धन गान्धी भी तो इसी दीन-प्रेम-पर पागल हो रहा है। खादी उसे क्यों इतनी प्यारी है? इस-लिए कि उसे वह देशके ग़रीबोंका प्रत्यक्ष दर्शन कराती है और उन ग़रीबोंके द्वारा वह दीनबन्धु रामका दर्शन कर रहा है। उसके खादी-प्रेमका यही तो गूढ़ रहस्य है। नास्तिक पूँजी-पतिके प्रेमहीन हृदयमें ग़रीबपरवर गान्धीकी खादीको कैसे जगह मिल सकती है? किसानों और मज़दूरोंकी टूटी-फूटी झोपड़ियोंमें ही प्यारा गोपाल वंशी बजाता मिलेगा। वहाँ जाओ और उसकी मोहिनी छवि निरखो। जेठ-बैसाखकी कड़ी धूपमें मज़दूरके पसीनेकी टपकती हुई बूँदोंमें उस प्यारे रामको देखो। दीन-दुर्बलोंकी निराशा-भरी आँखोंमें उस प्यारे कृष्णको देखो। किसी धूल भरे हीरेकी कनीमें उस सिरजनहारको देखो। जाओ, पतित पद-दलित अछूतकी छायामें उस लीला-विहारीको देखो। उस प्यारे श्यामकी छवि देखनी हो है, तो, आओ, यहाँ आओ, तुम्हें आज हम वह दिखायँ—

श्रमी किन्तु निर्धन मजूरकी अति छोटी अभिलाषामें ;
पतिकी बाट जोहती बैठी गरीबनीकी आशामें ।
भूख-प्याससे दलित दीनकी मर्म-भेदिनी आहोंमें ;
दुखियोंके निराश आँसूमें, प्रेमी जनकी राहोंमें ।

तुम न जाने उसे कहाँ खोज रहे हो ! अरे भाई, यहाँ वह कहाँ मिलेगा ? इन मन्दिरोंमें वह राम न मिलेगा । इन मसजिदोंमें अल्लाहका दीदार मुश्किल है । इन गिरजोंमें कहाँ परमात्माका वास है । इन तीर्थोंमें वह मालिक रमनेका नहीं । गाने बजानेसे भी वह रीझनेका नहीं । अरे, इस सब चटक-मटकमें वह कहाँ ? वह तो दुखियोंकी आहमें मिलेगा । ग़रीबोंकी भूखमें मिलेगा । दीनोंके दुःखमें मिलेगा । सो वहाँ तुम खोजने जाते नहीं । यहाँ व्यर्थ खोजते-फिरते हो !

दीनबन्धुका निवास-स्थान दीन-हृदय है । दीन-हृदय ही मन्दिर है, दीन-हृदय ही मसजिद है, दीन-हृदय ही गिरजा है । दीन-दुर्बलका दिल दुखाना भगवान्का मन्दिर ढहाना है । दीनको सताना सबसे भारी धर्मविद्रोह है । दीनकी आह समस्त धर्म-कर्मोंको भस्मसात् कर देनेवाली है । सन्तवर मलूकदासने कहा है—

दुखिया जनि कोइ दूखिये , दुखिये अति दुख होय ।
दुखिया रोइ पुकारिहै , सब गुड़ माटी होय ॥

दीनोंको सताकर उनकी आहसे कौन मूर्ख अपने स्वर्गीय जीवनको नारकीय बनाना चाहेगा, कौन ईश्वर-विद्रोह करनेका दुस्साहस करेगा? ग़रीबकी आह भला कभी निष्फल जा सकती है—

'तुलसी' हाय गरीबकी, कबहुँ न निष्फल जाय।
मरे बैलके चामसों, लोह भसम ह्वै जाय॥

औरकी बात हम नहीं जानते, पर जिसके हृदयमें थोड़ा सा भी प्रेम है, वह दीन-दुर्बलोंको कभी सता ही नहीं सकता। प्रेमी निर्दय कैसे हो सकता है? उसका उदार हृदय तो दयाका आगार होता है। दीनको वह अपनी प्रेममयी दयाका सबसे बड़ा और पवित्र पात्र समझता है। दीनके सकरुण नेत्रोंमें उसे अपने प्रेमदेवकी मनोमोहिनी मूर्त्तिका दर्शन अनायास प्राप्त हो जाता है। दीनकी मर्म-भेदिनी आहमें उस पागलको अपने प्रियतमका मधुर आह्वान सुनाई देता है। इधर वह अपने दिलका दरवाज़ा दीन-हीनोंके लिए दिन-रात खोले खड़ा रहता है, और उधर परमात्माका हृदय-द्वार उस दीन प्रेमीका स्वागत करनेको उत्सुक रहा करता है। प्रेमीका हृदय दीनोंका भवन है, दीनोंका हृदय दीनबन्धु भगवान्‌का मन्दिर है और भगवानका हृदय प्रेमीका वास-स्थान है। प्रेमीके हृदेशमें दरिद्रनारायण ही एकमात्र प्रेम-पात्र है। दरिद्र-सेवा ही सच्ची ईश्वर-सेवा है। दीनदयालु ही आस्तिक है, ज्ञानी है, भक्त है और प्रेमी है। दीनदुखियोंके दर्दका मर्मी ही महात्मा है। ग़रीबोंकी पीर जाननेहारा ही सच्चा पीर है। कबीरने कहा है—

'कबिरा' सोई पीर है, जो जानै पर-पीर।
जो पर-पीर न जानई, सो काफिर बेपीर॥

स्वदेश-प्रेम

पनी पूज्य जन्म-भूमिके आगे, अपने प्यारे देशके सामने उस रंक इन्द्रका स्वर्ग किस गणनामें है। इसमें सन्देह ही क्या, कि—

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी

स्वदेश स्वर्गसे ऊँचा न होता, तो भगवान् रामके मुखसे ये दिव्य उद्गार निकलते ही क्यों—

जद्यपि सब वैकुण्ठ बखाना। वेद-पुरान-विदित जग जाना॥
अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ-कोऊ॥
अति प्रिय मोहि इहाँके बासी। मम धामदा पुरी सुख-रासी॥

—तुलसी

और द्वारकाधीश श्रीकृष्ण अधीर हो-होकर बार बार क्यों अवरुद्ध कण्ठसे यह कहते—

ऊधो, मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
हंस-सुताकी सुंदरि कगरी, अरु कुंजनकी छाहीं॥
वे सुरभी, वे बच्छ, दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल-बाल सब करत कोलाहल, नाचत गहि-गहि बाहीं॥
अनगन भाँति करी बहु लीला जसुदा-नंद निबाहीं।
'सूरदास' प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि-कहि पछताहीं॥

अपने प्यारे देशकी सुध करके कौन ऐसा पाषाणहृदय प्राणी होगा, जो प्रेमसे विह्वल न हो जायगा। जिसकी रजमें लोट-लोटकर हम खेले हैं, जहाँकी गायोंका हमने मीठा मीठा दूध पिया है, जहाँके हरे-भरे खेतोंका हमने अन्न खाया है, जहाँकी चुलबुली नदियोंमें हमने कूद-कूदकर कलोल किया है, जहाँकी हवासे हमने अपने मधुरतम जीवनकी साँसें भरी हैं, जहाँके आकाशमें हमने अपने स्वर्ण-स्वप्नों-को तैराया है, वहाँकी प्यारी-प्यारी यादपर क्या हम दो बूँद आँसू भी न चढ़ायें ? अपने देशको देखकर हम आनन्द-सागरमें क्यों न डूब जायँ ?

जिसकी रजमें लोट-लोटकर बड़े हुए हैं ;
घुटनोंके बल सरक-सरककर खड़े हुए हैं।
परमहंस-सम बाल्य-कालमें सब सुख पाये ;
जिसके कारण धूल-भरे हीरे कहलाये।
हम खेले-कूदे हर्षयुत जिसकी प्यारी गोदमें ;
हे मातृभूमि, तुझको निरख मग्न क्यों न हों मोदमें ?

—मैथिलीशरण गुप्त

जिसके दिलमें देशके लिए दर्द नहीं, वह मुर्दा है। वह दिल जिन्दादिल कैसे कहा जा सकता है ?

जिसको न निज गौरव तथा निज देशका अभिमान है।
वह नर नहीं, नर-पशु निरा है, और मृतक-समान है॥

जिसने हुब्बेवतन (स्वदेश-प्रेम) की मस्तीमें झूम-झूमकर यह नहीं गा लिया, कि—

गुंचे हमारे दिलके इस बाग़में खिलेंगे,
इस ख़ाकसे उठे हैं, इस ख़ाकमें मिलेंगे।

उस मुर्दा-दिलको प्रेम-रसकी मिठास कहाँ नसीब हो सकती है? अपने देशकी पवित्र ख़ाकपर जिसने अपने जीवनकी प्यारी-प्यारी घड़ियाँ नहीं चढ़ा दीं, वह, समझ लो, मरतेदम तक प्रेम-रसका प्यासा ही रहा। न वह विश्व-प्रेम ही पा सकेगा और न ईश्वर-प्रेम ही साध सकेगा। वह मस्त स्वामी राम, जो अपना दिल विश्व-प्रेमके गाढ़े रँगमें रँग चुका था, देखो, भारत-भक्तिकी गंगामें डुबकियाँ लगाता हुआ क्या कह रहा है—

"मैं सदेह भारत हूँ। सारा भारतवर्ष मेरा शरीर है। कन्याकुमारी मेरा पैर और हिमालय मेरा सर है। मेरे बालोंकी जटाओंसे गंगा बह रही है। मेरे सरसे ब्रह्मपुत्र और अटक निकली हैं। विन्ध्याचल मेरा लंगोट है। कारामंडल मेरा दायाँ और मलाबार मेरा बायाँ पैर है। मैं सम्पूर्ण भारत हूँ। पूर्व और पश्चिम मेरी दोनों भुजाएँ हैं, जिनको फैलाकर मैं अपने प्यारे देश-प्रेमियोंको गले लगाता हूँ। हिन्दुस्तान मेरे शरीरका ढाँचा है, और मेरी आत्मा सारे भारतकी आत्मा है। चलता हूँ तो अनुभव करता हूँ, कि

तमाम हिन्दुस्तान चल रहा है, और जब मैं बोलता हूँ, तो तमाम हिन्दुस्तान बोलता है।"

वह आत्माराम रामतीर्थ स्वदेश-प्रेममें उन्मत्त होकर एक स्थलपर लिखता है—

"ऐ गुलामी! अरे दासपन! अरी कमज़ोरी! अब समय आ गया, बाँधो बिस्तर, उठाओ लत्ता-पत्ता, छोड़ो मुक्तपुरुषोंके देशको। सोनेवालो! बादल भी तुम्हारे शोकमें रो रहे हैं; बह जाओ गंगामें, डूब मरो समुद्रमें, गल जाओ हिमालयमें। रामका यह शरीर नहीं गिरेगा, जबतक भारत बहाल न हो लेगा। यह शरीर नाश भी हो जायगा, तो भी इसकी हड्डियाँ दधीचिकी हड्डियोंके समान इन्द्रका वज्र बनकर द्वैतके राक्षसको चकनाचूर कर ही देंगी। यह शरीर मर भी जायगा, तो भी इसका ब्रह्म-बाण नहीं चूक सकता।"

ज़रा आँख फाड़कर देख लें आगकी इन चिनगारियोंको, ज़रा कानका पर्दा हटाकर सुन लें वज्रकी इन कड़कोंको। विश्व-प्रेमका स्वाँग रचनेवाले वे विलासी निठल्ले और ज्ञान-भक्तिकी ध्वजा उड़ानेवाले वे काम-कांचनके दास। उस अवधूतका यह मस्ती-भरा गीत भी वे सुन लें—

देखा है, प्यारे, मैंने दुनियाका कारख़ाना;
सैरो-सफ़र किया है, छाना है सब ज़माना।
अपने वतनसे बेहतर कोई नहीं ठिकाना;
प्यारे वतनको गुलसे खुशतर है सबने माना।

देश-भक्तिकी क्या ही रँगीली गंगा बह रही है !

सारे जहाँसे अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा।
हम बुलबुलें हैं उसकी, वह बोस्ताँ हमारा॥

× × × ×

क्या सचमुच ही 'सारे जहाँसे अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' है ? शक ही क्या। अच्छा, आप ही कहें—

कहाँ है कोई ऐसा स्थान, जगतमें जैसा हिन्दुस्तान ?
हमारा प्यारा हिन्दुस्तान, जगतसे न्यारा हिन्दुस्तान।
कि जिसको प्रेमी श्रीभगवान, करें नित नूतन प्रेम-प्रदान।
अतः कर बड़ा प्रेम-अभिमान, प्रेमकी रखता हो जो शान।
पड़ी हो जिसे प्रेमकी बान।
कहाँ है कोई ऐसा स्थान, जगतमें जैसा हिन्दुस्तान ?
हमारा प्यारा हिन्दुस्तान, जगतसे न्यारा हिन्दुस्तान।

भले ही समझदार लोग इसे हमारा भावावेश कहें—उनके कहनेकी हमें कोई पर्वा नहीं। प्रेममें भावुकता न हो, यह कैसे हो सकता है ? भावुकता कर्म-साधनामें कैसे बाधा पहुँचायगी, यह हमारी समझमें नहीं आता। आज संसारका सर्वश्रेष्ठ पुरुष गान्धी क्या भावुक नहीं है ? उसकी भावुकतामें ही तो उसका महात्मापन है। वह डेढ़ पसलीका गान्धी आज अपनी भावुकतासे ही तो हमारे हृदयमें घोर प्रलय मचा रहा है।

कुछ कहो, भाई, हम तो यही गायँगे और फिर गायँगे। ईश-प्रेम वा विश्व-प्रेमका संगीत हमारी इसी भावनामें विद्यमान है—

सारे जहाँसे अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा।
हम बुलबुलें हैं उसकी, वह बोस्ताँ हमारा॥

पागल होकर ज़रा अलापो तो, भाई, इस दिव्य भारत-गीतको। दिलमें कैसी एक लहर उठती है, हृदयसे कैसा कुछ रस छलकने लगता है। ज़रा अपने दीवाने दिलको नचाओ तो देश-प्रेमकी विलोल लहरोंपर। तनिक अपनी आँखोंको रुला तो देखो देशकी दीन-हीन आत्माके साथ। देश-प्रेममें मस्त होकर एक बार कह तो दो, मेरे प्यारे!

हुब्बे वतन समाये आँखोंमें नूर होकर,
सरमें ख़ुमार हो कर, दिलमें सुरूर होकर।

उँजेला भर दे, ऐ प्यारे देशप्रेम, इन अँधेरी आँखोंमें; उड़ेल दे वह मर-मिटनेकी मस्तीकी प्याली इन बातूनी दिमाग़ोंमें; डाल दे वह आनन्दकी जान इन मुरदार दिलोंमें। तू समा जा, हमारे दिलोंमें समा जा, हमारे दिमाग़ोंमें समा जा, हमारी नस-नसमें समा जा, रोम रोममें समा जा। ऐ हमारे देश! ऐ हमारे देशके प्रेम! तुझे छोड़ और किसे प्यार करें? कोई किसीको प्यार करता है, कोई किसीको प्यार करता है, पर हम कुचले हुए ग़रीबोंका धन तो एक तू ही है, हमारी धुँधली आँखोंका तारा तो तू ही है, हमारे प्राणोंका प्यारा तो तू ही है। 'चकबस्त' साहबने सच कहा है—

बुलबुलको गुल मुबारक, गुलको चमन मुबारक ;
हम बेकसोंको अपना प्यारा वतन मुबारक।

हमारा देश, हमारा प्राण-प्यारा देश ही हमारा जीवन-सर्वस्व है, हमारा आराध्य विश्व है, हमारा उपास्य ईश है। हमारे यहाँ की ग़रीब मज़दूरिन भी प्यारे भारतपर बलि-बलि जाती है। पुतलीघरकी वह मतवाली मज़दूरिन कैसा मीठा मद-भरा गीत गा रही है!

मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ।
गुइयाँ, मैं तो भारतपै बलि-बलि जाऊँ।
भारत है मेरा प्राणोंका प्यारा,
दिलका दुलारा, जीवन-अधारा।
उसपै तनमनको वारूँ, उसपै त्रिभुवनको हारूँ;
उसको पलकों पै धारूँ, उसको दिलपै बैठारूँ;
मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ,
गुइयाँ, मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ।

भारत है मेरा प्यारा ललनवा,
करता कलोलें मेरे दिलके पलनवा;
उसको गोदिया उठाऊँ, उसके कजरा लगाऊँ,
उसको मल-मल न्हिलाऊँ उसको अँचरा पिलाऊँ,
मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ,
गुइयाँ, मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ।

—श्रीधर पाठक

तभी तो यह विवेकी और तेजस्वी भारत उस मतवाली मज़दूरिनको एक दिन अपने साम्राज्यकी रानी बनाने जा रहा है। जो उसपर बलि-बलि जा रही है, वही रानी होगी—इसमें सन्देह ही क्या? जो सेवा करेगा, वही मेवा खायगा। मज़दूर अपने देशपर मरना जानता है। किसान अपने प्यारे खेतमें खादकी तरह खप जाना जानता है। इसीलिए भारत आज उन्हें अपने अङ्कमें भर रहा है, उन्हें अपना रहा है और ख़ुद उनका बन रहा है। वह तो प्रेमका भूखा है। देश उसीका है, जो उसपर प्रेमपूर्वक बलि हो जाता है। पूँजी-पतियोंके प्रेम-हीन हृदयोंमें वह कैसे रह सकता है? मुक्त पुरुषोंके देशको ये क्षुद्र लक्ष्मीके दास कबतक क़ैद किये रहेंगे? निश्चय है, कि वह इन मदान्ध सत्ता-धारियोंके हाथसे मुक्त होगा और अवश्य होगा। पर उसे करेंगे स्वतन्त्र वे ही डरावने अस्थि-कंकाल, जिनकी नस-नसका ख़ून बड़ी निर्दयतासे चूस लिया गया है, पर जिनके दिलोंमें देश-प्रेमका तूफ़ानी समुद्र अब भी क्रान्ति-क्रीड़ा कर रहा है। जिनकी यही एकमात्र अभिलाषा है, वे ही स्वतन्त्र भारतका मुख-चन्द्र देखेंगे—

गर्दों ग़ुबार याँका ख़िलअत है अपने तनको;
मरकर भी चाहते हैं ख़ाके वतन कफ़नको।

—चकबस्त

'यह प्रेम कौ पंथ करार महा तरवारकी धार पै धावनो है'–इस भीपण सत्यका प्रत्यक्ष अनुभव एक देश-प्रेमीको ही होता है। खाँड़ेकी धारपर दौड़ना है देशसे प्रीति जोड़ना और अन्ततक उसे एकरस निभा ले जाना। एक पंजाबी गीतमें कोई पागल प्रेमी गा गया है—

> सेवा देशदी जिंदड़िए बड़ी औखी,
> गल्लां करनियाँ ढेर सुखल्लियाने।
> जिन्हाँ इस सेवा विच पैर पाया,
> उन्हें लक्ख मुसीबताँ झल्लियाने।

अरे, बड़ी कठिन है देशकी सेवा। बातें बनाना तो बड़ा आसान है, पर मर्दानगीसे कुछ कर दिखाना ज़हरका घूँट पीना है। जिन अल्हड़ सुपूतोंने इस प्रेम-पथपर पैर रखा, उन्हें लाखों मुसीबतें झेलनी पड़ीं। कथनी और करनीमें पृथिवी और आकाशका अन्तर है। कबीर साहब कहते हैं—

> कथनी मीठी खाँड़-सी, करनी विपकी लोय।
> कथनी तजि करनी करै, विपसे अम्मृत होय॥

वही कुछ कर गुज़रता है, जिसे बातें बनाना नहीं आता, सर देना आता है। जो अपनी खुदीको किसी लगनकी आगमें जला जानता है, वही यह देशकी होली खेल जानता है। मौतको छातीसे लगाना हममेंसे आज कितने जानते हैं? अपने पवित्र रक्तसे भक्तिपूर्वक प्यारी माताके पाद-पद्म पखारना हमने अभी सीखा ही कहाँ है? रक्त-दान माताको अभी दिया ही कितनोंने है?

माँके एक पगले लडकेने उसके पैरोंपर अपनी रक्ताञ्जलि चढ़ाते समय, उस दिन,कहा था—

"मुझ-जैसे गरीब और मूर्ख पुत्रके पास तेरी भेंटके लिए माँ! अपने रक्तके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? सो अब इसे ही तू स्वीकार कर।"

धन्य तुझे, कोई कुछ कहे, तू तो अमर हो गया—
फटे हुए माताके अंचलको बढ़कर सीनेवाले!
तुझे बधाई है, ओ पागल! मरकर भी जीनेवाले!

ऐसे उन सभी लालोंको बधाई है, जिन्होंने फाँसीकी रँगीली रस्सी चूमकर प्यारी मौतको छातीसे लगाया है। वे सारे कोहनूर अनन्त कालतक माताके ताजमें जड़े रहेंगे। वे मुक्ति न चाहेंगे। उनकी कामना तो यह है, कि वे बार-बार भारत माताकी ही गोदमें जन्म लें और उसीकी सेवा करते हुए प्राण-पुष्पाञ्जलि चढ़ाया करें। उनके मरघटोंसे प्रेमकी लपट सदा उठा करे, उनकी क़ब्रोंकी मिट्टीसे हुब्बेवतनकी ख़ुशबू आया करे—

दिलसे निकलेगी न मरकर भी वतनकी उल्फ़त;
मेरी मिट्टीसे भी ख़ुशबूए वफ़ा आयेगी।

जहाँकी भी मिट्टीसे यह देश-प्रेमकी खुशबू आ रही हो, वह जगह किस काशी या क़ाबेसे कम है? सच्चा तीर्थ-स्थान वही है, जहाँ किसी देश-प्रेमीने अपनी मातृ-भूमिपर प्राणोंके पवित्र

पुष्प चढ़ाये हों। अमर शहीदोंके इन तरण-तारण तीर्थोंकी महिमा कौन गा सकता है? धन्य है वह पथ, जिसपर हो वे देशके मतवाले लाल मातृ-भूमिपर शीश चढ़ाने जाते हैं। एक पुष्पकी अभिलाषा देखिए—

चाह नहीं, मैं सुर-बालाके गहनोंमें गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी-मालामें बिंध प्यारीको ललचाऊँ।
चाह नहीं, सम्राटोंके शवपर, हे हरि डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवोंके शिरपर चढ़ूँ, भाग्यपर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना वनमाली! उस पथमें देना तुम फेंक,
मातृभूमिपर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक॥

—भारतीय आत्मा

हमें चाहिए कि और नहीं तो कभी-कभी दो बूँद आँसू तो उन स्मशानोंपर, उन क़ब्रोंपर चढ़ा दिया करें। उन क़ब्रोंपर हमारा वह रोना ऐसा हो, जो औरोंको भी रुला दे। हम बेकस और कर ही क्या सकते हैं—

हर दर्दमंद दिलको रोना मेरा, रुला दे,
बेहोश जो पड़े हैं, शायद उन्हें जगा दे।

—एक़बाल.

प्रेम-महिमा

सकी वाणीमें सामर्थ्य है, जो हे जगदाराध्य प्रेमदेव! तेरी अवर्णनीया महिमाका यथार्थ गायन गा सके? धन्य है तेरी अनिर्वचनीय गाथा! धन्य है तेरे अतर्क्य और अचिन्त्य रहस्य! धन्य है तेरी अतुलनीय शक्ति! कौन कह सकता है तेरी अकथनीय कथाको?

जो आवै तौ जाय नहिं, जाय तौ आवै नाहिं।
अकथ कहानी प्रेमकी, समुझि लेहु मनमाहिं॥

श्रीकृष्ण-सखा उद्धव सुरेन्द्र-गुरु बृहस्पतिके शिष्य थे। महान् तत्त्वज्ञानी थे। उन्हें अपने प्रकाण्ड दार्शनिक ज्ञानका अखण्ड अभिमान था। गर्व-गंजन गोपाल कृष्णने अपने तत्त्ववेत्ता मित्रसे प्रसंगवश एक दिन कहा, कि, भाई! मेरे वियोगमें अत्यन्त व्याकुल ब्रज-वासियोंको ज्ञानोपदेश देकर क्या तुम उनकी विरह-व्यथा दूर न कर सकोगे? मेरा तो विश्वास है, कि तुम अवश्य ही उन गँवार गोप-गोपियोंके डावाँडोल चित्तको मेरी ओरसे हटाकर परमार्थमें लगा दोगे। सो—

उद्धव ! यह मन निश्चय जानो ।
मन क्रम वचन मैं तुम्हैं पठावत, ब्रजकों तुरत पलानो ॥
पूरनब्रह्म, सकल, अविनासी, ताके तुम हौ ज्ञाता ।
रेख न रूप, जाति कुल नाहीं, नहिं जाके पितु-माता ॥
यह मत दै गोपिनुकों आवहु, विरह-नदीमें भासति ।
'सूर' तुरत यह जाय कहौ तुम, 'ब्रह्म बिना नहिं आसति ॥'

अब, विलम्ब करनेका समय नहीं है। विरह-नदीमें मेरे प्यारे ब्रज-वासी डूबते जा रहे होंगे। सो, भैया, दया करके उन सांसारिक मूढ़जनोंको अपने ज्ञानोपदेशका अवलम्ब देकर शीघ्र ही बचा लो। जाकर उनसे कहो, कि बिना ब्रह्मात्मैक्यके मुक्ति प्राप्त न हो सकेगी। द्वारिकाधीशके द्वारा प्रोत्साहित होकर अपने अगाध तत्त्व-ज्ञानमें विमग्न महात्मा उद्धव ब्रज-वासियोंको पट्ट शिष्य बनाने चले। ब्रज-देशमें आपका स्वागत तो अच्छा हुआ, पर आपके महँगे तत्त्व-ज्ञानको किसीने साग-पातके भी मोल न खरीदा ! बड़ी फजीहत हुई। आये थे औरोंको मूँड़ने, पर खुद ही मुँड़ चले ! अबलाओंके निर्बल प्रेमने आपके प्रबल प्रचंड ज्ञानको पछाड़ दिया। गोपियाँ ज्ञानिराज उद्धवसे कहती हैं—

जो कोउ पावै सीस दै, ताकौ कीजै नेम।
मधुप, हमारी सौं, कहौ, जोग भलौ किधौं प्रेम ?
प्रेम प्रेम सों होय, प्रेम सों पारहिं जैये।
प्रेम बँध्यौ संसार, प्रेम परमारथ पैये ॥

एकै निहचै नेम कौं, जीवन मुक्ति रसाल।
साँचो निहचै प्रेम कौ, जो मिलिहैं नँदलाल॥

यह सिद्धान्त सुनकर दर्शन-केसरी उद्धवका जो हाल हुआ, उसे आँधरे सूरके ही मार्मिक शब्दोंमें सुनिए—

सुनि गोपिनु कौ प्रेम, नेम ऊधो कौ भूल्यौ।
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजनमें, फूल्यौ॥
छन गोपिनुके पग धरै, धन्य तिहारो नेम।
धाय-धाय द्रुम भेंटहीं, ऊधो छाके प्रेम॥
उपदेसन आयौ हुतो, मोहिं भयौ उपदेस।
ऊधो जदुपति पै गये, किये गोपकौ भेस॥

ज्ञानि-श्रेष्ठ उद्धव प्रेम-विश्व-विद्यालयसे प्रेमीकी डिगरी हासिल करके श्रीकृष्णके सम्मुख, देखिए, अब किस रूपमें उपस्थित हो रहे हैं—

गोकुल कौ सुख छाँड़िकैं, कहाँ बसे हौ आय?
कृपावन्त हरि जानिकैं, ऊधो पकरे पाय॥
देखत ब्रज कौ प्रेम, नेम कछु नाहिंन भावै।
उमड़्यौ नैननि नीर, बात कछु कहत न आवै॥

धन्य, उद्धव, धन्य!

'सूरस्याम' भूतल गिरे, रहे नयन-जल छाय।

अब, तनिक, नन्दनन्दनका ताना, सुनिए, कैसा दे रहे हैं—

पोंछि पीतपट सों कह्यौ, 'आये जोग सिखाय ?'

कहो, भैया, उन गँवार व्रज-वासियोंको योग-विद्यामें पारंगत करके आये हो न ? देवगुरु ! चेले-चेलियोंने दक्षिणा क्या दी है ? कितनी ऊँची और गहरी है प्रेम-तत्त्वकी महिमा !

× × × ×

यह रस-विहीना रसना प्रेम-रसकी महिमा गाकर ही सरसा हो सकेगी। प्रेम-रसका एक बिन्दु धारण करके ही रत्न-गर्भा वसुमती 'रसा' नामसे अलंकृता हो सकी है। फिर क्यों न प्रेम-महिमाको हम अनिर्वचनीय कहें ? हमारे सहृदयवर सत्यनारायणकी यह सूक्ति कितनी सच्ची और सरस है—

अगम अनिर्वचनीय, परे जासों कछु बस ना ;
बरनत रस रमनीय रहत रसनामें रस ना।
अचला अवसि रतन-गर्भा वसुमती सुहावति ;
किन्तु प्रेम-रस-रती धारि यह रसा कहावति ॥

यदि यह अचला पृथिवी प्रेम-रससे यदा-कदा सिंचती न रहती, तो अबतक इसमें सरसताका कहीं पता भी न चलता। कभीकी जल-बलकर राख हो गई होती। किन्तु कुछ लोगोंकी धारणा इसके बिल्कुल विपरीत है। वे प्रेमको सरस शीतल न कहकर अग्निकी भाँति दाहक बता रहे हैं। क्या उनका कथन असत्य है ? नहीं, सच है। प्रेम-ज्वालामें जो जल चुका है,

उसे ज्वालामुखीकी भी अग्नि चन्दनके समान ठण्डी जान पड़ती है। धन्य है प्रेमाग्निमें जला हुआ प्यारा प्राणी !

जेहि जिउ प्रेम, चँदन तेहि आगी। प्रेम-विहून फिरै डर भागी॥
प्रेम कै आगि जरै जो कोई। दुख तेहिकर न अँविरथा होई॥

—जायसी

श्रीरामके प्रेममें दग्धा जनक-तनया सीताको जला देनेकी किस अग्निमें शक्ति थी ? लक्ष्मणकी रची हुई वह चिता माता मैथिलीके प्रेम-स्पर्शसे क्या चन्दनके समान शीतल न हो गई थी ? सच है, जो प्रेमकी परीक्षामें उत्तीर्ण हो चुका, उसकी दृष्टिमें अग्नि-परीक्षाका कुछ भी महत्त्व नहीं रह जाता। भाई, प्रेमाग्निका दाह दुःखदायी नहीं, किन्तु सुखदायी होता है, अहा ! उस आगकी जलन भी कितनी ठण्डी होती है !

× × × ×

उसे पानेके और भी तो अनेक उपाय हैं, पर सबसे सच्चा, सबसे ऊँचा और सबसे सरल साधन तो एक प्रेम ही इस जगत्में है। प्रेम साधन भी है और साध्य भी है, क्योंकि ईश्वर भी तो प्रेमरूप ही है। इसीसे तो उसकी महिमा असीम और अनन्त है। कैसे कहूं उसे ! यद्यपि वह अनिर्वचनीय है, तथापि कुछ-न-कुछ तो उसपर कहा ही है—

तदपि कहे बिनु रहा न कोई।

इस न्यायसे इस अधम अनधिकारी लेखकने भी, अपनी

उस 'अनुराग-वाटिका' में, प्रेम-साधनके महत्त्वपर कुछ यों ही लिख डाला है, आपका बहुमूल्य समय नष्ट तो अवश्य होगा, पर आपके अभिमुख उस पदको उपस्थित करनेके अर्थ मन अधीर-सा हो रहा है। विश्वास है, आप मेरे इस दुस्साहसपर मुझे अवश्य क्षमा-प्रदान कर देंगे—

साधन आन प्रेम-सम नाहीं।
साँचेहुँ याकी सरि न मिली कहुँ भुवन चतुर्दस माहीं॥
याकों परसि द्रवत उर अन्तर, बहति ब्रह्म-रस-धारा।
होत पुनीत पुन्य जीवन यह, मिलत अनन्द अपारा॥
ज्ञान, जोग, तप, कर्म, उपासन, साधन सुकृत घनेरे।
भये जाय सब नेह-नगरमें बिन दामनके चेरे॥
अन्य सबै साधन, मेरे मत, मारग कुटिल कँटीले।
राज-डगर 'हरि' प्रेम, चलत जहँ स्याम-सुरूप-रँगीले॥

प्यारेकी उस नगरी तक पहुँचा देनेवाला प्रेम ही एक राज-मार्ग है। इस संसार-सागरसे तार देनेवाला प्रेम ही एक कुशल कर्णधार है। भैया, प्रेम ही यहाँ नैया है और प्रेम ही उसका खेवैया है। मित्रवर 'रज' ने अपनी 'प्रेम-सतसई' में लिखा है—

बिना प्रेम भव-सिंधु 'रज' को करिहै निरवार।
प्रेम-नाव पर जो चढ़ै, प्रेम लगावै पार॥
प्रेम प्रेमकी नाव 'रज' प्रेमहि खेवनहार।
प्रेम-चढ़े भव-सिंधु तें, प्रेम लगावै पार॥

अतएव प्रेम ही समस्त साधनोंका शिरोमणि है। बिना इस साधनके अन्य सर्व साधन निष्फल हैं। कोई कैसा ही चतुर हो, कैसा ही ज्ञानी हो, कैसा ही रसिक हो, किन्तु यदि वह प्रेमी नहीं है, तो उसका चातुर्य्य, उसका ज्ञान और उसकी रसिकता व्यर्थ है। कहा है—

परम चतुर पुनि रसिकवर, कैसोहू नर होय।
बिना प्रेम रूखो लगै, बादि चतुरई सोय॥

—रसखानि

अखिल ब्रह्माण्ड परमात्माके अधीन है, और परमात्मा प्रेमके अधीन है। भगवान्‌ने प्रेमको स्वयं अपनेसे भी बड़ा माना है। प्रेमकी महिमा मनुष्य तो क्या, स्वयं देवाधिदेव भगवान् हरि भी नहीं गा सकते—

हरिके सब आधीन हैं, हरी प्रेम-आधीन।
याहीतें हरि आपुहीं, याहि बड़प्पन दीन॥

—रसखानि

प्रेममय भगवान्‌का इस प्रेममयी सृष्टिमें नित्यविहार हो रहा है। प्रेम हरि-रूप तो है ही, हरिसे कुछ बड़ा भी है। जैसे 'राम न सकहिं नाम-गुन गाई' कहा गया है, वैसे ही 'ब्रह्म न सकहि प्रेम-गुन गाई' भी हम कह सकते हैं। ब्रह्म प्रेमसे ही उत्पन्न होता है न? ब्रह्मरूपी कार्यका कारण प्रेम ही है न? तब उसे हम तुम्हारे ब्रह्मसे बड़ा क्यों न मानें? उसके 'ब्रह्म-जंनकत्व' का क्या आप प्रमाण चाहते हैं? अच्छा, लीजिए प्रमाण—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेमतें प्रगट होहिं मैं जाना।

—तुलसी

प्रह्लादके प्रेमने ही तो नृसिंह भगवान्‌को उस पत्थरके खम्भे-से प्रकट किया था। कितना प्रबल न होगा उस बालभक्तका प्रेम!

सेवक एक-तें-एक अनेक भये 'तुलसी' तिहुँ तापन-डाढ़े।

प्रेम बदौं प्रहलादहि को, जिन पाहनतें परमेसुर काढ़े॥

गोसाईंजीके मतसे 'मूर्ति-पूजा' का श्रीगणेश उसी दिनसे हुआ—

प्रीति प्रतीति बढ़ी 'तुलसी' तबतें सब पाहन पूजन लागे।

× × × ×

मौलाना रूम प्रेमकी महिमाका गान करते हुए कैसे मस्त हो रहे हैं! कहते हैं—

"ऐ मेरे इश्क़, तू खुश रह, क्योंकि मुझको तुझसे आराम मिलता है। तू ही मेरा सौदा है, दिन-रातका काम है। ऐ मेरी हर बीमारीके इलाज! तू खुश रह, मुझ पर कृपा-दृष्टि बनाये रख; तू ही मेरा वैद्य है, बीमारियोंसे प्राकृतिक संस्कारों-से तू ही छुटकारा दिलानेवाला है। ऐ मेरे प्यारे इश्क़! तू मेरे लिए अफ़लातून और जालीनूस है। मेरी तरफ़ आ और मुझे तन्दुरुस्त बना। × × × × तेरे घोड़ेपर सवार होकर ज़मीनकी खाक भी आसमानकी सैर करती है। तेरा इशारा पाकर ही पर्वत नाचने लग जाते हैं।" *

* मौलाना रूम और उनका काव्य।

ऐसी है प्रेमकी महिमा। अनन्त महिमामय है वह साधक, जो प्रेमकी साधना किया करता है। प्रेमी ही पुरुषोत्तम है—

ज्ञान ध्यान मद्धिम सबै, जप तप संजम नेम।
मान सो उत्तम जगत जन, जो प्रतिपारै प्रेम॥

—रसमान

आओ, अब हमलोग प्रेमी हरिश्चन्द्रके साथ प्रेमकी बधाई गाकर अपनी-अपनी रसनाको पवित्र करें—

सब मिलि गाओ प्रेम-बधाई।
यहि संसार रतन इक प्रेमहि, और बादि चतुराई॥
प्रेम बिना फीकी सब बातें, कहहु न लाख बनाई।
जोग ध्यान जप तप व्रत पूजा, प्रेम बिना बिनसाई॥
हाव-भाव रस-रङ्ग रीति बहु, काव्य-कला-कुसलाई।
बिना लोन बिंजन सो सबही, प्रेमरहित दरसाई॥
प्रेमहि सों हरिहू प्रगटत हैं, यदपि ब्रह्म जग-राई।
तासों यहि जग प्रेम सार है, और न आन उपाई॥

गीताप्रेस गोरखपुरकी पुस्तकें

१-श्रीमद्भगवद्गीता-मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारणभाषा-टीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्मविषय-सहित, मोटाटाइप, मजबूत कागज, सुन्दर कपड़ेकी जिल्द, ४ रंगीन चित्र ५७०पृष्ठ १।)

२- ,, मोटा कागज, बढ़िया जिल्द २)

३-श्रीमद्भगवद्गीता-प्रायः सभी विषय १।) वालीके समान, एक विशेषता, श्लोकके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ, साइज और टाइप कुछ छोटे पृष्ठ ४६८ मूल्य ॥≈) सजिल्द ॥≈)

हिन्दीमें अपने ढंगकी सबसे सस्ती

श्रीमद्भगवद्गीता

श्लोक और साधारण भाषाटीकासहित ३५२ पृष्ठकी शुद्ध छपी और अच्छे कागजकी सचित्र कवर। पुस्तकका दाम सिर्फ ≈)॥ सजिल्द ≋)॥

श्रीमद्भगवद्गीता

केवल भाषा मोटे अक्षरोंमें

उन लोगोंके लिये, जो संस्कृत श्लोक नहीं पढ़ सकते, एक तिरंगे चित्रसहित, दाम ।) सजिल्द ।≈)

श्रीमद्भगवद्गीता

मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, चार चित्र, सजिल्द १३२ पृष्ठका दाम ≈)

क

श्रीमद्भगवद्गीता

मूल, मोटा टाइप, एक तिरंगा चित्र।=) सजिल्द ।≤)

श्रीमद्भगवद्गीता

तावीजी साइज, सजिल्द २९६ पृष्ठ आकार २×२ ½ इञ्च दाम≥)

गीता-डायरी *

जिसमें अमूल्य शिक्षाएं, सरकारी विभागके मुख्य मुख्य नियम, गीताके श्लोक, (हिन्दी अंग्रेजी वंगला) तिथियाँ, हिन्दू पर्व और व्यावहारिक गणितके कुछ चुने हुए हिसाब हैं। मूल्य।) सजिल्द।=)

तत्त्वचिन्तामणि (सचित्र)

इसके लेखक श्रीजयदयालजी गोयन्दका हैं, पृष्ठ-संख्या लगभग चारसौ, छपाई सफाई सुन्दर। इसमें भक्ति, ज्ञान, निष्काम कर्म आदि विषयोंपर तात्त्विक दृष्टिसे विचार प्रकट किये गये हैं। मूल्य ॥।=) सजिल्द १)

(क) यह धर्म, कर्म, ज्ञान, भक्ति, वैराग्यके विषयोंपर गंभीर विचारोंसे भरी हुई पुस्तक है। केवल एक इसी पुस्तकको पढ़कर उसपर मनन करनेसे मनुष्यको अपने कर्तव्य और जीवनके उद्देश्यका ज्ञान भलीभाँति हो सकता है।

—हरीरामजी पाण्डेय एम० ए०,
धर्मशिक्षक, काशी हिन्दू-विश्व-विद्यालय

---

* डायरी खरीदनेवालोंको एक प्रकारसे डायरीहीके दाममें गीता विना दाम मिल जाती है। यह प्रत्येक वर्ष अंग्रेजी मासके जनवरी महीनेसे निकलती है।

ऐसी सुन्दर उपादेय पुस्तक प्रत्येक हिन्दूके घरमें रहनी चाहिये। 'आनन्द' लखनऊ

मानव-धर्म

इसके लेखक श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार, 'कल्याण' सम्पादक हैं। भगवान् मनु-कथित धर्मके दश मूल तत्त्वोंपर व्यावहारिक व्याख्या की गयी है। पुस्तक अत्यन्त उपादेय है। पृष्ठ-संख्या ११२ मूल्य ≡)

भजन-संग्रह

इसमें गोस्वामी तुलसीदासजी, म० सूरदासजी, म० कबीरजी और मीराबाईजीके सुन्दर चुने हुए नित्य गाने योग्य पदोंका संग्रह है। पृष्ठ-संख्या २१६ मूल्य ≠)

साधन-पथ

इसके लेखक भी श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार हैं। साधकोंके लिये बड़े ही कामकी पुस्तक है। साधनके विघ्न, उनसे बचनेके उपाय, साधनके सहायक तत्त्व, साधनके भिन्न भिन्न मार्ग आदि सभी आवश्यक विषयोंपर बड़े महत्वका प्रकाश डाला गया है। पृष्ठ-संख्या ८० मूल्य ≈)॥

नई पुस्तकें छप रही हैं।

(१) गीता गुजराती अनुवादसहित।

(२) गो० तुलसीदासजी-कृत विनयपत्रिका भावार्थसहित।

अन्यान्य पुस्तकें

- श्रीधर्मप्रश्नोत्तरी ... =)
- हरेरामचौदहमाला सजिल्द ।-)
- गीताका सूक्ष्म विषय पाकेट साइज ... ... -)।
- गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम-कर्मयोग ... -)॥
- सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय ... -)॥
- मनुस्मृतिका दूसरा अध्याय (भाषाटीका) -)॥
- श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश सचित्र -)
- त्यागसे भगवत्प्राप्ति सचित्र -)
- भगवान् क्या हैं? ... -)
- ब्रह्मचर्य ... ... -)
- समाजसुधार .. -)
- विष्णुसहस्रनाम मोटाटाइप)॥।
- श्रीहरेरामभजनपुस्तक ...)॥।
- बलिवैश्वदेवविधि ...)॥
- संध्या (हिन्दी विधिसहित))॥
- प्रश्नोत्तरी शंकराचार्यकृत (भाषाटीका)... ...)॥
- गीता केवल दूसरा अध्याय भाषा टीका सहित)।
- धर्म क्या है? ...)।
- दिव्यसन्देश हिन्दी, मराठी, बंगला प्रत्येकका मूल्य ...)।
- पातञ्जलयोगदर्शन मूल)।
- गजलगीता ... आधा पैसा
- लोभमें पाप है आधा पैसा
- पत्रपुष्प सचित्र भजनपुस्तक =)॥
- मनको वशमें करनेका उपाय सचित्र -)।

कल्याणका भगवन्नामांक सचित्र पृष्ठ ११० १।)

(कल्याणकी मांग अलग लिखिये)।

कल्याण

(भक्ति ज्ञान वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र)

वार्षिक मूल्य ४=)

कौन क्या कहते हैं:—

"...मैं इसके भक्ति-विषयक लेखोंको पढ़कर जिस आनन्द-की प्राप्ति करता हूं, उसका अनुभव मेरा हृदय ही कर सकता है।...ईश्वर करे यह सबका कल्याण साधन करे.........।"

—हिन्दीके आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी।

"....कल्याणने निकलकर हिन्दी-साहित्यके एक बड़े अङ्ग-की पूर्ति की है, अबतक धर्म और दर्शन-विषयक इतना सुन्दर और सुसम्पादित पत्र जहांतक मैं जानता हूं, कोई न था।......"

—रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा।

"हिन्दीके अध्यात्म-ज्ञान और भक्ति-क्षेत्रमें 'कल्याण' जो कार्य कर रहा है वह अनुपमेय है। अपने विषयका यह बिल्कुल अनोखा पत्र है। सुन्दर लेख-चयन और अच्छी छपाई-सफाईके साथ साथ विज्ञापन न छापनेके आदर्शका पालन करते तथा प्रतिवर्ष एक इतना सुन्दर विशेषांक निकालते हुए भी वह सिर्फ ४=)वार्षिकमें अपने पाठकोंके हृदयमें भक्ति,ज्ञान और वैराग्यकी जो सुरसरि बहाता है वह सर्वथा प्रशंसनीय है × × × आशा है कि हिन्दीके पाठक ऐसे अच्छे पत्रको खूब अपनायेंगे। ('प्रताप' कानपुर)

'कल्याण' हिन्दी-साहित्यमें भक्तिका पवित्र स्रोत बहानेका सफल उद्योग करनेवाला प्रथम मासिक है। इसके लेखोंमें स्फूर्ति होती है—हृदयपर तन्मयताकी बेहोशी छिड़कनेका एक अजीब मस्ताना रंग होता है। ('कर्मवीर' खंडवा)

गीताङ्क

पृष्ठ-संख्या ५०६ चित्र-संख्या १७० मूल्य २॥≈) सजिल्द ३≈) डाक महसूलसहित।

(क) बड़ा सुन्दर संग्रह है, खूब प्रचार होना चाहिये।

—महामना पं० मदनमोहन मालवीय

(ख) गीतांककी मनोहर चित्रावली, सुन्दर छपाई और बहुमूल्य लेखोंका मुझपर बहुत ही प्रभाव पड़ा।

—Otto strauss
प्रोफेसर ब्रेसलाउ युनिवरसिटि, जर्मनी

(ग) गीतांकको देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, मैंने ऐसी आशा नहीं की थी। बड़ा ही सुन्दर ग्रन्थ निकला है, भारतीय कल्याणसन्देशके प्रेमियोंके लिये निश्चय ही यह एक सुन्दर साथी है।

—एफ०ओ०श्राडर, प्रो०कील युनिवरसिटि, जर्मनी

(घ) गीतांक बड़ा सुन्दर है, छपाई सफाई मनोहर है, यह प्रत्येक घरमें रहना चाहिये। मैं कह नहीं सकता कि मेरे लिये यह कितने कामकी वस्तु होगी। —

महामहोपाध्याय पं०गंगानाथजी झा वाइस चैन्सलर, इलाहाबाद युनिवरसिटि

(ङ) कल्याणका श्रीमद्भगवद्गीताङ्क मिला। मैं कृतार्थ हो गया, आपने अपूर्व ग्रन्थरत्न निकाला। बड़ा ही विराट् और आश्चर्य-जनक आयोजन किया......।

—आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी

(च) भगवद्गीतांक मिला, अति शोभायमान और परिष्कृत लखोंका संग्रह, विविध और रुचिकर......।

—डा० भगवानदासजी एम०, ए० डि० लिट्

(छ) सुप्रसिद्ध और विशेषज्ञ विद्वानोंके सुचिन्तित सरल प्रबन्ध और सुललित कविताओंद्वारा गीताशास्त्रका अति गम्भीर रहस्य, जनसमूहके हृदयङ्गम करवाना इस अङ्कका मुख्य उद्देश्य है, यह उद्देश्य पूर्णरूपसे सफल हुआ है इसमें कोई सन्देह नहीं।

—महामहोपाध्याय पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण

(ज) भगवद्गीतांकमें आपने गीतासाहित्यकी सूची प्रकट करके गीताके अभ्यासियोंको बड़ा सुभीता कर दिया है। सुयोग्य, विद्वत्तापूर्ण और धर्म-प्रेमी कलमसे लिखे हुए लेखोंसे तो अंक सुशोभित है ही।

—काका कालेलकर

(झ) अङ्क देखकर मुझे आश्चर्य हुआ कि इतना बृहत् आकार होनेपर भी लेख प्रायः सभी उत्तम संगृहीत हुए हैं। मैं इस अङ्कको अति उपयोगी समझता हूं।

—महामहोपाध्याय पं० गिरधरजी शर्मा चतुर्वेदी

श्रीगीता-परीक्षा-समिति, बरहज

श्रीगीता ही एक ऐसी पुस्तक है, जिसको प्रायः सभी आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने गीताद्वारा धार्मिक शिक्षाके अभावको दूर करनेका निश्चय किया है, समितिने परीक्षाके अभ्यासक्रमका और पुरस्कारादिका भी प्रबन्ध किया है। परीक्षा लेनेके लिये स्थान स्थानपर केन्द्र भी स्थापित किये जाते हैं। इस वर्ष सब ८३ केन्द्र बने हैं जिनमें हजारसे अधिक परीक्षार्थी थे। अपने अपने यहां केन्द्र खोलकर सभी गीता-प्रेमियोंको गीता-परीक्षाकी व्यवस्था अवश्य करनी चाहिये। विशेष जानकारीके लिये, 'श्रीगीता-परीक्षा-समिति' बरहज, जिला गोरखपुरसे लिखापढ़ी करें।—संयोजक